पाठशाला
भीतर और बाहर

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

वर्ष-1 अंक-2 फरवरी 2019

पाठशाला
भीतर और बाहर

फरवरी, 2019 (वर्ष 1, अंक 2)

- **सम्पादक मण्डल**
  हृदयकान्त दीवान
  मनोज कुमार
  गौतम पाण्डेय
  सी. एन. सुब्रह्मण्यम्
  अभय कुमार दुबे
- **कार्यकारी सम्पादक**
  गुरबचन सिंह
  रजनी द्विवेदी
- **सम्पादकीय सहयोग**
  अनिल सिंह
- **विशेष सहयोग**
  प्रदीप डिमरी
  रंजना सिंह

- **प्रकाशक**
  Azim Premji University
  अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
  पिक्सल बी, पी.ई.एस. कैम्पस
  होसुर रोड, इलेक्ट्रानिक सिटी
  बैंगलूरू-560100
  Web: www.azimpremjiuniversity.edu.in
- **प्रकाशन स्थल**
  अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन
  प्लॉट नं. 321 - 322, ई-8, अरेरा कालोनी, पंजाब नैशनल बैंक के पीछे, फार्च्यून प्राईड सोसाइटी के पास, त्रिलंगा, भोपाल, मध्य प्रदेश - 462039
  फोन नं. 0755 4074060, ई-मेल : pathshala@apu.edu.in
- **लेआउट / डिज़ाइन**
  गणेश ग्राफ़िक्स, देशबंधु काम्प्लेक्स, भोपाल
- **आवरण चित्र**
  शिल्प पटल : गुरू और शिष्य (मथुरा संग्रहालय)
  फोटो : सी एन सुब्रह्मण्यम्

पाठशाला भीतर और बाहर पत्रिका, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन का हिन्दी प्रकाशन है। यह शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों, अन्य ज़मीनी कार्यकर्ताओं व शिक्षा से सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए विचार-विमर्श का एक मंच है। पत्रिका का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों के अनुभवों व आवाज़ को जगह देकर शिक्षा के विमर्श को गहन व यथार्थपरक बनाना है।

अनुक्रम

सम्पादकीय 4

विमर्श

1. फ़ेल न करने की नीति की समाप्ति : बयानबाज़ी बनाम वास्तविकता / दिव्या दुबे व मधु कुशवाहा 7
2. अंग्रेज़ी का 'अलौकिक साम्राज्य' / अभय कुमार दुबे 14
3. स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता : चाह, चुनौती और राहें / हृदयकान्त दीवान 26
4. बनवारीलाल माड़साब और उनके सवाल / मोहम्मद उमर 41

परिप्रेक्ष्य

5. सबके लिए शिक्षा : तस्वीर अभी धुँधली है / अनंत गंगोला 52
6. शिक्षण : कुछ छवियाँ / सी एन सुब्रह्मण्यम् 58
7. होशंगाबाद विज्ञान : सीख, समझ और अवसरों का पिटारा / प्रशांत कुमार दुबे 67
8. शिक्षण : तैयारी से कक्षा तक / राधेश्याम थवाईत 72

शिक्षणशास्त्र

9. बच्चे जो भाषा घर से लेकर आते हैं... / मदनमोहन पाण्डेय 78
10. क्या पढ़ने में चूक को गलतियाँ कहना जायज़ है? / भारती पंडित 82
11. बच्चों को प्रश्न पूछने से रोकिए ! / सुन्दर नौटियाल 87
12. अण्डे की मापजोख / मुकेश मालवीय 93

कक्षा अनुभव

13. दोस्ती चिट्ठी से... / अक्षय कुमार दीक्षित 100
14. कक्षा में बातचीत होने तो दीजिए! / सुनीता 106

साक्षात्कार

15. 'मैं शिक्षक रहा हूँ' इस बात का मुझे फ़ख़्र है (फूलचन्द्र जैन से गुरबचन सिंह की बातचीत) 113

पुस्तक चर्चा

16. आधी दुनिया को एक कमरे की तलाश / दीनानाथ मौर्य 120
17. भाषाओं के उद्गम और विकास की कहानी / अरुण चतुर्वेदी 123

शोध अध्ययन

18. समावेशीकरण और संसाधन के सवाल / सुकन्या बोस, प्रियन्तो घोष और अरविन्द सरदाना 136
19. संकुल की मासिक बैठकें / अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन रिसर्च टीम 151

संवाद

20. भाषा सीखने और सिखाने के आयाम 167

पत्रिका में छपे लेखों में व्यक्त विचार और मत लेखकों के अपने हैं।
अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का शैक्षणिक और गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है।
लेकिन इसके लिए लेखक एवं प्रकाशक से अनुमति लेना एवं स्रोत का उल्लेख अनिवार्य है।

सम्पादकीय

पाठशाला भीतर और बाहर का दूसरा अंक आपके सामने है। हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इस अंक के लिए और कुछ नए लेखक मिले। इनमें से बहुत से नए शोधकर्ता हैं और कई शिक्षक भी हैं। हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं में इस तरह के प्रयास न सिर्फ़ नए अनुभवों व उनके विश्लेषण को सामने लाते हैं वरन् स्कूलों में व अन्य स्थलों पर कार्य करने वालों को अपने कार्य पर मनन करने व उस पर अन्य लोगों की टिप्पणी व प्रतिक्रिया जानने का मंच भी प्रदान करते हैं। भारतीय भाषाओं में लिख पाने की स्वाभाविकता के कारण न सिर्फ़ लेखक लिखने के लिए, अपने अनुभव, विचार, विश्लेषण व समझ साझा करने के लिए अपने आपको प्रोत्साहित कर पाते हैं बल्कि उनके लिए लिख पाना भी शायद सहज हो जाता है। शिक्षा व समाज का रिश्ता बहुत स्थिर भी है और परिवर्तशील भी। इस स्थिरता व परिवर्तन को खँगालना व उन पर नए ढंग से विमर्श व मनन शुरू करना भी पाठशाला भीतर और बाहर का एक मक़सद है। हमें इस बात की बहुत खुशी है कि बहुत से लेख आए हैं और आ रहे हैं। फिर भी आप सब की ओर से और लेख आते रहें यह पत्रिका की बेहतरी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस अंक में जो लेख हैं उनका संक्षिप्त परिचय हम यहाँ दे रहे हैं, जिससे आप को इस अंक के कलेवर की झलक मिल पाए।

पत्रिका के इस अंक में 20 लेख हैं। स्तम्भ **विमर्श** में चार लेख हैं। पहले लेख में दिव्या दुबे और मधु कुशवाहा चर्चा करती हैं कि बच्चों के ना सीख पाने का सारा दोष बच्चे को 'कक्षा में नहीं रोकने या फ़ेल नहीं करने' के नियम पर मढ़ दिया जाता है जबकि सीखने के स्तर के कम होने के पीछे बहुत से अन्य कारण भी हैं। उन कारणों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है चूँकि न सीख पाने के लिए ये कारण ज़्यादा जिम्मेदार हैं। दूसरा लेख हृदयकान्त दीवान का है और उनके एक व्याख्यान को सम्पादित कर इस अंक में शामिल किया गया है। शिक्षक, शिक्षा व शिक्षातन्त्र की मौजूदा स्थिति की चर्चा करते हुये यह लेख कई ऐसे बिन्दु प्रस्तुत करता है जो न केवल शिक्षा के क्षेत्र, बल्कि समाज के अन्य क्षेत्रों में काम कर रहे नेतृत्वकर्ताओं और कार्यकर्ताओं के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। अभय कुमार दुबे का लेख कई स्रोतों का उल्लेख करते हुए अंग्रेज़ी द्वारा दुनिया पर वर्चस्व कायम करने की प्रक्रिया, और इस प्रक्रिया में लोगों के योगदान और इन योगदानों के पीछे के मक़सद की विस्तार से चर्चा करता है। मोहम्मद उमर शिक्षातन्त्र और उसमें एक शिक्षक की स्थिति के यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं और एक शिक्षक की ज़िन्दगी, उसके शिक्षकीय सफर की चुनौतियों, उसकी परेशानियों, शिक्षातन्त्र की उससे अपेक्षाओं के बारे में बात करते हैं। इन तमाम पहलुओं के बावजूद इस यथार्थ के चित्रण में शिक्षक के प्रति उनकी सहानुभूति भी झलकती है।

दूसरे स्तम्भ, **परिप्रेक्ष्य** में भी चार लेख हैं। दूसरा लेख सी एन सुब्रह्मण्यम् का है। शिक्षण से सम्बन्धित प्राचीन भित्ति चित्रों और शिल्प पटलों के सूक्ष्म अवलोकन और विश्लेषण के ज़रिए लेख में प्राचीन समय में मौजूद शिक्षण की धारणाओं को जानने और समझने की कोशिश है। लेख पढ़कर लगता है कि शिक्षा और शिक्षण की बहुत-सी तब मौजूद धारणाएँ आज भी वैसी ही बरकरार हैं। अनंत गंगोला अपने लेख में 'सबके लिए शिक्षा' का सपना पूरा हो पाए इस बारे में विचार करते हैं और कहते हैं कि इस सपने के पूरा करने के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपनी मौजूदा मान्यताओं, प्रक्रियाओं, संसाधनों को खँगालें । कक्षा में सीखने-सिखाने का कार्य बेहतर हो सके इसके लिए ज़रूरी है कि शिक्षक की अपनी तैयारी भी हो। राधेश्याम थवाईत का लेख शिक्षक की इस तैयारी के पहलुओं के बारे में बात करता है। उनके अनुसार शिक्षक की तैयारी में जिस ढाँचे के तहत हम शिक्षण करना चाहते हैं उसकी समझ अहम हैं। शिक्षक की तैयारी का गम्भीरता से किया गया प्रयास

ढाँचे को उपयुक्त बनाने में मदद कर सकता है। प्रशांत दुबे, अपनी स्कूली शिक्षा के दिनों को याद करते हुए विज्ञान शिक्षण में बेहतरी के एक कार्यक्रम का ज़िक्र करते हैं। इस कार्यक्रम के महत्त्वपूर्ण पहलूओं के रूप में वे बताते हैं कि स्वयं खोजना व आसपास की चीज़ों के सन्दर्भ में उस ज्ञान को उपयोग कर पाने की क्षमता इस कार्यक्रम का आवश्यक हिस्सा मानी जा सकती है। अपने व्यक्तिगत अनुभवों से वे उन कमियों की ओर इशारा करते हैं जो इस कार्यक्रम और ऐसे अन्य कार्यक्रमों को शायद व्यापक स्तर पर फैलने से रोकती हैं।

स्तम्भ **शिक्षणशास्त्र** में कुल चार लेख हैं। पहले दो लेख भाषा के दायरे से हैं। मदन मोहन पाण्डेय कहते हैं कि कक्षा में भाषा सीखने-सिखाने का कार्य करते हुए बच्चे की भाषाई क्षमताओं को जानना ज़रूरी हैं। उनका मानना है कि इनको ध्यान में रखते हुए, आधार बनाते हुए किया गया कक्षा शिक्षण ज़्यादा प्रभावी होगा। भारती पण्डित का लेख, पढ़ना क्या है, पढ़ने की प्रक्रिया कैसी होती है, इस प्रक्रिया में हुई गलतियों को गलतियाँ क्यों नहीं कह सकते, जैसे सवालों पर अपने अनुभवजनित विचार व विश्लेषण प्रस्तुत करता है। सुन्दर नौटियाल लेख में विज्ञान का उदाहरण लेकर बातचीत करते हैं पर यह सभी कक्षाओं के सन्दर्भ में उपयुक्त है। लेख रेखांकित करता है कि कक्षा में बच्चों को सवाल पूछने की आज़ादी देना न केवल उनके स्वयं के ज्ञान निर्माण में मदद करता है बल्कि साथ ही शिक्षक को भी सोचने-विचारने के बहुत मौके देता है। मुकेश मालवीय का लेख विज्ञान सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में हैं। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में हुए अपने एक अवलोकन को लेकर उनके मन में एक सवाल उठता है और फिर वे उस सवाल की व्यवस्थित पड़ताल करते हैं। वे कहते हैं ऐसे कई मौके हमारे सामने होते हैं जिनकी पड़ताल हम व बच्चे कर सकते हैं लेकिन हम उन्हें अनदेखा कर देते हैं।

कक्षा अनुभव स्तम्भ के अन्तर्गत दो लेख हैं। अक्षय दीक्षित द्वारा प्रस्तुत कक्षा अनुभव, भाषा जो सहज है उसकी सहजता को रखते हुए, समझकर अभिव्यक्त करने पर ज़ोर देता है। वे कहते हैं कि कक्षाओं में रटने पर काफी ज़ोर होता है और भाषा की कक्षा भी इससे इतर नहीं है, किसी रचना का प्रारूप हो अथवा व्याकरण के नियम, बस रट लेना है। पत्र लेखन का उदाहरण देते हुए वे बताते हैं कि रटने की इस प्रक्रिया से कैसे दूर हुआ जा सकता है। सुनीता का लेख भाषा शिक्षण में बातचीत की केन्द्रीय भूमिका के बारे में है। शुरुआती कक्षाओं में बच्चों के साथ हुए अपने अनुभवों का विवरण देते हुए वे बताती हैं कि कक्षा में बातचीत के मौके कैसे गढ़े जा सकते हैं। अपने लेख के अन्त में वे कक्षा में बातचीत की शुरुआत कैसे हो सकती है इसके लिए एक रूपरेखा भी देती हैं।

इस अंक में शामिल **साक्षात्कार**, शिक्षक फूलचन्द्र जैन का है, उनसे बात की है गुरबचन सिंह ने। फूलचन्द्र जैन अपने तीन दशक पहले के अनुभवों को आज के स्कूल के अनुभवों के साथ रखते हैं और अनुशासन की समझ, पालकों का शिक्षकों पर विश्वास और उनकी तैयारी जैसे मुद्दों पर बातचीत करते हैं। वे शिक्षकों को दिए जाने वाले पुरस्कारों व शिक्षक के लिए उनके महत्त्व के सन्दर्भ में भी बात करते हैं और कहते हैं कि असल में इन पुरस्कारों से शिक्षकों को कोई प्रेरणा नहीं मिलती।

आगे **पुस्तक चर्चा** स्तम्भ में दो पुस्तकों के बारे में चर्चा है। दीनानाथ मौर्य ने वर्जीनिया वुल्फ की किताब *अ रूम ऑफ वन्स ओन* के हिन्दी अनुवाद *'अपना एक कमरा'* पर चर्चा की है। आज से लगभग 80-90 साल पहले स्त्री विमर्श पर प्रकाशित यह पुस्तक आज की सामाजिक स्थितियों में भी उतनी ही खरी है जितनी की तब थी। हाल ही में प्रकाशित श्रीश चौधरी की पुस्तक *भारत में विदेशी भाषाएँ* पर अरुण कुमार चतुर्वेदी द्वारा चर्चा की गई है। पुस्तक कई स्रोतों का इस्तेमाल करके एक लम्बे समय अन्तराल में हुए भाषाओं के विकास, उनमें परिवर्तन, समाज और भाषा

का तानाबाना आदि अन्य मुद्दों का विश्लेषण करने का प्रयास करती है और ऐसे कई मुद्दों पर भारतीय सन्दर्भ में कई महत्त्वपूर्ण पहलू उठाती है।

इस अंक में दो **शोध अध्ययन** शामिल हैं। पहला सुकन्या बोस, प्रियंतो घोष और अरविन्द सरदाना द्वारा 'शिक्षा के अधिकार अधिनियम' के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों के आकलन पर है। दूसरा अध्ययन अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन की रिसर्च टीम द्वारा किया गया है और इसमें यह जानने का प्रयास है कि संकुल स्तर पर होने वाली मासिक बैठकों में किस तरह की प्रक्रियाएँ और क्रियाकलाप हो रहे हैं और किस तरह ये बैठकें सेवारत शिक्षकों के पेशेवर विकास में सहयोग का मंच बन सकी हैं। आख़िर में हैं **संवाद** 'कक्षा में भाषा सीखने-सिखाने के पहलू'। इस विषय पर बहुत से मुद्दों पर बातचीत है; मातृभाषा किसे कहें, कक्षा में मातृभाषा के प्रयोग की स्वतन्त्रता, भाषा और पहचान, भाषाओं का विकास, उनका दर्जा आदि। लेकिन यह भी साफ़ है कि इन मुद्दों पर शिक्षकों की समझ में बहुत विरोधाभास हैं। वे मानते हैं कि मातृभाषा के प्रयोग से बच्चों में आत्मविश्वास, कक्षा से अपनापन जैसे पहलुओं पर प्रभाव पड़ता है। लेकिन फिर भी मातृभाषा के प्रयोग को वे एक हद तक ही मंज़ूरी देते हैं।

अन्त में यह कहना महत्त्वपूर्ण है कि जब पत्रिका निकालने की बात हुई थी और हमने पहले अंक पर काम शुरू किया था तो हमारे दिमाग में पत्रिका का स्वरूप सही ढंग से स्पष्ट नहीं था और हमें यह भी चिन्ता थी कि क्या हम हिन्दी में समाज व शिक्षा व उनके रिश्ते पर आधारित एक अकादमिक व मननशील पत्रिका रच भी पाएँगे की नहीं। पहले अंक में आए लेखों व छपने के उपरान्त पत्रिका पर मिली अनौपचारिक टिप्पणियों ने हमें बहुत उत्साहित किया है और पुनः दूसरे अंक के लिए भी हमें पर्याप्त लेख मिल गए हैं। किन्तु हमें लगता है कि और बहुत से लोगों में और भी नई बातें लिखने की सम्भावना है। हमारा मानना है कि बच्चों के साथ काम कर रहे शिक्षकों के साथ-साथ शिक्षा व शिक्षक के बारे में सोच रहे व उनके साथ कार्य कर रहे बहुत से और लोग पत्रिका के लिए लिखेंगे। हमारा प्रयास इसी दिशा में है। यह प्रयास रंग लाए और पत्रिका अपना मक़सद पा सके इसके लिए पाठकों और लेखकों से हमारा आग्रह है कि वे पत्रिका में छपने वाली सामग्री की समालोचना और सुझाव के लिए अपनी बेबाक राय दें।

सम्पादक मण्डल

फ़ेल न करने की नीति की समाप्ति बयानबाज़ी बनाम वास्तविकता

दिव्या दुबे एवं मधु कुशवाहा

विभिन्न स्वतन्त्र एजेंसियों के सर्वेक्षणों में स्कूली शिक्षा में अधिगम स्तर की गिरावट का चिन्ताजनक चेहरा उभारा गया है। इससे राज्यों को इस बात का अवसर मिला है कि वे शिक्षा अधिकार अधिनियम में मौजूद फ़ेल न करने की नीति को ज़िम्मेदार मानते हुए इसमें संशोधन की सिफारिश कर सकें। इस मसले पर आम समाज की एकजुटता और उनकी राय को भी इसमें शामिल किया जा सकता है, जो पहले ही 'सबके लिए शिक्षा' के प्रति उदार नहीं है। दिव्या और मधु का यह आलेख इस बात की ओर स्पष्ट इशारा करता है कि अधिगम स्तर में गिरावट के दूसरे महत्त्वपूर्ण कारणों पर गौर किए बिना सिर्फ फ़ेल न करने की नीति को कोसना अतार्किक और एकतरफा कार्यवाही होगी। सं.

पृष्ठभूमि

भारतीय समाज में व्याप्त असमानताओं की जड़ औपनिवेशिक शासन के दौरान तब और भी गहरी हुई जब उच्च जातीय, वर्गीय समूहों को औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली में शिक्षा पाने का अवसर मिला, और एक बड़े जनसमूह को शिक्षा के अवसर से वंचित रखा गया। तत्कालीन भारतीय समाज सुधारकों ने, जो भारत में पहले से ही व्याप्त सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए प्रयासरत थे, इस नई असमानता की व्यवस्था के प्रति चिन्ता व्यक्त की और इसे दूर करने के लिए जनसमूह के लिए भी समान शैक्षिक अवसरों की आवश्यकता महसूस की। इसके लिए ज्योतिबा फुले (1882), गोखले (1911) और गाँधी (1937) ने सरकार द्वारा सभी बच्चों को अनिवार्य और निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा देने की माँग की। साथ ही गाँधीजी ने औपनिवेशिक शिक्षा के स्थान पर नई राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की भी माँग की, क्योंकि औपनिवेशिक शिक्षा जन समूह की आवश्यकता के अनुसार न होकर अभिजात्य वर्गों के हितों की पूर्ति करने वाली थी, जो कि वंचित वर्गों की स्थिति में किसी भी प्रकार का सुधार लाने में अक्षम थी। लेकिन यह माँगें तत्कालीन औपनिवेशिक राजनीतिक उद्देश्यों के अनुरूप नहीं थीं, अतः इन्हें नहीं माना गया। इन माँगों का विरोध करने में भारतीयों का वह उच्च वर्गीय समूह भी शामिल था, जो उस समय शिक्षा से लाभान्वित हो रहा था और तत्कालीन शासन व्यवस्था में जिन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस प्रकार, शैक्षिक अवसरों की समानता की यह माँगें तत्कालीन राजनीतिक हितों की भेंट चढ़ गईं।

इसके कुछ समय के बाद भारत को आज़ादी मिली और भारत एक संप्रभु लोकतान्त्रिक गणराज्य घोषित हुआ, जिसने सामाजिक न्याय व समानता पर आधारित समाज की स्थापना की प्रतिबद्धता ज़ाहिर की। अतः यह उम्मीद की गई कि राज्य अब तक उच्च वर्गों के हितों का पोषण करती आई शिक्षा की परिवर्तनकारी भूमिका सुनिश्चित करेगा,जो वंचित वर्गों की ऊर्ध्वगामी गतिशीलता में सहायक हो, और ऐसी शिक्षा तक सबकी समान रूप से पहुँच सुनिश्चित कराएगा।

इस दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कार्य था अनिवार्य रूप से प्रारम्भिक शिक्षा का सार्वजनीकरण किया जाना और जनसमूह की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा प्रणाली का विकास किया जाना। लेकिन तत्कालीन शासन व्यवस्था ने, जिसमें उच्च वर्गीय जातीय समूहों का संकेन्द्रण था, सभी शैक्षिक प्रयासों में उच्च वर्गीय हितों को प्राथमिकता दी और वंचित वर्ग के लिए आवश्यक शैक्षिक प्रयासों की उपेक्षा की गई या उन्हें बेहद सतही ढंग से अंजाम दिया गया।

प्रारम्भिक शिक्षा का सार्वजनीकरण

अनिवार्य एवं निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की नितान्त आवश्यकता आज़ादी के पचास वर्ष पहले से ही महसूस की जाने लगी थी। स्वतन्त्र भारत के संविधान में इस लक्ष्य को 'राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त' में जगह दी गई। नीति निर्देशक तत्त्वों को लागू करना राज्य के लिए बाध्यकारी नहीं था, बल्कि उसकी सदिच्छा पर निर्भर था। हालाँकि इसको पूरा करने के लिए दस वर्ष का लक्ष्य रखा गया था, लेकिन इसे तय समय के अन्दर पूरा नहीं किया जा सका।

आज़ादी के 17 साल बाद पहली बार कोठारी आयोग ने प्रारम्भिक शिक्षा की स्थिति की जाँच की। उन्होंने पाया कि नामांकन दर बढ़ने के बावजूद प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सका था, जिसकी मुख्य वजह अपव्यय और अवरोधन की समस्या थी। इस समस्या के शिकार सबसे ज़्यादा वंचित वर्ग के विद्यार्थी ही थे।

इसके अलावा, जनसमूह की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रारम्भिक शिक्षा की एक राष्ट्रीय प्रणाली विकसित करने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा पर जल्द से जल्द व्यवस्थित रूप से विचार किया जाना आवश्यक था। लेकिन स्वतन्त्र भारत में जब शिक्षा के बारे में व्यवस्थित ढंग से विचार करने के लिए शिक्षा आयोगों का गठन हुआ तो, पहले दो आयोगों– राधाकृष्णन आयोग (1948-49) और मुदालियर आयोग (1952-53) ने क्रमशः उच्च शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा पर विचार किया, जो कि तत्कालीन उच्च मध्यम वर्ग की प्राथमिकता थी। वंचित वर्गों की प्राथमिकता, प्रारम्भिक शिक्षा, लम्बे समय तक उपेक्षित रही, जबकि इस पर तत्काल ध्यान दिया जाना ज़रूरी था।

आज़ादी के 17 साल बाद पहली बार कोठारी आयोग ने प्रारम्भिक शिक्षा की स्थिति की जाँच की। उन्होंने पाया कि नामांकन दर बढ़ने के बावजूद प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सका था, जिसकी मुख्य वजह अपव्यय और अवरोधन की समस्या थी। इस समस्या के शिकार सबसे ज़्यादा वंचित वर्ग के विद्यार्थी ही थे। प्रारम्भिक शिक्षा में अपव्यय से तात्पर्य था– 'विद्यार्थियों का स्कूल में दाख़िला लेना लेकिन आठवीं तक की शिक्षा पूरी करने से पहले ही विद्यालय छोड़ देना'। स्कूल छोड़ने की मुख्य वजह अवरोधन थी, जिसमें विद्यार्थियों को फ़ेल किए जाने की वजह से वे एक ही कक्षा में एक साल से अधिक रोक दिए जाते थे, या फिर फ़ेल होने की वजह से वे बीच में ही विद्यालय छोड़ देते थे।

कोठारी आयोग ने अपनी रिपोर्ट में अपव्यय और अवरोधन के सन्दर्भ में कहा, "यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि अपव्यय और अवरोधन, बुख़ार और सिरदर्द की तरह अपने आप में कोई बीमारी नहीं हैं बल्कि यह व्यवस्था में मौजूद अन्य बीमारियों के लक्षण हैं। इनमें मुख्य हैं– जीवन और शिक्षा के बीच उपयुक्त सम्बन्ध का न होना और स्कूल द्वारा विद्यार्थियों को आकर्षित करने और रोके रखने की क्षमता का अभाव।" इसके लिए आयोग ने जिन समस्याओं को ज़िम्मेदार माना, वे थीं : रोचक पाठ्यक्रम का अभाव; विद्यालय में शिक्षकों-शिक्षिकाओं का अभाव–

लिहाज़ा पाठ्यक्रम का पूरा न हो पाना; प्रशिक्षित शिक्षिकाओं-शिक्षकों का अभाव; उपयुक्त शैक्षिक सामग्रियों का अभाव; दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली व विद्यालय भवन का अभाव। आयोग ने इन्हें शीघ्रातिशीघ्र दूर किए जाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। इन सुधारों को सरकार द्वारा तुरन्त लागू किया जाना ज़रूरी था क्योंकि यह समस्याएँ मुख्य रूप से सरकारी विद्यालयों में पढ़ने वाले वंचित वर्ग के विद्यार्थियों को ही प्रभावित कर रही थीं। लेकिन यह स्पष्ट होता है कि सरकार ने इस दिशा में कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया क्योंकि 1986 तक बनी सभी शिक्षा नीतियों में इस समस्या पर ध्यान दिए जाने की बात बार-बार दोहरानी पड़ी, पर समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

नब्बे के दशक में, जब अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं के दबाव की वजह से सरकार के लिए प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का कार्य जल्दी पूरा किया जाना आवश्यक हो गया, तो सरकार ने इसमें आने वाली बड़ी चुनौतियों– अपव्यय व अवरोधन– से निपटने के लिए व्यवस्थागत सुधारों की बजाय सतही प्रयास ही किए। जो बच्चे (जिनमें मुख्य रूप से निम्न जाति, वर्ग, जनजातीय बच्चे, और विशेष तौर से लड़कियाँ थीं) विद्यालय से बाहर हो गए थे, उनके लिए निम्न स्तर की गुणवत्ता वाली अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की और यहाँ तक कि साक्षरता कार्यक्रमों को भी प्रारम्भिक शिक्षा का पर्याय मान लिया। इस प्रकार, सरकार द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के नाम पर ख़ुद को केवल संख्यात्मक प्रसार के संकीर्ण लक्ष्य तक सीमित कर लेने से वंचित व कमज़ोर वर्ग के बच्चे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। इन बच्चों के सामने सरकार ने दो ही विकल्प छोड़े थे– या तो वे विद्यालय से बाहर हो जाते थे या निम्न गुणवत्ता की शिक्षा प्राप्त करते थे। आज़ादी के 60 साल बाद भी असमानता की वह व्यवस्था बनी रही, जिसमें वंचित वर्ग के विद्यार्थियों को गुणवत्ता वाली औपचारिक शिक्षा पाने की सम्भावना बहुत कम थी।

सरकार द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के नाम पर ख़ुद को केवल संख्यात्मक प्रसार के संकीर्ण लक्ष्य तक सीमित कर लेने से वंचित व कमज़ोर वर्ग के बच्चे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। इन बच्चों के सामने सरकार ने दो ही विकल्प छोड़े थे– या तो वे विद्यालय से बाहर हो जाते थे या निम्न गुणवत्ता की शिक्षा प्राप्त करते थे।

सन् 1993 में उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्रप्रदेश मामले में सुप्रीम कोर्ट ने 14 साल तक के बच्चों की निःशुल्क शिक्षा को उनका मूल अधिकार बताया, जो मौजूदा प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण बदलाव लाने वाला सिद्ध हुआ। इस फैसले के आधार पर वर्ष 2002 में संविधान में संशोधन करके छह से चौदह वर्ष तक के बच्चों की अनिवार्य एवं निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा को उनका मूल अधिकार घोषित किया गया। इस सम्बन्ध में विस्तृत प्रावधान वाला शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 अस्तित्व में आया, जिसका अनुपालन करने के लिए राज्य अब वैधानिक रूप से बाध्य था। यह अधिनियम 1 अप्रैल, 2010 से पूरे भारत में (जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़कर) लागू हुआ। शिक्षा का अधिकार अधिनियम के लागू होने को प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में किए गए अब तक के प्रयासों में सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह इस अर्थ में विशिष्ट है कि इसमें वंचित और कमज़ोर वर्ग के बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के अधिकार को प्रभावी ढंग से सुनिश्चित करने का प्रावधान किया गया है और उन समस्याओं को दूर करने के प्रयास भी इसमें शामिल हैं, जिनकी वजह से अब तक यह कार्य पूरा नहीं किया जा सका था।

फ़ेल न करने की नीति और निम्न अधिगम स्तर

शिक्षा के सार्वजनीकरण की दिशा में अभी

तक किए गए प्रयासों से वंचित वर्गों के बच्चों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सुनिश्चित नहीं की जा सकी थी। इसकी मुख्य वजह सरकार द्वारा गुणवत्ता के ऊपर केवल संख्यात्मक प्रसार को दी गई तरज़ीह थी। इस समस्या को देखते हुए इस अधिनियम में विद्यार्थियों का नामांकन करने, विद्यालय में उनकी उपस्थिति सुनिश्चित कराने के साथ आठवीं तक की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पूरी कराने को समेकित व अनिवार्य रूप से शिक्षा के अधिकार के अन्तर्गत रखा गया है।

इसके अलावा प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण में अपव्यय और अवरोधन मुख्य समस्याएँ रही हैं। यह स्पष्ट है कि अवरोधन व अपव्यय व्यवस्था जनित समस्याएँ हैं, जिनका सबसे ज़्यादा दुष्प्रभाव वंचित वर्ग के विद्यार्थियों पर पड़ता है। विद्यार्थियों को इस व्यवस्था जनित समस्या के दुष्प्रभाव से बचाने के लिए शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2010 के अध्याय 4 के अनुच्छेद 16 को शामिल किया गया है। अनुच्छेद 16 में आठवीं तक किसी भी बच्चे को फ़ेल करने या विद्यालय से निकाले जाने को पूर्णतः प्रतिबन्धित किया गया है। इस नीति को प्रभावी बनाने के लिए अधिनियम में उचित शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात, कार्यदिवसों की निश्चित संख्या, उचित योग्यता वाले शिक्षकों की नियुक्ति, सतत एवं व्यापक मूल्यांकन प्रणाली का प्रयोग एवं इस हेतु सेवारत शिक्षकों के क्षमतावर्धन सहित सभी शिक्षकों का उपयुक्त प्रशिक्षण जैसे कई प्रावधान किए गए हैं। इन प्रावधानों की अनुपालना सुनिश्चित करने का दायित्व राज्य व शिक्षकों पर है। इस प्रकार, अधिनियम में सभी विद्यार्थियों के प्रारम्भिक शिक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करने के व्यापक व स्पष्ट प्रावधान किए गए हैं। इसीलिए यह अधिनियम काफ़ी उम्मीदें जगाता है कि इसका प्रभावी क्रियान्वयन शिक्षा की परिवर्तनकारी भूमिका सुनिश्चित कर पाएगा।

लेकिन, शिक्षा का अधिकार अधिनियम लागू होने के बाद से ही आलोचना के केन्द्र में है। इसकी आलोचना 'असर' सर्वे के उन आँकड़ों के आधार पर की जा रही है, जो यह दिखाते हैं कि इस अधिनियम के लागू होने के बाद से विद्यार्थियों के अधिगम स्तर में लगातार कमी आई है। अधिगम स्तर में कमी निश्चित रूप से चिन्ता का विषय है, जिस पर सरकार को ध्यान देना ही चाहिए क्योंकि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा इस अधिनियम का एक अनिवार्य लक्ष्य है। राज्यों ने अधिगम स्तर में आई इस गिरावट के लिए अधिनियम में मौजूद 'फ़ेल न करने की नीति' (नो डिटेंशन पॉलिसी) को ही मुख्य रूप से ज़िम्मेदार माना। लगभग 25 राज्य सरकारों ने केन्द्र सरकार से इस नियम में तत्काल संशोधन करने की सिफ़ारिश की, जिसे सरकार ने मान भी लिया है और 'नो डिटेंशन पॉलिसी' को हटाकर उसके स्थान पर पुरानी प्रणाली अर्थात फ़ेल करने की नीति को लागू कर दिया है। लेकिन इन सभी राज्यों द्वारा इस नीति को ख़त्म किए जाने के पीछे दिया गया तर्क कि– 'नो डिटेंशन पॉलिसी विद्यार्थियों का बिना मूल्यांकन किए ही उन्हें अगली कक्षा में पदोन्नत करने का प्रावधान करती है, जिससे विद्यार्थी व शिक्षक सीखने-सिखाने के दबाव से मुक्त हो जाते हैं और अधिगम का स्तर निम्न ही रह जाता है'– इस नीति के बारे में राज्य की दोषपूर्ण समझ और ख़ुद को व्यवस्थागत सुधारों के दायित्व से बचाने की मंशा को ही प्रदर्शित करता है। यह

> सबसे पहले तो, सरकार द्वारा नो डिटेंशन पॉलिसी को न्यून अधिगम स्तर के लिए ज़िम्मेदार मानना पूरी तरह अतार्किक है। यह स्पष्ट होना चाहिए कि नो डिटेंशन पॉलिसी अधिगम स्तर को बढ़ाने वाला कोई प्रावधान नहीं है। यह विद्यार्थियों में अवरोधन की समस्या को रोकने के लिए बनाई गई नीति है, जो कि अपने लक्ष्य में सफल भी है।

निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होता है।

सबसे पहले तो, सरकार द्वारा नो डिटेंशन पॉलिसी को न्यून अधिगम स्तर के लिए ज़िम्मेदार मानना पूरी तरह अतार्किक है। यह स्पष्ट होना चाहिए कि नो डिटेंशन पॉलिसी अधिगम स्तर को बढ़ाने वाला कोई प्रावधान नहीं है। यह विद्यार्थियों में अवरोधन की समस्या को रोकने के लिए बनाई गई नीति है, जो कि अपने लक्ष्य में सफल भी है। साथ ही सरकार को यह भी ध्यान देना चाहिए कि अधिगम स्तर या विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करने की जो आवश्यक पूर्व शर्तें हैं, वे व्यवस्था में निहित हैं और तय मानकों के अनुसार उनकी उपलब्धता सुनिश्चित कराना ख़ुद सरकार का ही दायित्व है। यदि इस सम्बन्ध में सरकारी प्रयासों की ओर ध्यान दें तो मालूम होता है कि वे अपर्याप्त ही रहे हैं।

> पास-फ़ेल की परीक्षा प्रणाली को लागू करने के समर्थन में प्रयुक्त अवधारणा कि—'बच्चे परीक्षा में पास होने के दबाव या फ़ेल होने के डर से सीखेंगे'—बिलकुल निराधार है। अव्वल तो इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता कि परीक्षा का डर या दबाव आवश्यक रूप से अधिगम सुनिश्चित करता ही है। बल्कि जापान, फ़िनलैण्ड जैसे विश्व के ऐसे कई देशों में प्रारम्भिक शिक्षा का स्तर बहुत अच्छा रहा है, जहाँ बहुत पहले ही पास-फ़ेल की व्यवस्था ख़त्म कर दी गई थी।

आँकड़े बताते हैं कि अभी भी लगभग 69,000 प्राथमिक विद्यालय एक कक्षीय हैं और आठ प्रतिशत विद्यालयों में केवल एक ही शिक्षक/शिक्षिका नियुक्त है। इसके अलावा 25.93 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात 30 से अधिक है। कुछ राज्यों, जैसे कि बिहार (65.92), उत्तर प्रदेश (57.70), दिल्ली (42.92) और झारखण्ड (41.29) में ऐसे विद्यालयों का प्रतिशत काफ़ी अधिक है। वहीं, 13.46 प्रतिशत उच्च प्राथमिक विद्यालय 35 से अधिक शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात वाले हैं।

शिक्षकों की कमी के अतिरिक्त सेवारत शिक्षकों/शिक्षिकाओं में आवश्यक न्यूनतम योग्यता का अभाव भी विद्यार्थियों के अधिगम के निम्न स्तर के लिए ज़िम्मेदार एक महत्त्वपूर्ण कारक है। शिक्षा का अधिकार अधिनियम में इस समस्या की ओर विशेष ध्यान देते हुए सभी सेवारत शिक्षकों/शिक्षिकाओं के उचित प्रशिक्षण का कार्य पाँच वर्ष के अन्दर पूरा करने का लक्ष्य रखा गया था। अधिनियम के लागू होने के बाद, शुरू में इस काम के प्रति तेज़ी दिखाई गई और 2010-11 में 40.21 प्रतिशत शिक्षकों/शिक्षिकाओं को प्रशिक्षण दिया गया। फिर, धीरे-धीरे सरकार ने इसकी ओर ध्यान देना कम किया और 2014-15 में 18.34 एवं 2015-16 में मात्र 14.90 शिक्षकों/शिक्षिकाओं को ही प्रशिक्षण दिया गया। हाल ही में सरकार ने ख़ुद माना है कि शिक्षा का अधिकार अधिनियम में पाँच साल के अन्दर शिक्षकों को न्यूनतम योग्यता प्राप्त कराने का जो लक्ष्य रखा गया था, वह पूरा नहीं हो सका है। 2.5 लाख सरकारी शिक्षक अभी भी न्यूनतम योग्यता प्राप्त नहीं कर सके हैं और इसके लिए सरकार ने बाक़ायदा अधिनियम में संशोधन करके इस समय सीमा को 2019 तक बढ़ा दिया है। अतः जब यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा विद्यार्थियों का अधिगम सुनिश्चित कराने के लिए अधिनियम में दिए आवश्यक प्रावधान नहीं किए जा सके हैं– जिसकी पुष्टि विभिन्न विशेषज्ञ समितियों (केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की भुक्कल समिति, सुब्रह्मण्यम समिति और भारत के नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक) ने भी अपनी रिपोर्ट में की है– तो अधिगम में निम्न स्तर होने की सज़ा विद्यार्थियों को देना बेहद अन्यायपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त, फ़ेल न करने की नीति के ख़िलाफ़ दिया जाने वाला तर्क कि इसमें मूल्यांकन का प्रावधान नहीं है, इस नीति के प्रति अधूरी व दोषपूर्ण समझ का ही परिणाम है। इसकी मुख्य वजह है इसको सतत एवं व्यापक मूल्यांकन के सन्दर्भ में न देखना,

जिसका प्रावधान आवश्यक रूप से 'नो डिटेंशन पॉलिसी' को प्रभावी बनाने के लिए अधिनियम में किया गया है। सतत एवं व्यापक मूल्यांकन, परम्परागत मूल्यांकन से भिन्न प्रणाली है जिसका उद्देश्य, कुछ विद्यार्थियों के चयन और कुछ के निष्कासन से अलग, सभी विद्यार्थियों की सीखने में मदद करना है। इसमें विद्यार्थियों की उपलब्धि को साल में किसी एक दिन न मापकर उनकी प्रगति की जाँच लगातार करनी है और तनाव मुक्त होकर सीखने में उनकी मदद करनी है। चूँकि यह नई प्रणाली है, जो शिक्षकों से नए क़िस्म के कौशल की माँग करती है, इसके लिए अध्यापकों का प्रशिक्षण आवश्यक था। सतत एवं व्यापक मूल्यांकन के सन्दर्भ में नो डिटेंशन पॉलिसी की समीक्षा करने वाली केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की भुक्कल समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि सतत एवं व्यापक मूल्यांकन को लागू करने के लिए अध्यापकों का आवश्यक प्रशिक्षण कार्य पूरा नहीं हो सका है, और जो प्रशिक्षण दिया गया है वह भी अच्छे क़िस्म का नहीं है। अधिकतर शिक्षक व शिक्षिकाएँ इस नीति के उद्देश्य को ठीक से समझते ही नहीं हैं, अतः इसे सही अर्थों में लागू ही नहीं किया जा सका है। समिति अपनी रिपोर्ट में शिक्षक पात्रता परीक्षा में भविष्य के शिक्षकों/शिक्षिकाओं के निम्न स्तरीय प्रदर्शन (2011 से शुरू हुई केन्द्रीय पात्रता परीक्षा में 2015 तक सफल होने वाले अभ्यर्थियों का प्रतिशत कभी 17 प्रतिशत से अधिक नहीं रहा है) का उदाहरण देते हुए शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भी गुणवत्ता की कमी का ज़िक्र करती है, और इस पर ध्यान दिए जाने का सुझाव भी देती है ताकि भविष्य में योग्य शिक्षकों की कमी न हो।

समेकन

पास-फ़ेल की परीक्षा प्रणाली को लागू करने के समर्थन में प्रयुक्त अवधारणा कि– 'बच्चे परीक्षा में पास होने के दबाव या फ़ेल होने के डर से सीखेंगे'– बिलकुल निराधार है। अव्वल तो इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता कि परीक्षा का डर या दबाव आवश्यक रूप से अधिगम सुनिश्चित करता ही है। बल्कि जापान, फ़िनलैण्ड जैसे विश्व के ऐसे कई देशों में प्रारम्भिक शिक्षा का स्तर बहुत अच्छा रहा है, जहाँ बहुत पहले ही पास-फ़ेल की व्यवस्था ख़त्म कर दी गई थी। कई अध्ययन और आँकड़े फ़ेल करने के नकारात्मक प्रभावों, जैसे कि विद्यार्थियों में मानसिक अवसाद, निम्न आत्मबोध, निराशा और स्कूल छोड़ देने की प्रवृत्ति की पुष्टि करते हैं।

अतः, जब स्पष्ट है कि विद्यार्थियों के निम्न अधिगम स्तर की वजह व्यवस्थागत कमियों में है, तो उसे दूर करने की बजाय उसकी सज़ा विद्यार्थियों को देना सरकार के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना व्यवहार का ही उदाहरण है, जो कि पहले भी मौजूद रहा है। सरकारें हमेशा समानता के लिए आवश्यक प्रभावी प्रयास करने से बचती रही हैं या ऐसा करने में असफल रही हैं। अधिगम के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ सुनिश्चित किए बिना फ़ेल किए जाने के निर्णय का सबसे अधिक दुष्प्रभाव वंचित वर्ग के विद्यार्थियों पर ही पड़ेगा। अच्छे अधिगम स्तर के लिए आवश्यक सुविधाओं का अभाव मुख्य रूप से सरकारी विद्यालयों में ही है, जहाँ सबसे अधिक वंचित व कमज़ोर वर्ग के विद्यार्थी नामांकित हैं। अतः फ़ेल होने व विद्यालय छोड़ देने की दर भी उन्हीं की सबसे अधिक होगी।

इस अधिनियम के आने से पहले जहाँ यह विद्यार्थी संख्यात्मक प्रसार के नाम पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा से वंचित किए जा रहे थे, वहीं अब गुणवत्ता के नाम पर विद्यालय छोड़ने पर मजबूर होंगे। इस तरह एक बार फिर यह बच्चे शिक्षा के अधिकार से वंचित ही रह जाएँगे, जिसके तहत सभी बच्चों को अवरोधन मुक्त और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा अनिवार्य रूप से पाने का अधिकार है।

सन्दर्भ

एनुअल स्टेटस ऑफ़ एजुकेशन रिपोर्ट, 2013,असर सैण्टर, नई दिल्ली।

एनुअल स्टेटस ऑफ़ एजुकेशन रिपोर्ट, 2014,असर सैण्टर, नई दिल्ली।

मेहता, एसी (2016), *एलिमैण्टरी एजुकेशन इन इण्डिया– प्रोग्रेस टुवड्र्स यूईई,* एनालिटिकल रिपोर्ट, 2015–16,न्यूपा, नई दिल्ली।

मेहता, एसी (2014), *एलिमैण्टरी एजुकेशन इन इण्डिया– प्रोग्रेस टुवड्र्स यूईई,* एनालिटिकल रिपोर्ट, 2013–4, न्यूपा, नई दिल्ली।

सदगोपाल, ए (2000), '*शिक्षा में बदलाव का सवाल*', ग्रन्थ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, नईदिल्ली।

RTE Act 2009, Government of India.

Implementation of RTE Act, 2009, Comptroller and Auditor General of India, July 21, 2017.

Kumar, R (2006), *The Crisis of Elementary Education in India*, Sage Publications, New Delhi.

Naik, JP;S, Nurullah (1974), *A Student's History of Education in India* (1800-1973), Macmillan Company of India Ltd., Delhi.

Report of CABE Sub Committee on Assessment on Implementation of CCE and No Detention Provision, 2014. Ministry of Human Resource Development, Government of India.

Report of the Committee for Evolution of the New Education Policy, 2016, Ministry of Human Resource Development, Government of India.

The Right of Children to Free and Compulsory Education (Second Amendment) Rules, 2017, Government of India.

Business Line (2018, June 2), Center to scrap no-detention policy soon: Prakash Javdekar. Retrieved from https://www.thehindubusinessline.com/news/education/centre-to-scrap-no-detention-policy-soon-prakash-javadekar/

article24067173.ece

The Times of India (2017, August 5). 24 states look set to scrap no-detention policy in schools from 2018. Retrieved from https://timesofindia.indiatimes.com/home/education/news/24-states-look-set-to-scrap-no-detention-policy-in-schools-from-2018/articleshow/59923135.cms

https://www.livemint.com/Education/iwUT3pamWXWjvZb5G6ZQ3O/Parliament-passes-bill-to-allow-RTE-teachers-time-till-2019.html

https://www.talentsprint.com/ctet/annual-applications-and-qualified-percentage.dpl

---

दिव्या दुबे समाजशास्त्र और शिक्षाशास्त्र में परास्नातक है और वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में शोधरत हैं।
सम्पर्क : divyadubey436@gmail.com

प्रो. मधु कुशवाहा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के शिक्षा संकाय में पिछले 20 वर्षों से अध्यापनरत है इन्होंने शिक्षा के सामाजिक सन्दर्भ और शिक्षा के सामाजिक मुद्दों को अपने अध्यापन एवं शोध का विषय बनाया है।
सम्पर्क : mts.kushwaha@gmail.com

अंग्रेज़ी का 'अलौकिक साम्राज्य'

अभय कुमार दुबे

ग्रेट ब्रिटेन में भाषाई रणनीतिकारों ने अन्य यूरोपीय भाषाओं के मुकाबले अंग्रेज़ी को कमतरी के एहसास से उबारने के लिए अट्ठारहवीं सदी में सुनियोजित रूप से काम किया। इसके साथ ही उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा को अपनी साम्राज्यवादी विचारधारा का औज़ार बनाया। उसका मानकीकरण कर एक ऐसी भाषा के रूप में गढ़ा जो उपनिवेशवाद के पतन के बाद भी अपना एक अलौकिक साम्राज्य कायम रख सके। जिसका परिणाम है कि सांस्कृतिक और सामाजिक मानस पर अंग्रेज़ी भाषा और उसके साहित्य की हुकूमत बरक़रार है। अपने इस शोधपरक आलेख में अभय कुमार दुबे बताते हैं कि अट्ठारहवीं सदी में ब्रिटेन ने देश के भीतर बोली जाने वाली लैटिन और नॉर्मन फ्रेंच को प्रतिस्थापित कर एक तरह से देश में आन्तरिक उपनिवेश कायम किया। अंग्रेज़ी का अलौकिक साम्राज्य ब्रिटेन के भीतर और बाहर दोनों जगह विस्तृत है। सं.

...अंग्रेज़ी बोलने वाले इस देश की गिनती उत्तर (यूरोप के दक्षिणी राष्ट्रों की तुलना में) के ख़ासे अभद्र और नाममात्र के लिए ही सभ्य राष्ट्रों में की जाती है। इस देश पर उसी तरह से बर्बर होने का बिल्ला चस्पाँ किया जाता है, जिस तरह कभी यूनानियों ने बाक़ी दुनिया पर किया था। इसकी जो वजह तब थी, वही अब भी है– अपनी भाषा को विनियमित और परिष्कृत करने की ज़िम्मेदारी से कतराना।

–थॉमस शेरिडन (डिज़र्टेशन, 1762)[1]

यह उद्धरण उस कालखण्ड का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में बरतानिया में बोली जाने वाली और लिखित अंग्रेज़ी के मानकीकरण की अवधि माना जाता है। यही था वह दौर जब सेमुअल जॉनसन[2], थॉमस शेरिडन, एडम स्मिथ[3], जेम्सबरनैट (लॉर्ड मोनबोडो)[4] और ह्यू ब्लेयर[5] जैसे भाषाई रणनीतिकारों ने ग्रेट ब्रिटेन में अन्य यूरोपीय भाषाओं के मुक़ाबले कमतरी के अहसास में लिपटी हुई अंग्रेज़ी के बुनियादी किरदार पर आन्तरिक और बाह्य उपनिवेशवाद की इबारतें

[1] अंग्रेज़ी के इतिहास में थॉमस शेरिडन (1719–1788) अट्ठारहवीं सदी के बरतानिया में चलाई गई अपनी वाग्मिता परियोजना (एलोक्यूशन परियोजना) के लिए जाने जाते हैं। शुरू में वे एक मंचीय अभिनेता और थियेटर संचालक थे। इस क्षेत्र में विफल होने के बाद उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र पर ध्यान दिया। उन्होंने अंग्रेज़ी की वक्तृता को संहिताबद्ध करने के लिए पूरे बरतानिया में घूम-घूम कर भाषण दिए, ताकि स्कॉटलैण्ड, आयरलैण्ड और वेल्स के वासी अपनी कैल्टिक भाषाओं को बोलना छोड़कर सही लहजे और उच्चारण में परिनिष्ठित अंग्रेज़ी बोलना शुरू कर सकें। इसके उपलक्ष में ऑक्सफ़र्ड और कैम्ब्रिज ने उन्हें मानद डिग्रियाँ दीं, और समाज की बड़ी हस्तियों के साथ सरकार ने भी उनकी पीठ पर अपना हाथ रखा। शेरिडन के भाषण स्कॉटिश लोगों में ख़ासतौर से लोकप्रिय थे। 1762 से 1780 के बीच उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें *'लैक्चर्स ऑन एलोक्यूशन' और 'ब्रिटिश एजुकेशन : ऑर, द सोर्स ऑफ़ द डिसऑर्डर ऑफ़ ग्रेट'* ब्रिटेन उल्लेखनीय हैं। उल्लेखनीय है कि शेरिडन *'गुलिवर्स ट्रैवल्स'* के विख्यात रचयिता जोनाथन स्विफ़्ट (1667–1745) को अपना धर्मपिता मानते थे। स्विफ़्ट ने ही बचपन में उनकी अंग्रेज़ी का ख़राब आयरिश उच्चारण सुधारा था।

अंकित कीं। अंग्रेज़ी को साम्राज्यवादी विचारधारा का तत्कालीन और भविष्यगामी औज़ार बनाने की बुनियाद इसी अट्ठारहवीं सदी में ही रखी गई जो बरतानिया में भाषा-अध्ययन के अभूतपूर्व विस्फोट की सदी मानी जाती है। इस समग्र परियोजना का मक़सद था बर्बरों और अनपढ़ों की भाषा के निचले पायदान से उठाकर अंग्रेज़ी को, एक बहुमुखी और समेकित उद्यम के ज़रिए, एक ऐसी भाषा के रूप में गढ़ना, जो बरतानवी साम्राज्यवाद के पतन के बाद भी अंग्रेज़ी के अलौकिक साम्राज्य (मैटाफ़िज़िकल इम्पीरियलिज़्म) को क़ायम रख सके। दिलचस्प बात यह है कि अंग्रेज़ी के इन पक्षकारों को फ़ौजी विजयों पर आधारित बरतानिया के लौकिक साम्राज्य के अमर-अजर होने की ग़लतफ़हमी क़तई नहीं थी। वे जानते थे कि एक न एक दिन यह उपनिवेशवाद फ़ौजी और राजनीतिक रूप से पराजित होकर दुनिया के मंच से ग़ायब हो जाएगा। अंग्रेज़ी के पक्षकारों में कुछ तो ऐसे भी थे जो बरतानिया के लौकिक साम्राज्य को अरुचि के साथ देखते थे। तथापि वे चाहते थे कि भले ही यह लौकिक उपनिवेशवाद ख़त्म हो जाए, लेकिन उसके बाद भी अलौकिक साम्राज्य के रूप में मनुष्य के सांस्कृतिक और सामाजिक मानस पर उनकी भाषा अंग्रेज़ी और उसके साहित्य की हुकूमत बरक़रार रहे। इस लिहाज़ से अंग्रेज़ों के लौकिक साम्राज्य के मुक़ाबले अंग्रेज़ी के अलौकिक साम्राज्य की विचारधारा अपनी सांस्कृतिक उत्तर जीविता के सन्दर्भ में कहीं अधिक शक्तिमन्त और चिरन्तन साबित होने वाली थी।

भारत में अंग्रेज़ी का इतिहास उकेरने वाले इस लम्बे लेख में दिखाया गया है कि अट्ठारहवीं सदी में सक्रिय अंग्रेज़ी के इन रणनीतिकारों की विचारधारा क्या थी, और उसकी जड़ें किस तरह यूरोपीय पुनर्जागरण के उस आग्रह में निहित थीं जो समस्त विश्व को एक भाषा के बन्धन में बाँधने की स्वैर कल्पनाओं से निकला था। पुनर्जागरण की आँखें मानवता की नैसर्गिक

---

[2] बरतानवी कवि, निबन्धकार, साहित्यालोचक, जीवनीकार और सम्पादक सैमुअल जॉनसन (1709–1784) को आमतौर पर डॉ. जॉनसन के रूप में जाना जाता है। उन्होंने 1755 में आठ साल तक परिश्रम करके *अ डिक्शनरी ऑफ़ द इंग्लिश लैंग्वेज* प्रकाशित की, जिसने अंग्रेज़ी के मानकीकरण की प्रक्रिया को निर्णायक रूप देने की भूमिका निभाई। अंग्रेज़ी को सुधारने के लिए जॉनसन में किस क़दर जीवट था, इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि जब 1746 में प्रकाशकों के एक समूह ने उनसे 'डिक्शनरी' बनाने के लिए कहा तो उन्होंने केवल तीन साल में यह काम करने का बीड़ा उठा लिया। वे फ़्राँसीसियों को इस उद्यम में पीछे छोड़ देना चाहते थे। अकादेमी फ़्राँसेस ने चालीस विद्वानों की मदद से चालीस साल में फ़्रेंच भाषा की डिक्शनरी बनाई थी। जॉनसन तीन साल में तो यह काम नहीं कर पाए, लेकिन उन्होंने आठ साल में इसे ज़रूर कर दिखाया। थॉमस शेरिडन अगर बोली जाने वाली अंग्रेज़ी के मानकीकरण के पुरोधा माने जाते हैं, तो जॉनसन को लिखित अंग्रेज़ी के मानकीकरण का श्रेय जाता है। उनका शब्दकोश अपने प्रकाशन के डेढ़ सौ साल तक अंग्रेज़ी भाषा का सन्दर्भ ग्रन्थ बना रहा, जब तक 1928 में ऑक्सफ़र्ड इंग्लिश डिक्शनरी प्रकाशित न हो गई। उनकी पुस्तक *'अ जर्नी टू द वैस्टर्न आइलैण्ड ऑफ़ स्कॉटलैण्ड'* से आन्तरिक उपनिवेशन की उस दमनकारी प्रक्रिया की झलक मिलती है, जिसके तहत स्कॉटलैण्ड वासियों को अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेज़ी बरतने की तरफ़ धकेला गया।

[3] वैसे तो स्कॉटिश अर्थशास्त्री और दार्शनिक एडम स्मिथ (1723–1790) को उनकी क्लासिक रचना *'एन इन्क्वायरी इन टू द नेचर एण्ड कॉज़ेज़ ऑफ़ द वैल्थ ऑफ़ नेशन्स'* और *'द थियरी ऑफ़ मॉरल सैण्टिमैण्ट्स'* के लिए जाना जाता है, लेकिन स्कॉटिश पुनर्जागरण के पुरोधा के तौर पर स्कॉटलैण्ड के विश्वविद्यालयों में अंग्रेज़ी-अध्ययन की संस्थागत शुरुआत करवाने में उनकी प्रमुख भूमिका थी।इस लिहाज़ से कहा जा सकता है कि इंग्लैण्ड द्वारा स्कॉटलैण्ड के आन्तरिक उपनिवेशीकरण और अंग्रेज़ी के हाथों कैल्टिक भाषाओं के संहार में वे एक तरह से 'सह-अपराधी' थे।

[4] लॉर्ड मोनबोडो के नाम से परिचित जेम्स बरनैट (1714–1799) भाषाई क्रम-विकास के पैरोकार थे। उनकी छह खण्डीय विराट *रचना ऑरिजिन एण्ड द प्रोग्रेस ऑफ़ लैंग्वेज (1773–1792)* ने मानवशास्त्र और भाषा-विज्ञान को जोड़ने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। यह भी कहा जाता है कि बरनैट के क्रम-विकास सम्बन्धी विचारों का चार्ल्स डार्विन पर भी असर पड़ा था।

[5] एडम स्मिथ के शिष्य ह्यू ब्लेयर (1718–1800) अपनी प्रमुख रचना लैक्चर्स ऑन रेटरिक एण्ड बैल्स लैटर्स (1793) के लिए जाने जाते हैं। वे भाषाओं की प्रगति को मनुष्य की बढ़ती हुई उम्र के आईने में देखते हुए दावा करते थे कि व्यक्ति जो भाषा बोलता है उसके ज़रिए उसके सभ्य होने के स्तर का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

बहुभाषी प्रकृति को विकास, व्यवस्था और प्रगति के शत्रु के रूप में देखती थीं। इसी विचार के प्रभाव में अंग्रेज़ी के पैरोकार शुरू से ही इस भाषा को सम्भावित विश्व-विजेता के रूप में देखना पसन्द करते थे। इसीलिए उसके मौखिक और लिखित विन्यास को यूनानी और लैटिन की तर्ज़ पर एक 'क्लासिक' भाषा बनाने का उद्यम चलाया गया। इसके दो पहलू थे : पहला था अंग्रेज़ी थोपने के ज़रिए इंग्लैण्ड के परिधीय प्रदेशों (स्कॉटलैण्ड, आयरलैण्ड और वेल्स) का आन्तरिक उपनिवेशन करना, और दूसरा था अंग्रेज़ी के ज़रिए बाह्य उपनिवेशीकरण को सभ्यतामूलक आधार देना।

दरअसल, बरतानवी राष्ट्र-निर्माण के उपकरण के तौर पर चलाई गई अंग्रेज़ी-मानकीकरण की मुहिम अपने आप में एक साम्राज्यवादी मुहिम ही थी। भारत के सन्दर्भ में इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रशासकों, इंजीली धर्म प्रचारकों और बरतानवी उपयोगितावाद और उदारतावाद के आंग्लवादी प्रतिनिधियों ने भारत पर अट्ठारहवीं सदी में गढ़ी गई जो अंग्रेज़ी उपनिवेशवादी सत्ता के दम पर थोपी, उसका बुनियादी किरदार भविष्य के सांस्कृतिक साम्राज्य की सम्भावनाओं का वाहक था। इस अंग्रेज़ी को गढ़ने वाले बरतानवी भाषाई रणनीतिकार अपनी परियोजना में निहित साम्राज्यवादी इरादों को व्यक्त करने के मामले में संकोचहीन थे। कई सामाजिक-व्यापारिक संस्थाओं के साथ-साथ बरतानिया की सरकार का हाथ भी उनकी पीठ पर था।

बरतानवी राष्ट्र-निर्माण के उपकरण के तौर पर चलाई गई अंग्रेज़ी-मानकीकरण की मुहिम अपने आप में एक साम्राज्यवादी मुहिम ही थी। भारत के सन्दर्भ में इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रशासकों, इंजीली धर्मप्रचारकों और बरतानवी उपयोगितावाद और उदारतावाद के आंग्लवादी प्रतिनिधियों ने भारत पर अट्ठारहवीं सदी में गढ़ी गई जो अंग्रेज़ी उपनिवेशवादी सत्ता के दम पर थोपी, उसका बुनियादी किरदार भविष्य के सांस्कृतिक साम्राज्य की सम्भावनाओं का वाहक था।

अट्ठारहवीं सदी के दौरान अंग्रेज़ी के मानकीकरण और इस भाषा के अलौकिक साम्राज्य के आपसी सम्बन्धों का विधिवत अध्ययन करने वाले एडम आर बीच के अनुसार :

शेरिडन जैसे चिन्तकों की कल्पना थी कि अगर अंग्रेज़ी को मानकीकृत और संहिताबद्ध किया जा सके तो... वह एक अलौकिक साम्राज्य की इमारत का बुनियादी आधार बन सकती है, एक ऐसा साम्राज्य जो भाषा और साहित्य का साम्राज्य होगा और जो वास्तविक बरतानवी साम्राज्य के अन्त के बाद भी जीवित रहेगा। अलौकिक साम्राज्य की सम्भावनाओं पर केन्द्रित रहने के कारण बरतानवी सिद्धान्तकारों को अपने रोमन अतीत के साथ एक जटिल संवाद स्थापित करने का मौक़ा मिला। जहाँ तक रोमन साम्राज्य की फ़ौजी प्रकृति का सवाल है, इन सिद्धान्तकारों को यदाकदा उसे खुलकर अस्वीकार करते हुए भी देखा जा सकता है– पर इसके बावजूद वे उसके अलौकिक साम्राज्य और लैटिन और रोमन साहित्य के निरन्तर संचार और पुनरुत्पादन की भावपूर्ण प्रशंसा करने में कभी नहीं चूके। यह महाकाव्यात्मक अलौकिक साम्राज्य इन विचारकों के लिए प्रेरणा के महान स्रोत थे। वे ऐसी कल्पनाएँ करते रहते थे कि एक दिन बरतानवी रचनाएँ उपनिवेशित रह चुके राष्ट्रों के लिए 'क्लासिक' का दर्जा हासिल कर लेंगी।[6]

शेरिडन ने एक और सूत्रीकरण किया

[6] इस बेहतरीन रचना के लिए देखें— बीच,थॉमस आर (2001), *द क्रिएशन ऑफ़ अ क्लासिकल लैंग्वेज इन द एटीन्थ सैंचुरीः स्टैण्डर्डाइज़िंग इंग्लिश, कल्चरल इम्पीरियलिज्म, एण्ड द फ़्यूचर ऑफ़ द लिटरेरी कैनन, टेक्सास स्टडीज़ इन लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज,* खण्ड 43, अंक 2 *(आइडियोलॉजिकल टर्न्स)* : 117–141।

था। वे बर्बर फ़ौजी ताक़त के दम पर क़ायम किए गए साम्राज्य को नीची निगाह से देखते थे। उनका विचार था कि सच्चा साम्राज्य वही होता है जिसमें फ़ौजी प्रौद्योगिकी को भाषाई प्रौद्योगिकी के साथ जोड़ने की ख़ूबी हो। इस सूत्रीकरण के ज़रिए उन्होंने अपने समकालीनों को स्पष्ट सन्देश दिया कि अगर बरतानिया ने अपनी क्लासिकल भाषा विकसित नहीं की तो भविष्य में उसका साम्राज्य बर्बर विजेताओं का साम्राज्य समझा जाएगा। केवल एक क्लासिकल भाषा ही इस साम्राज्य के वर्तमान और उत्तर-औपनिवेशिक भविष्य को सभ्यतामूलक मिशन की छवि दे सकती है। इसीलिए अंग्रेज़ी के भाषाई रणनीतिकार बरतानवी रचनाओं को पूर्व-उपनिवेशितों के बीच क्लासिक के रूप में स्थापित करना चाहते थे। इस सन्दर्भ में थॉमस बीच ने लेखन, क्लासिसिज़्म और साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक रूपों के मध्य एक मानीख़ेज़ रिश्ते का उद्घाटन भी किया है। इसके मुताबिक़ चूँकि साम्राज्यवाद देश-काल के परे जाने वाली संरचना है इसलिए भाषा और साहित्य के माध्यम से अपने साम्राज्य की निरन्तरता कल्पित करने वाले रणनीतिकार लेखन को विस्मृति के ख़िलाफ़ एक कार्रवाई के रूप में देखते हैं। उनके लिए लेखन के ज़रिए रची गई क्लासिक कृति एक ऐसी छवि की नुमाइन्दगी करती है जिसकी उत्तरजीविता और चिरन्तन उपस्थिति से परिवर्तन के मुक़ाबले स्थायित्व की स्थापना होती है।[7]

बरतानिया के भाषाई रणनीतिकारों के सामने सिर्फ़ आयरलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और वेल्स में बोली जाने वाली कैल्टिक भाषाओं को परिनिष्ठित अंग्रेज़ी द्वारा प्रतिस्थापित करने का ही लक्ष्य नहीं था। वे केवल बरतानिया राष्ट्र की बहुभाषिता, जिसे वे राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक समझते थे, को समाप्त करके ही सन्तुष्ट होने के लिए तैयार नहीं थे। वे तो यूरोपीय पुनर्जागरण द्वारा थमाए गए उस विचार के अनुयायी थे जो बहुभाषिता को मानवता के लिए एक दैवी सज़ा के तौर पर देखता था।[8] रेनासाँ के चिन्तकों ने बहुभाषिता को ख़त्म करने के लिए दो तरक़ीबें प्रस्तावित की थीं। पहली, एक विश्वव्यापी कृत्रिम भाषा तैयार करना; और दूसरी, पहले से ही चली आ रही एक क़ुदरती ज़ुबान का सारी दुनिया में प्रचार-प्रसार करना। 1629 में देकार्त ने एक ऐसी कृत्रिम भाषा गढ़ने की पेशकश की जिसे सम्पूर्ण रूप से नियमित, तर्कपरक और अपवर्तनशील होना था। इसके बाद कई दार्शनिक ऐसी भाषा की कल्पनाएँ करते रहे। पुनर्जागरण द्वारा प्रस्तावित दूसरी तरक़ीब के मुताबिक़ योहान कोमिनियस ने 1631 में सुझाव दिया कि यूरोप का विन्यास दो भाषाई क्षेत्रों के रूप में किया जाए। पूर्वी यूरोप को रूसी भाषा के हवाले कर दिया जाए, और पश्चिमी यूरोप को फ़्रेंच और अंग्रेज़ी आपस में बाँट लें।

छोटी भाषाएँ ख़त्म करके एक बड़ी भाषा का प्रभुत्व क़ायम करने की जो वैचारिक प्रवृत्ति रेनासाँ में दिखाई पड़ रही थी, उसका साक्षात्कार इतिहासकारों ने पूर्व-आधुनिक यूरोप में भी किया है। उन्हें सोलहवीं सदी में कैथोलिकों द्वारा किए जाने वाले इनक्विज़िशन (जो यूरोप में बारहवीं सदी से ही जारी था) के तहत समरूप ईसाई राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में केन्द्रीकरण और एकभाषिता के शक्तिशाली आवेग दिखाई पड़े हैं। अट्ठारहवीं सदी में हुई अमरीकी और फ़्राँसीसी क्राँतियों के साथ 'एक राष्ट्र, एक भाषा और

[7] क्लासिसिज़्म में निहित साम्राज्यवादी अवधारणा के लिए देखें— कर्मोड,फ़्रैंक (1975), *द क्लासिक : लिटरेरी इमेजिज़ ऑफ़ परमानेन्स एण्ड चेंज, वाइकिंग* प्रैस, न्यूयॉर्क। थॉमस बीच,कर्मोड के इस दावे से सहमत नहीं हैं कि क्लासिसिज़्म का यह अर्थ अट्ठारहवीं सदी के बरतानिया में अधिक प्रचलित नहीं था।

[8] पश्चिमी सभ्यता में बहुभाषिता को एक अभिशाप और दैवी दण्ड के रूप में देखने की पुरानी परम्परा है। यूनानियों की मान्यता थी कि अगर देवता हरमीज़ ने भिन्न राष्ट्रों और भाषाओं की रचना न की होती तो शान्ति और भाषाई एकता का युग न समाप्त होता। उन्नीसवीं सदी तक पश्चिमी भाषाशास्त्री बहुभाषिता के ख़िलाफ़ फ़तवे देते रहे। नोहा वैबस्टर ने भाषाई विविधता को वाणिज्य, धर्म और सामाजिक हित के ख़िलाफ़ 'सबसे बड़ी दुष्टता' क़रार दिया था।

एक संस्कृति' जैसे समरूपीकरण के सिद्धान्त का प्रचलन होने से पहले ही कई राष्ट्रों में स्वाभाविक बहुभाषिता के ऊपर एक भाषा थोपने के प्रयास होने लगे थे।[9] लेकिन पुनर्जागरणकालीन बरतानिया के पास कोमिनियस के प्रस्ताव को आधार बनाकर अंग्रेज़ी की तरफ़ से किसी तरह की यूरोपीय दावेदारी करने लायक़ आत्मविश्वास नहीं था। यद्यपि इंग्लैण्ड के उत्तरी अमरीका और कैरेबियन उपनिवेशों में अंग्रेज़ी का प्रसार होने लगा था, फिर भी बरतानिया के भीतर स्वयं अंग्रेज़ों की निगाह अपनी भाषा को कमतर मानती थी। इसके ऐतिहासिक कारण थे।

अंग्रेज़ी के बुरे दिन

अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध से पहले अंग्रेज़ी को अच्छे दिन देखने नसीब नहीं हुए। आज अंग्रेज़ी के प्रभुत्व से आक्रान्त लोगों को यह देखकर कुछ ताज्जुब हो सकता है कि बरतानिया के साम्राज्य-निर्माण की पहली दो सदियाँ अंग्रेज़ी की नहीं थीं। 1560 और 1570 के दशकों में जब क्वीन एलिज़ाबेथ के सिपाहियों ने आयरलैण्ड की ट्यूडर स्टेट पर हमला करके उसे जीता तो पहली बार बरतानिया को लगा कि वह साम्राज्य-निर्माण कर सकता है। अपने आक्रमण को न्यायोचित ठहराने के लिए बरतानिया ने आयरिशों को पशुवत, क़ानून और सुव्यवस्था से वंचित, अशिष्ट, असभ्य और अस्वच्छ क़रार देते हुए दावा किया कि ईश्वर ने उन्हें सभ्य बनाने का दायित्व इंग्लैण्ड को प्रदान किया है। आयरिश लोग कैथोलिक थे, लेकिन फिर भी प्रोटैस्टेण्ट बरतानिया ने उन्हें क़ाफ़िरों और 'पागानों' के समकक्ष रखा। ज़ाहिर है कि साम्राज्य-निर्माण की यह प्रक्रिया शुरू से ही सभ्यतामूलक थी। आयरलैण्ड से यह सिलसिला अमरीका तक पहुँचा, और इसके बाद भारत और अफ़्रीक़ा पर इसका क़हर नाज़िल हुआ।

साम्राज्य-निर्माण की विचारधारा के अध्येताओं की मान्यता है कि शुरू से ही बरतानवी उपनिवेशक स्वयं को उन रोमनों की तरह देखते थे, जिन्होंने ईसा से 55 वर्ष पूर्व जूलियस सीज़र के नेतृत्व में बरतानिया के तत्कालीन पशुचारी समाज को अपना उपनिवेश बनाकर केन्द्रीकृत राज्य के रूप में पुनर्गठित किया था। इस लिहाज़ से अंग्रेज़ सोलहवीं सदी के रोमन थे।[10] रोमन, बरतानिया को अपनी फ़ौजों के लिए अनाज सप्लाई करने वाली कड़ी के रूप में देखते थे। जल्दी ही रोमनों को अहसास हो गया कि हाईलैण्ड इलाक़ों को अपने फ़ौजी क़ब्ज़े में रखना उनके लिए लाभदायक नहीं है। इसलिए उन्होंने स्कॉटलैण्ड के हाइलैण्ड क्षेत्र और वेल्स को छोड़ दिया और इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड के लोलैण्ड क्षेत्र पर ध्यान दिया। अगले चार सौ साल तक रोमन उपनिवेश के तौर पर इंग्लैण्ड के विभिन्न इलाक़ों का, एक अपेक्षाकृत केन्द्रीकृत राज्य के रूप में विकास होता रहा। इसी दौरान अंग्रेज़ बुद्धिजीवियों के दिमाग़ पर लैटिन और यूनानी भाषाओं की धाक जमी। वे ख़ुद को सीज़र के प्रतिनिधि के तौर पर देखने के अभ्यस्त हो गए। उनकी कल्पनाओं में अंग्रेज़ी को लैटिन और यूनानी जैसी क्लासिक भाषा बनाने का ऐतिहासिक कार्यभार घर करता चला गया।

अंग्रेज़ों की यह रोमन आत्मछवि भाषा के तौर पर उन्हें अपने बीच लैटिन की क्लासिक उपस्थिति का मातहत बना देती थी। इस दौर में उन्हें अंग्रेज़ी की कोई परवाह नहीं थी। अंग्रेज़ी के इतिहासकारों के अनुसार अगर फ़्राँस के राजा फ़िलिप द्वितीय ने तेरहवीं सदी की शुरुआत में नॉर्मण्डी पर क़ब्ज़ा न कर लिया होता तो

---

[9] अंजली गुप्ता-बसु ने (गोठेयूनिवर्सिटी, फ्रैंकफ़र्ट : 1999) में प्रस्तुत अपने शोध प्रबन्ध *द ट्रैप ऑफ़ इंग्लिश ऐज़ यूनिवर्सल मीडियम इन कॉलोनियल एण्ड पोस्ट कॉलोनियल डिस्कोर्स इन इण्डिया* में पूर्व-आधुनिक यूरोप में बहुभाषिता पर एकभाषिता को थोपे जाने का संक्षिप्त विवरण दिया है।

[10] देखें— मेटकाफ़, थॉमस आर (2008), *द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया : द आइडियोलॉजीज़ ऑफ़ राज,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, बर्कले, इण्ट्रोडक्शन : 2।

बुद्धिजीवियों, पादरियों और सामन्तों द्वारा पूरी तरह से त्याग दी गई यह भाषा हमेशा-हमेशा के लिए नष्ट हो गई होती। नॉर्मण्डी जैसे ही फ़्राँस के पास गया, बरतानवी राजपरिवार के सदस्यों (जो उस समय फ़्राँसीसी मूल के होते थे, फ़्रेंच बोलते थे और फ़्रेंचभाषी यूरोपीय इलाक़ों में मौज-मज़ा करते रहते थे) को कॉण्टिनैण्टल यूरोप छोड़कर इंग्लैण्ड में स्थाईरूप से बसना पड़ा। तब कहीं जाकर बरतानवी अभिजन ने अंग्रेज़ी का व्यवहार शुरू किया। इसके बावजूद अंग्रेज़ी बहुत अरसे तक एक त्रिभाषी विन्यास में फँसी रही। इस विन्यास के तहत बरतानिया में पहले दो नम्बर की भाषाएँ लैटिन और नॉर्मन फ़्रेंच थीं। उनके बाद अंग्रेज़ी का नम्बर तीसरा था। लैटिन, धर्म और बौद्धिक विमर्श की भाषा थी। नॉर्मन फ़्रेंच, राजदरबार, सामन्तों और राजनीति की भाषा थी। अंग्रेज़ी का व्यवहार केवल आम लोग ही करते थे।[11] इस आन्तरिक परिस्थिति के कारण अंग्रेज़ों के लिए यह कल्पनातीत था कि अंग्रेज़ी कभी लैटिन या फ़्रेंच की जगह ले सकती है। स्थिति यह थी कि दुनिया की यात्रा पर निकले यूरोपियनों से कहा जाता था कि अगर वे अफ़्रीक़ा, दक्षिण अमरीका और सुदूर पूर्व की तरफ़ जा रहे हैं तो उनके पास स्पैनी भाषा का ज्ञान होना चाहिए, और बाक़ी दुनिया में यात्रा करने के लिए उन्हें डच समझनी और बोलनी आनी चाहिए। अर्थात उस समय तक अंग्रेज़ी का अन्तरराष्ट्रीय मूल्य लगभग शून्य था।[12] अट्ठारहवीं सदी के मध्य में जब सैमुअल जॉनसन द्वारा रचित अंग्रेज़ी की 'डिक्शनरी' प्रकाशित हो गई तो अर्ल ऑफ़ चेस्टर फ़ील्ड को लगा कि अब उनके पास ऐसी गर्व करने लायक़ भाषा है, जिसे बरतानिया की सीमाओं से बाहर प्रचार-प्रसार के लिए ले जाया जा सकता है।[13] इसके बाद अट्ठारहवीं सदी का पूरा उत्तरार्ध अंग्रेज़ी को लैटिन और यूनानी जैसी 'क्लासिक' भाषा बनाने के लिए खपा दिया गया। भाषाई रणनीतिकारों को यक़ीन था कि मानकीकृत अंग्रेज़ी कैल्टिक ही नहीं, धीरे-धीरे दुनिया की कई भाषाओं को प्रतिस्थापित कर देगी।

आन्तरिक उपनिवेशवाद की 'उपयोगी हिंसा'

अंग्रेज़ी के मानकीकरण की इस परियोजना का समाहार केवल बरतानवी राष्ट्र-निर्माण की सामान्य आवश्यकताओं के तहत नहीं किया जा सकता। माइकल हैचर[14] ने विस्तार से दिखाया है कि जिस समय बरतानिया, दुनिया के सबसे बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य के संचालक के तौर पर दुनिया भर में अपना विस्तार कर रहा था, उसी समय उसकी अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर आन्तरिक उपनिवेशवाद स्थापित करने की प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किस प्रकार जारी था। बरतानवी द्वीप समूह की राष्ट्रीय एकता स्कॉटलैण्ड, वेल्स और आयरलैण्ड के इंग्लैण्ड के साथ सम्पूर्ण एकीकरण के बिना स्थापित नहीं हो सकती थी। इस एकता में कई बाधाएँ थीं। इनमें से एक थी नस्लवाद। आमतौर पर नस्लवाद को श्वेत, अश्वेत, काली और पीली चमड़ी के बीच भेदभाव के रूप में चित्रित किया जाता है। लेकिन बरतानवी द्वीप समूह का नस्लवाद अनूठा था। चारों द्वीपों के वासियों के बीच चमड़ी को लेकर कोई अन्तर नहीं किया जा सकता था, फिर भी इंग्लैण्ड के एंग्लो-सैक्सन लोगों और बाक़ी तीन द्वीपों के कैल्टिक लोगों के बीच नस्लवादी नफ़रत मौजूद थी।

---

[11] इस दौर में अधिकतर अंग्रेज़ों की मातृभाषा होने के बावजूद अंग्रेज़ी का प्रयोग लिखित भाषा के तौर पर शायद ही किया जाता हो। लेखन की भाषा लैटिन थी। उसीके लेखक, प्रकाशक और पाठक थे। अंग्रेज़ी के पास तीनों में से कुछ भी नहीं था।

[12] बेली,रिचर्ड डब्ल्यू (1991), *इमेजिज़ऑफ़ इंग्लिश : अ कल्चरल हिस्ट्रीऑफ़ द लैंग्वेज*, कैम्ब्रिजयूनिवर्सिटीप्रैस, कैम्ब्रिज : 98।

[13] अंग्रेज़ी के इतिहास और पुनर्जागरणकालीन भाषाई विचार का यह अन्तर्सम्बन्ध रिचर्ड डब्ल्यूबेली (1991) ने विस्तार से दिखाया है। देखें, इस रचना का अध्याय 'वर्ल्ड इंग्लिश'।

[14] हैचर, माइकल (1975), *इण्टरनल कॉलोनियलिज़्म : द कैल्टिकफ़्रिंज इन ब्रिटिश नैशनल डवलपमैण्ट*, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रैस, बर्कले।

बरतानवी राष्ट्र की गढ़न्त का इतिहास आमतौर पर इंग्लैण्ड को केन्द्र में रखता है, और कैल्ट द्वीपों को परिधि के इलाक़ों की तरह पेश करता है। यानी स्कॉट, आयरिश और वेल्स वासियों के इंग्लैण्ड में आत्मसातीकरण से ही बरतानवी राष्ट्र की रचना हो सकती थी। आत्मसातीकरण की यह प्रक्रिया फ़ौजी अभियानों, विद्रोहों के कुचले जाने, दमन और अत्याचार की बुनियाद पर चली। एकता में दूसरी बाधा थी अंग्रेज़ी, जो इंग्लैण्ड की भाषा थी, जिसके पैरोकारों द्वारा कैल्टिक भाषाओं (क्यू-कैल्टिक यानी आयरिश, मैंक्सऔर स्कॉटिश गैलिक; और पी-कैल्टिक यानी वेल्स, कॉर्निशऔर ब्रेटन) को असभ्य, भदेस और ज्ञानोत्पादन या साहित्य-रचना के लिए अनुपयुक्त माना जाता था। सैमुअल जॉनसन और उनके समकालीन विद्वान, ऑलिवर क्रॉमवेल द्वारा स्कॉटिश लोगों को ठोक-पीटकर दुरुस्त करने की कार्रवाई के समर्थक थे : 'रोमनों ने दूसरे राष्ट्रों के साथ जो किया था, वही काफ़ी हद तक क्रॉमवेल ने स्कॉट्स के साथ किया। उन्होंने स्कॉटिश लोगों को जीतकर सभ्य बनाया और उपयोगी हिंसा के ज़रिए उन्हें शान्तिपूर्वक रहने की कला से परिचित कराया।'[15] सैमुअल जॉनसन ने जब 1747 में अंग्रेज़ी भाषा का शब्दकोश बनाने का प्रस्ताव लिखा तो स्वयं को सीज़र के उन सिपाहियों के आईने में देखा जिनके कंधों पर बरतानवी द्वीप समूह के वासियों को सभ्य बनाने की ज़िम्मेदारी थी :

हालाँकि मुझे उस विजय को सम्पूर्ण करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, लेकिन मुझे कम से कम इतनी उम्मीद तो है ही कि मैं उसके (बरतानिया के) तट की खोज तो कर ही लूँगा, उसके निवासियों के एक हिस्से को सभ्यबना लूँगा, और दूसरे साहसिक अभियानकर्ताओं के लिए रास्ता आसान कर दूँगा ताकि वे और आगे जाकर उसे पूरी तरह अधीनस्थ करके नियम-क़ानूनों के तहत उनका स्थाई बन्दोबस्त कर सकें।[16]

जॉनसन के इस कथन की एक से ज़्यादा व्याख्याएँ की गई हैं। लेकिन एक बात सभी मानते हैं कि जॉनसन उस समय तक अंग्रेज़ी को सभ्य भाषा मानने के लिए तैयार नहीं थे, जब तक वैयाकरणों और शब्दकोश निर्माताओं और अन्य भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा उसे नियम-क़ानूनों में बाँधकर यूनानी और लैटिन के समकक्ष न बना लिया जाए। शेरिडन के उद्धरण में हम देख ही चुके हैं कि अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में ये भाषाई रणनीतिकार किस प्रकार अंग्रेज़ी को एक बर्बर और असभ्य भाषा के रूप में ही देखते थे। इस लिहाज़ से उनमें अपनी भाषा के प्रति कमतरी का गहरा अहसास था।

अकादमिक तर्क-योजना

शेरिडन और जॉनसन के नेतृत्व में भाषाई रणनीतिकारों की टोली ने अंग्रेज़ी को क्लासिक भाषा बनाने के लिए जिस अकादमिक तर्क-योजना का इस्तेमाल किया, उसकी एक संक्षिप्त बानगी इस प्रकार देखी जा सकती है :

इन रणनीतिकारों ने मानवशास्त्रीय अटकलबाज़ी के साथ पुनर्जागरणकालीन अधकचरे भाषाशास्त्र को जोड़कर असभ्य भाषाओं और सभ्य भाषाओं की दो श्रेणियाँ बनाईं। इसमें एडम स्मिथ, उनके शिष्य ह्यू ब्लेयर और लॉर्ड मोनबोडो ने प्रमुख भूमिका निभाई। इन विद्वानों का दावा था कि असभ्य भाषाएँ मनुष्य की आदिमावस्था की देन हैं। अमरीका के मूलवासियों का हवाला देकर कहा गया कि उनके पास चूँकि पर्याप्त शब्दों का अभाव है इसलिए उनकी भाषाओं में जानवरों के चीत्कार की ध्वनियाँ हैं, और उन्हें अपनी अतिरेकपूर्ण दैहिक भंगिमाओं के माध्यम से अपनी बात कहनी पड़ती

[15] यह उद्धरण थॉमस बीच (वही) से। उन्होंने इसे जॉनसन की रचना *अ जर्नी टू द वैस्टर्न आइलैण्ड ऑफ़ स्कॉटलैण्ड* से लिया है।

[16] यह उद्धरण भी थॉमस बीच (वही) से। उन्होंने इसे जॉनसन की रचना *द प्लान ऑफ़ अ डिक्शनरी ऑफ़ द इंग्लिश लैंग्वेज* से लिया है।

है। ब्लेयर और मोनबोडो ने भाषा के विकास को इंसान में आयु के साथ बढ़ने वाली परिपक्वता के साथ जोड़ा। इस तरह उन्होंने दिखाने की कोशिश की कि लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा से पता लगाया जा सकता है कि उनके राष्ट्र का चरित्र कैसा है, उनके राज्य का ढाँचा क्या है और उनकी प्रगति का स्तर कैसा है। इस तरह की तर्क-योजना के ज़रिए यह लोग अंग्रेज़ी के मानकीकरण की आवश्यकता पर बल देना चाहते थे। साफ़तौर से अट्ठारहवीं सदी के इस भाषाई प्रयोजन में एक औपनिवेशिक स्वैरकल्पना रूपाकार हो रही थी। इस फ़ैण्टेसी में तथाकथित असभ्यों को भाषाई और सांस्कृतिक शिशुओं की तरह पेश किया जा रहा था, उन शिशुओं की तरह जिनके पास सभ्य लोगों की तरह शब्दकोश लिखने, भाषाई सिद्धान्त गढ़ने और व्याकरण तैयार करने की क्षमता हो ही नहीं सकती थी।

इस सिद्धान्तशास्त्र में सभ्य भाषाओं का दर्जा केवल यूनानी और लैटिन को दिया गया था। शेरिडन का मानना था कि इन भाषाओं के वक्ताओं का उच्चारण और लहजा शुद्ध होता है। मोनबोडो का दावा था कि होमर के ज़माने से तुर्कों के ज़माने तक, यानी तीन हज़ार साल की अवधि के बावजूद, यूनानी में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है। यह विद्वान इस बात से बहुत प्रभावित थे कि यूनानी वक्तृत्वकला का अध्ययन करके रोमनों ने मात्र अस्सी साल में अपनी भाषा को सुधारकर उसका मानकीकरण कर डाला। चूँकि अन्य प्राचीन राष्ट्र ऐसी भाषा की रचना नहीं कर पाए जो देश-काल से परे जाकर उनकी संस्कृति की दावेदारियाँ पेश कर सके, इसलिए वे राष्ट्र ऐतिहासिक स्मृति से विलुप्त हो गए। यूनान ने अपनी राजनीतिक संस्थाएँ, दर्शन और विज्ञान को मिस्र और फ़नीशिया से हासिल किया, लेकिन उनके पास यूनानी जैसी क्लासिक भाषा नहीं थी। इसलिए वे इतिहास से मिट गए, और ऐतिहासिक स्मृति में यूनान ही रह गया। इसलिए ग्रेट ब्रिटेन को मिस्र और फ़नीशिया जैसा नहीं बनना है, बल्कि उसे यूनान जैसा बनना है।

इस तरह की सैद्धान्तिक आधारभूमि स्थापित करने के बाद इन विद्वानों (ख़ासकर जॉनसन और शेरिडन) ने 'अपनी भाषा के लिए थोड़ा संघर्ष करने' का आह्वान किया ताकि बरतानिया के असभ्यों को अंग्रेज़ी के मानकीकरण के ज़रिए सभ्य बनाया जा सके। वे भाषा को अधिकतम स्थिर करने के पक्ष में थे। चूँकि वे यह भी जानते थे कि भाषा में होने वाले परिवर्तनों को पूरी तरह से रोका नहीं जा सकता, इसलिए उनका कहना था कि परिवर्तन की प्रक्रिया को ज़्यादा से ज़्यादा धीमा कर दिया जाना चाहिए। यह इसलिए ज़रूरी समझा गया ताकि महान लेखकों की रचनाओं को आने वाली पीढ़ियाँ शब्दकोश और निघण्टु की मदद के बिना पढ़ सकें। शुरू में, इन आने वाली पीढ़ियों में केवल बरतानिया के लोग ही शामिल थे, लेकिन बाद में इनके साथ बरतानिया के उपनिवेशों के वासियों की पीढ़ियों को भी जोड़ लिया गया। इसके लिए उदाहरण चौसर का दिया गया जिन्हें अट्ठारहवीं सदी के पाठकगण बहुत मुश्किल से पढ़ पाते थे। कहा गया कि अगर भाषा इसी तरह बदलती रही तो आगे चलकर यही हाल शेक्सपियर और मिल्टन का भी होने वाला है। मानकीकरण की प्रक्रिया में सबसे ज़्यादा दिक़्क़त जिस बात ने पहुँचाई, वह थी अंग्रेज़ी की स्पैलिंग (वर्तनी) का सुधार। यूनानी की तर्ज़ पर भाषा-वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि अंग्रेज़ी को भी अधिक से अधिक

मानकीकरण की प्रक्रिया में सबसे ज़्यादा दिक़्क़त जिस बात ने पहुँचाई, वह थी अंग्रेज़ी की स्पैलिंग (वर्तनी) का सुधार। यूनानी की तर्ज़ पर भाषा-वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि अंग्रेज़ी को भी अधिक से अधिक फ़ॉनेटिक (स्वरानुकूल) बनाया जाना चाहिए। तभी अंग्रेज़ी बोलने वालों से शुद्ध उच्चारण की अपेक्षा की जा सकती है।

फ़ॉनेटिक (स्वरानुकूल) बनाया जाना चाहिए। तभी अंग्रेज़ी बोलने वालों से शुद्ध उच्चारण की अपेक्षा की जा सकती है। लेकिन जल्दी ही शेरिडन और उनकी मण्डली की समझ में आ गया कि अंग्रेज़ी को पूर्णरूपेण स्वरानुकूल नहीं बनाया जा सकता। अंग्रेज़ी को पूरी तरह से फ़ॉनेटिक न बना पाने की कमी की भरपाई शेरिडन ने अपने द्वि-खण्डीय शब्दकोश *जनरल डिक्शनरी ऑफ़ इंग्लिश लैंग्वेज. वन मेन ऑब्जैक्ट ऑफ़ विच, इज़, टू स्टैबलिश अ प्लेन एण्ड परमानैण्ट स्टैण्डर्ड ऑफ़ प्रनन्सिएशन. टू विच इज़ प्रीफ़िक्स्ड अ रेटॉरिकल ग्रामर* (1780) में हर शब्द के उच्चारण के बारे में सटीक हिदायतें देकर की। ऐसा करने वाले वे पहले शब्दकोश निर्माता थे। उनसे पहले शब्दकोशों में कुछ ही शब्दों के उच्चारण दिए जाते थे।[17]

> प्रामाणिक राष्ट्रीय साहित्य और उसकी चिरन्तर वाहक के रूप में परिनिष्ठित अंग्रेज़ी का यह ऐतिहासिक आख्यान हमारे सामने एक ऐसा विचार भी रखता है जिस पर हिन्दी की दुनिया में अभी तक पर्याप्त ग़ौर नहीं किया गया है। यह है साहित्य की साम्राज्यवादी भूमिका या साहित्य को साम्राज्य-रचना की प्रौद्योगिकी के तौर पर प्रयुक्त करना।

एक प्रामाणिक राष्ट्रीय साहित्य (कैनन) कल्पित किया गया। उसे बरतानिया की सारी जनता की सम्पत्ति घोषित करने के लिए साहित्यिक उत्पादन के स्वामित्व को 'हमेशा के लिए कॉपीराइट' की श्रेणी से निकालने के क़ानूनी प्रयास किए गए। इस प्रक्रिया में एक नया सूत्रीकरण सामने आया, जिसके तहत भाषा को 'माँ' के रूप में देखने की अवधारणा उभरी। अंग्रेज़ी, बरतानवी लोगों की मातृभाषा घोषित कर दी गई क्योंकि वह भविष्य की पीढ़ियों के लिए प्रामाणिक राष्ट्रीय साहित्य की वाहक थी। एक बार जब अंग्रेज़ी को बरतानवीपन की 'माँ' बना लिया गया, तो शेरिडन और जॉनसन ने इस भाषा को स्त्री-देह के आईने में देखना शुरू कर दिया। उन्होंने कहना शुरू किया कि माँ की यह देह कुछ ज़्यादा ही 'सरन्ध्र' है यानी दूसरी संस्कृतियों के शब्द इन गुंजाइशों में घुसपैठ करके इसे अपवित्र कर देते हैं। जॉनसन ने तो अंग्रेज़ी नामक इस स्त्री को एक ऐसी अनियन्त्रित देह के रूपक की तरह पेश किया जो आसानी से क्षय और विकृति का शिकार हो सकती है। अर्थात, इन विद्वानों की निगाह में, अंग्रेज़ी नामक यह माँ निकट और दूरगामी भविष्य में राष्ट्रीय साहित्य को बार-बार जन्म और पुनर्जन्म देने की ज़िम्मेदारी केवल नियन्त्रित, संयमित और व्यवस्थित करने की शर्त पर ही पूरी कर सकती थी। शेरिडन ने अपनी रचना ब्रिटिश एजुकेशन में जॉनसन की ही तर्ज़ पर 'अंग्रेज़ी' नामक स्त्री को एक ऐसी छिनाल के तौर पर चित्रित किया, जो भड़कीले फ़्राँसीसी ज़ेवरात पहनती है और वेश्या की तरह सजधज कर युवकों की कामनाओं को भड़काने के ज़रिए चारों तरफ़ संक्रमण फैलाती फिरती है। अंग्रेज़ी के मानकीकरण की ज़रूरत पर ज़ोर देने के लिए अपनाई गई इस युक्ति के ज़रिए शेरिडन अंग्रेज़ों से अपील करना चाहते थे कि अगर इस देह को पवित्र बनाए रखना है और इसे विकृतियों को जन्म देने से रोकना है तो उसे विनियमित करना ही होगा।[18] प्रामाणिक राष्ट्रीय साहित्य और उसकी चिरन्तर वाहक के रूप में परिनिष्ठित अंग्रेज़ी का यह ऐतिहासिक आख्यान हमारे सामने एक ऐसा विचार भी रखता है जिसपर हिन्दी की दुनिया में अभी तक पर्याप्त ग़ौर नहीं किया गया है। यह है साहित्य की साम्राज्यवादी भूमिका या साहित्य को साम्राज्य-रचना की प्रौद्योगिकी के तौर पर

[17] शेरिडन के उद्यम के इस पक्ष का यह ब्यौरा रिचर्ड बेली (1991) से। देखें, उनकी रचना का अध्याय *'इंग्लिश इम्प्रूव्ड'*।

[18] अंग्रेज़ी के मानकीकरण के इस पक्ष को और साम्राज्य-निर्माण के साथ उसके आन्तरिक सम्बन्ध की विशद व्याख्या के लिए देखें— सोरेनसन,जैनेट (2000), *द ग्रामर ऑफ़ एम्पायर इन एटीन्थ-सेंचुरी ब्रिटिश राइटिंग*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज।

प्रयुक्त करना।[19] इस लेख के अगले हिस्से में इसपर भारतीय सन्दर्भों में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

अन्तर्विरोध और जटिलताएँ

जॉनसन और शेरिडन, और उनके समकालीन विद्वान, अट्ठारहवीं सदी में अंग्रेज़ी के जिस अलौकिक साम्राज्य की नींव रख रहे थे, उसकी दावेदारियों को उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से अभिव्यक्ति मिलने लगी। लेकिन, इससे पहले कि अंग्रेज़ी का यह ऐतिहासिक आख्यान आगे बढ़े– यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि अंग्रेज़ी को लैटिन और यूनानी के समकक्ष 'क्लासिक' बनाने के इस संयुक्त अभियान में लगे विद्वानों के बीच छोटे-मोटे मतभेदों की प्रकृति क्या थी, और इन भाषाई रणनीतिकारों की दुविधाएँ क्या थीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सैमुअल जॉनसन बरतानवी उपनिवेशवाद के आलोचक थे। अंग्रेज़ी के ज़रिए ग्रेट ब्रिटेन की जिस प्रगति की उन्होंने कामना की थी, या बरतानिया के भाषाई असभ्यों को सभ्य बनाने के लिए 'उपयोगी' हिंसा तक की वक़ालत करते हुए उन्होंने जिस आन्तरिक उपनिवेशवाद का समर्थन किया था, उसकी सीमाएँ उनकी कल्पना में ग्रेट ब्रिटेन की सीमाओं से परे नहीं जाती थीं। लेकिन, इसमें भी कोई शक नहीं कि अंग्रेज़ी के मानकीकरण ने सैमुअल जॉनसन के नेतृत्व में जिन विचारधारात्मक रूपकों को प्रचलित किया, उन्होंने आने वाली पीढ़ियों के उन अंग्रेज़ी-पक्षकारों के लिए उत्प्रेरण की भूमिका निभाई जो उनकी तरह बाह्य उपनिवेशवाद के विरोधी नहीं थे। उनके समकालीन थॉमस शेरिडन ने संकोचहीन होकर बरतानिया और उसकी भाषा की साम्राज्यिक भूमिका पर ज़ोर दिया। शेरिडन के यह विचार जॉनसन के विचारों से अन्तर्गुम्फित होकर अंग्रेज़ी के अलौकिक साम्राज्य की विचारधारात्मक आधारशिला बन गए।

अंग्रेज़ी के मानकीकरण ने सैमुअल जॉनसन के नेतृत्व में जिन विचारधारात्मक रूपकों को प्रचलित किया, उन्होंने आने वाली पीढ़ियों के उन अंग्रेज़ी-पक्षकारों के लिए उत्प्रेरण की भूमिका निभाई जो उनकी तरह बाह्य उपनिवेशवाद के विरोधी नहीं थे।

जॉनसन जैसा अन्तर्विरोध अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के कुछ और बरतानवी बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों में दिखाई देता है। एक असहमत बुद्धिजीवी की आत्मछवि रखने वाले यह लोग अरुचिकर क़िस्म के बरतानवी उपनिवेशवाद के नष्ट होने की कल्पनाएँ करते थे, लेकिन उन्हें अंग्रेज़ी और उसके प्रामाणिक साहित्य की उत्तरजीविता के रूप में अलौकिक साम्राज्य के बचे रहने की सम्भावनाओं से गहरी राहत महसूस होती थी। इन्हीं में एक थीं आन्ना लैटिश्शा बारबॉल्ड, जिन्होंने अपनी बहुचर्चित कविता एटीन हण्ड्रेड एण्ड इलैवन में बरतानिया के साम्राज्य के ध्वंस की कल्पनाएँ करके 'टोरियों' को बुरी तरह से नाराज़ कर दिया था। लेकिन बारबॉल्ड इस बात से सन्तुष्ट थीं कि यूनान और रोम की तरह बरतानिया का पराजित साम्राज्य स्थिर और मानकीकृत अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से अपनी संस्कृति का प्रकाश फैलाता रहेगा। थॉमस कार्लाइल इसी तरह के एक और विख्यात बुद्धिजीवी थे, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी में ही बरतानिया के उपनिवेशवाद के विनाश को कल्पित कर लिया था। बारबॉल्ड की तरह कार्लाइल भी इस बात से मुतास्सिर थे कि उपनिवेशवाद रहे या न रहे,

[19] अंग्रेज़ी में इस तरह का अनुसंधान काफ़ी उपलब्ध है। नमूने के लिए देखें— रायन,डेरमॅट (2013), *टैक्नोलॉजीज़ ऑफ़ एम्पायर : राइटिंग, इमैजिनेशन, एण्ड द मेकिंग ऑफ़ इम्पीरियल नैटवर्क्स,* 1750–1820, यूनिवर्सिटी ऑफ़ डेलावेयर प्रैस, न्यूआर्क।

उनकी मातृभाषा अंग्रेज़ी दुनिया के कोने-कोने में बरतानवी साहित्यिक संस्कृति का उत्पादन और पुनरुत्पादन करती रहेगी।

अंग्रेज़ी के मानकीकरण के इस अभियान में ऐसी शक्तियाँ भी शामिल थीं, जो 'कैल्टिक पेरिफ़री' यानी स्कॉटलैण्ड, आयरलैण्ड और वेल्स से आई थीं। जैसे, एडम स्मिथ और उनके शिष्य ह्यू ब्लेयर स्कॉटिश थे। जैनेट सोरेनसन ने दिखाया है कि बरतानिया की ग्लोबल साम्राज्यिक परियोजना में स्कॉटिश लोगों को किस तरह जूनियर पार्टनर बनाया गया। अट्ठारहवीं सदी के मध्य में जिस समय इंग्लैण्ड के बौद्धिक जगत में स्कॉटलैण्ड की हर चीज़, ख़ासकर उसकी भाषा, को नीची निगाह से देखा जाता था और स्कॉटोफ़ोबिया अपने चरम पर था, उस समय स्मिथ और ब्लेयर जैसी हस्तियों को अंग्रेज़ी का पक्ष लेने में कुछ आत्मग्लानि की अनुभूति होती थी। इसके प्रभाव में वे बीच-बीच में स्कॉटिश भाषा की प्रशंसा में भी बोलते थे। सोरेनसन के मुताबिक़, एक तरह से यह लोग 'खण्डितमनस्कता' के दौर से गुज़रते रहते थे। लेकिन, अन्ततः ऐतिहासिक परिस्थितियाँ स्कॉटलैण्ड के हाईलैण्ड क्षेत्र के मुक़ाबले उसके रोमन प्रभाव में रचे-बसे लोलैण्ड क्षेत्र के समाज को उसी सांस्कृतिक पूँजी के रुतबे के सामने नतमस्तक होने की तरफ़ ले जाती थीं, जो इंग्लैंड की देन थी। स्मिथ, ब्लेयर और स्कॉटिश ज्ञानोदय के अधिकतर हस्ताक्षर लोलैण्ड क्षेत्र के ही थे।[20]

1801 से 1855 के बीच के यह उद्धरण पढ़कर ऐसा लगता है कि सारी दुनिया उस समय अंग्रेज़ी पढ़ने, सीखने, बोलने और लिखने के लिए उफ़नी पड़ रही थी। कहा जा रहा था कि अंग्रेज़ी ने लोगों के दिल जीत लिए हैं और वह उनके स्नेह का पात्र हो गई है, जबकि तलवारों और तोपों से ऐसी जीत हासिल नहीं की जा सकती।

अट्ठारहवीं सदी में किया गया 'अपनी भाषा के लिए थोड़ा संघर्ष करने' का आह्वान उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही अंग्रेज़ी के विश्वविजयी किरदार के रूप में रंग लाया। अंग्रेज़ी की 'महानता' और 'क्लासिसिज़्म' की जो दावेदारियाँ सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में कल्पनातीत थीं, और जिन्हें अट्ठारहवीं सदी में काफ़ी हिचक के साथ सम्भावनाओं की श्रेणी में रखकर बोला जाता था, वे उन्नीसवीं सदी में एक स्वयंसिद्ध तथ्य में बदल गईं। रिचर्ड बेली ने आलोचनात्मक दृष्टि से अंग्रेज़ी का सांस्कृतिक इतिहास लिखते हुए इस सदी में अंग्रेज़ी के बारे में कही गई बातों के उद्धरण सिलसिलेवार ढंग से पेश किए हैं। 1801 से 1855 के बीच के यह उद्धरण पढ़कर ऐसा लगता है कि सारी दुनिया उस समय अंग्रेज़ी पढ़ने, सीखने, बोलने और लिखने के लिए उफ़नी पड़ रही थी। कहा जा रहा था कि अंग्रेज़ी ने लोगों के दिल जीत लिए हैं और वह उनके स्नेह का पात्र हो गई है, जबकि तलवारों और तोपों से ऐसी जीत हासिल नहीं की जा सकती। सुझाव दिए जा रहे थे कि 'असभ्यों के एक राष्ट्र को अधीनस्थ करने के लिए गोला-बारूद और तोपचियों पर चालीस हज़ार पाउण्ड ख़र्च करने की बजाय ट्यूटरों और किताबों पर एक हज़ार पाउण्ड ख़र्च करना बेहतर है।' 1829 में यह दावा किया गया कि एशिया में इस भाषा को सीखने की इच्छा बहुत प्रबल दिख रही है, इसलिए अगर बिशप हेबर की सलाह मान कर समुचित सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ तो अगले पचास साल में यह हिन्दुस्तानी की जगह ले लेगी। 1846 में कहा गया कि साहित्यिक युद्ध में श्रेष्ठता हासिल करने के लिए अंग्रेज़ी दुनिया के कोने-कोने में आदिम बस्तियों में संघर्ष कर रही है। अब वहाँ के देशज वासी समृद्धि, सुधार

[20] देखें— सोरेनसन,जैनेट (2000), वही, इण्ट्रोडक्शन।

और सत्ता हासिल करने के लिए इस भाषा को अपनाएँगे।

उन्नीसवीं सदी के यह वर्ष अंग्रेज़ी भाषा के पक्षकारों के लिए अपने हाथों से अपनी पीठ ठोकने के थे। इस दौर में एक और प्रवृत्ति देखी गई– अंग्रेज़ी बोलने वालों की बढ़ती हुई संख्या को बढ़ा-चढ़ा कर बताने की प्रवृत्ति। अंग्रेज़ी के समर्थक इस मामले में एक-दूसरे से होड़ कर रहे थे, और बरतानिया राज्य इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए पीएचडी की डिग्री देने तक के लिए तैयार था। जो जितनी चमकदार अटकल लगाता था, उसकी उतनी ही वाहवाही होती थी। यह सब अनुमानित संख्याओं का खेल था, जिनमें यह मान लिया गया था कि जहाँ-जहाँ बरतानवी उपनिवेशवाद है वहाँ-वहाँ लोग अपनी भाषाएँ छोड़कर अंग्रेज़ी अपनाते चले जाएँगे। आख़िरकार, पक्षकारों को इस बात में कोई सन्देह ही नहीं था कि उनकी भाषा सबसे सरल, सबसे सुन्दर, हर तरह के विचारों को व्यक्त करने में सबसे अधिक सक्षम होने के साथ-साथ निर्विवाद रूप से कला और विज्ञान की, व्यापार और वाणिज्य की, सभ्यता और धार्मिक स्वतन्त्रता की भाषा है। यह दावा बार-बार किया जाता था कि अंग्रेज़ी में विभिन्न तरह के ज्ञान का भण्डार है, जिसकी वजह से अंग्रेज़ी अपनाने वाला राष्ट्र सभ्यता और ईसाइयत के दायरे में आ जाता है। अंग्रेज़ी के एक समर्थक ने तो यहाँ तक कह दिया कि जो अंग्रेज़ी नहीं जानता वह उसी तरह से वंचित और दुखी है जिस तरह से ग़रीबी और अकाल के मारे होते हैं।[21]

[21] उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ी के समर्थन में कही गई बातों के विश्लेषणात्मक संकलन के लिए देखें— बेली,रिचर्ड (1991), वही, अध्याय *'वर्ल्ड इंग्लिश'*।

अभय कुमार दुबे वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज विश्लेषक हैं। विगत दो दशक से विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी एस डी एस) दिल्ली में भारतीय भाषा कार्यक्रम के सीनियर फेलो हैं एवं हिन्दी शोध पत्रिका *प्रतिमान* के सम्पादक हैं।
सम्पर्क : abhaydubey@csds.in

स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता : चाह, चुनौती और राहें

हृदयकान्त दीवान

पिछले दिनों राज्य शैक्षिक प्रबंधन और प्रशिक्षण संस्थान मध्यप्रदेश एवं प्रशासन अकादमी, भोपाल द्वारा हाई स्कूल और उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के प्राचार्यों के लिए एक परिचर्चा आयोजित की गई। इस परिचर्चा में मुख्य वक्ता हृदयकान्त दीवान थे और उन्होंने 'स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता के मायने' विषय पर अपने विचार साझा किए। उनके वक्तव्य की मुख्य बातें थीं कि लोकतंत्र में शिक्षा सभी के लिए बराबरी के मौके, न्याय और मानवीयता पैदा करने के लिए है। साथ ही यह कि शिक्षक के प्रति हमारा नजरिया संतुलित होने की ज़रूरत है और शिक्षा तभी शिक्षा है जब वह उपयोगी और अर्थपूर्ण हो। प्रस्तुत लेख इस परिचर्चा को सम्पादित कर तैयार किया गया है। सं.

कंचन जैन* : मैं शिक्षा के बैकग्राउण्ड से नहीं हूँ, लेकिन शिक्षकों के प्रति मेरी जो भावना है वह एक छोटे-से दोहे से बताना चाहूँगी। दोहा कबीरदासजी का है और सदैव मेरा प्रिय रहा है;

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांए।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताए।।

गुरु की कृपा के बग़ैर आगे बढ़ना बहुत मुश्किल है। गुरु केवल प्रोफेशनली गुरु ही नहीं होते हैं, हमारी माँ, हमारा परिवार, हमारा समाज यह सभी हमारे गुरु हैं। कई बार परिस्थितियाँ भी हमारी गुरु होती हैं परन्तु यहाँ हम बात कर रहे हैं प्रोफेशनल गुरुओं की। इसी सन्दर्भ में कबीरदासजी का एक और दोहा है;

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट।।

शिक्षक हमारे समाज के एक-एक बच्चे की पर्सनेलिटी को बनाने में, विकसित करने में मदद करते हैं, और आप जैसे सुधी शिक्षकों के सामने मुझे इसके विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं है।

हमने अपने शिक्षकों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त की है, जो भी बने हैं अपने गुरुओं के कारण ही बने हैं। एक छोटा-सा उदाहरण देंगे- बोनसाई पौधे की जो थ्योरी है, सिस्टम है उसमें पौधे को अपनी पसन्द का शेप तब देते हैं जब वह बहुत छोटा होता है, कोमल होता है। उसका तना, पत्तियाँ सब कोमल होती हैं तब शेप देना आसान होता है और तभी सम्भव भी होता है। बड़े हो जाने के बाद नहीं दे सकते। बड़े हो जाने के बाद तो शेप देने के लिए उसे केवल काट सकते हैं। दुर्भाग्य से हमारे देश में प्राइमरी स्कूल को, प्राइमरी एजुकेशन को ज़्यादा महत्त्व नहीं देते हैं। हम लोग महत्त्व देते हैं हायर एजुकेशन को, टेक्निकल एजुकेशन को, यूनीवर्सिटी एजुकेशन को और पीएच.डी. करने को। लेकिन जब पौधा सही ही नहीं बना, टेढ़ा हो गया या उसका बीज ही अच्छा नहीं था तो आगे चलकर क्या होगा? और यही शिक्षा में हो रहा है। हमारे एजुकेशन सिस्टम में जो गड़बड़ियाँ आ रही हैं, वह इसी कारण से आ रही हैं। मैं ज्ञानी नहीं हूँ, पर मुझे ऐसा लगता है कि शायद यही कारण हैं। जिन-जिन देशों में

* कंचन जैन आर सी व्ही पी नरोन्हा प्रशासन अकादमी भोपाल की महानिदेशक रही हैं।

प्राइमरी एजुकेशन को महत्त्व दिया जाता है उन देशों की अगली पीढ़ी में बहुत ही डिसिप्लिन बना हुआ है। शिक्षित लोग कौन हैं, शिक्षित किसे कहेंगे यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। ज़रूरी नहीं है कि वे डिग्रीधारी हों, टेक्निकल कोर्स करें, यह करें, वह करें तभी शिक्षित होंगे। यह ना करें, तब भी वह शिक्षित हो सकते हैं। और शिक्षा कैसे पता चलती है? डिग्री से पता नहीं चलती। हमारे पास कुछ क़ाबिलीयत होनी चाहिए। हम समाज के नियमों को मानें, हम एक-दूसरे का ध्यान रखें और हमारा व्यक्तित्व अच्छा बने, इंसान की तरह बनें हम, यही तो शिक्षा के मूल उद्देश्य हैं। डिग्री नहीं होती है शिक्षा।

मुख्य वक्ता : हृदयकान्त दीवान

मुश्किल है, कहाँ से शुरू करूँ? बहुत-सी ऐसी बातें कही गई हैं जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें एक बार फिर से दोहराना और समझना बहुत ज़रूरी है।

पहली बात यह कि हमारे समाज में शिक्षक के लिए क्या जगह है? और किस तरह की जगह है? यह एक बड़ा प्रश्न है और यह हर दृष्टि से बड़ा है, चाहे उसकी आर्थिक स्थिति को देखें, प्रशासनिक स्तर पर उसके जो मसले हैं उन्हें निपटाने का मामला है, या फिर बच्चों के मन में उसके लिए क्या स्थान है, क्या इज़्ज़त है आदि। यह समझना बहुत मुश्किल भी है, पर ज़रूरी भी है। ऐसा क्यों है कि एक तरफ़ तो हम यह मानते हैं और मन से मानते हैं कि गोविन्द और गुरु में से गुरु का महत्त्व ज़्यादा है, वही हमें गोविन्द से मिलाने की राह दिखाता है (हालाँकि गोविन्द का रूप अलग-अलग हो सकता है)। दूसरी तरफ़ हमें शिक्षा में काम करने वालों को व प्राचार्यों, अफ़सरों, पालकों, राजनीतिज्ञों, सरकारी नुमाइन्दो, सामान्य जन और ख़ुद शिक्षकों के एक हिस्से को भी ऐसा लगता है कि ऐसे तंत्र बनाने की ज़रूरत है जो लगातार उनपर निगरानी रख सकें। अतः मुझे ऐसा लगता है कि शिक्षा का यह पूरा मसला इन दोनों धाराओं के बीच फँसा है, और हमें इन दोनों धाराओं को समझने की और इनसे जूझने की ज़रूरत है।

कंचन जैन : शिक्षक अपने काम से इसलिए भी असन्तुष्ट रहते हैं कि वह मजबूरी में शिक्षा में आते हैं। बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो अपनी पसन्द से शिक्षक बनते हैं।

नीरज दुबे* : मैं आपकी बात से सहमत हूँ लेकिन सौ फ़ीसदी सहमत नहीं हूँ। जो शिक्षक होता है वह दिल से होता है। दबाव या मजबूरी में शिक्षक नहीं बनना चाहिए। यदि मेरे अन्दर पढ़ाने का जज़्बा नहीं है तो मुझे कितना भी पैसा दो तब भी मक्कारी करूँगा, कामचोरी करूँगा। क्योंकि शिक्षण एक धर्म है।

हृदयकान्त दीवान : मुद्दा चिन्तन का है, जिसपर हम सब को चिन्तन करना है। इस वक़्त सबसे बड़ा प्रश्न है कि शिक्षक की उस गरिमा को कैसे वापस लाएँ। साथ ही यह सोचने की भी ज़रूरत है कि अधिकांश बातें जो हम कहते रहे हैं; वह आधा सत्य है, पूरा सत्य नहीं है। ऐसे बहुत से लोग शिक्षक बनते हैं, जो वास्तव में शिक्षक बनना चाहते हैं और ऐसे लोग यहाँ इस परिचर्चा में भी होंगे। ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो रेलवे की सर्विसेज़ में जाते हैं, जबकि रेलवे की सर्विसेज़ में जाना नहीं चाहते, वह आईएएस/आईपीएस बनना चाहते हैं। लेकिन रेलवे की सर्विस में उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं होता जैसा शिक्षक के साथ होता है। उनकी आत्मछवि भी वैसी नहीं बनती। वैसे भी रेलवे की सर्विस में, पुलिस में, प्रबन्धन आदि में जाने की इच्छा इस कारण से नहीं है कि लोग उन व्यवसायों के बारे में जानते हैं या मन से वहाँ जाना चाहते हैं, वे तो इन व्यवसायों के बारे में समाज में बनी धारणाओं व इनकी चकाचौंध के कारण वहाँ जाते हैं। लेकिन इनमें से कोई भी व्यवसाय उतना भावनात्मक व मानसिक निवेश नहीं माँगता जितना शिक्षक का कार्य माँगता है। हर रोज़ नया कुछ सिखाना है व नया करवाना

* नीरज दुबे आयुक्त, लोकशिक्षण रहे हैं।

है और हर साल बिल्कुल नए समूह से शुरुआत। यह पेशा इन सब नए सम्बन्धों को आत्मीयता व दूरी के बीच सन्तुलन की धार पर रखकर निभाने की अपेक्षा करता है। यह सारे सम्बन्ध सीखने वालों के विकास के साथ-साथ विकसित होकर बदलते जाते हैं और शिक्षक से भी इन सभी के सन्दर्भ में विदित होने व बदलने की अपेक्षा करते हैं। शिक्षक से जो तमाम अपेक्षाएँ हैं वह बहुत बड़ी भी हैं और ज़्यादा भी हैं, और हमें इन अपेक्षाओं में कोई अन्तर्विरोध नज़र नहीं आता है। मुझे लगता है कि शिक्षक के व्यवसाय और काम को थोड़ा और गहराई से समझने की ज़रूरत है।

शिक्षण : अपेक्षाएँ व चुनौतियाँ

यह समझना चाहिए कि शिक्षक का काम बहुत मुश्किल है और वह हर व्यक्ति जिसका स्कूल से सरोकार है, शिक्षक से अलग-अलग अपेक्षाएँ रखता है। साथ ही यह अपेक्षाएँ इतनी अलग-अलग व कहीं-कहीं इतनी विरोधाभासी हैं कि शिक्षक तो क्या कोई भी इंसान आसानी से इन सभी अपेक्षाओं को एक साथ पूरा नहीं कर सकता है। यही वजह है कि हम अपने शिक्षक साथियों को हमेशा कमज़ोर पाते हैं, और मानते हैं कि अगर उन्होंने भी ज़्यादा नम्बर पाए होते तो शायद कुछ और हो गए होते, शिक्षक नहीं होते। हम यह भी जानते हैं कि सभी लोग (जिनमें हमारे साथी भी शामिल हैं) जो ज़्यादा नम्बर पाते हैं, हमेशा ज़्यादा जानते नहीं हैं। नम्बर पाना और विषय की समझ दोनों एक साथ नहीं चलती। इसलिए यह समझना बहुत ज़रूरी है कि शिक्षक और शिक्षा को अगर बदलना है तो उसमें सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी समाज की है। शिक्षक की जिस इज़्ज़त की बात हम कहते हैं, उसको वह इज़्ज़त हम देना शुरू करें।

एक और बात जिस पर सोचने की ज़रूरत है वह यह कि कुछ भी गड़बड़ हो जाए तो हम पूरे शिक्षक समाज को दोष देते हैं, यह कहते हैं कि 'आजकल के शिक्षक ऐसा करने लगे हैं।' यह नहीं कहते कि 'आजकल के डॉक्टर ऐसा करते हैं', और कहते भी हैं तो बहुत कम कहते हैं। क्योंकि डॉक्टर से हमारा ख़ुद का नाता पड़ता है, शिक्षक से हमारा नाता बचपन में ही अधिक था। हम अपने उन शिक्षकों की इज़्ज़त करते हैं, उन्हें याद करते हैं जिन्होंने हमें पढ़ाया (कम से कम कुछ को तो ज़रूर) लेकिन जिन शिक्षकों से हमारे बच्चे पढ़ते हैं, उन शिक्षकों की हम वैसी इज़्ज़त नहीं करते और न ही उनको अपने बच्चों की दृष्टि से देख पाते हैं।

मैं, यहाँ आपसे पालक के रूप में भी बात कर रहा हूँ, क्योंकि हम शिक्षक भी हैं और पालक भी। यह बहुत बड़ी मुश्किल है कि हम अपना बचपन पुनः याद नहीं करते। हम यह भूल जाते हैं कि उस समय भी हमने और हमें पढ़ाने वाले शिक्षकों ने बहुत ग़लतियाँ की होंगी। किन्तु हमें सिर्फ़ यह दिखता था कि शिक्षक हमें पढ़ा रहे हैं। वे हमें कभी मारते भी थे, डाँटते भी थे किन्तु वे हमें प्यार भी करते थे और हम यह सब समझते थे। शिक्षकों का अपने छात्रों के (यानी हमारे) साथ एक घनिष्ठ रिश्ता था।

लेकिन आज हम अपने बच्चे के शिक्षक से या शिक्षकों से बात करते हैं तो उन्हें ऐसे आँकते हैं कि वह अगर ख़ुदा से थोड़ा-सा भी कम हो गए तो वह नालायक़ हो गए। मुझे लगता है कि यह बड़े मसले हैं जिन पर हमें विचार करने की सबसे अधिक ज़रूरत है। हम में से जो प्राचार्य हैं, ख़ासतौर पर उन्हें अपने शिक्षकों के बारे में यह भी सोचने की ज़रूरत है कि हर शिक्षक की अपनी मजबूरी है, अपनी परिस्थिति है, अपनी कार्यकुशलता और कार्य मोटिवेशन है। हम हरेक से उसी मोटिवेशन की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं जो हम स्वयं में मानते हैं। अगर हम हरेक को अपने मानदण्डों पर अपनी तरह से आँकेंगे तो लोगों को फ़ेल ही होना है, उनके गुण, उनकी परिस्थिति अलग है। और जो फ़ेल हो गया वह कभी पास नहीं हो सकता। यह बात, जो हम लोग एनसीएफ 2005 के बाद कहने लगे हैं और कुछ हद तक मानने लगे हैं, कि मूल्यांकन तो होना चाहिए,

पास-फ़ेल नहीं होना चाहिए, अतः हमारे साथी जो काम करते हैं, उनका आकलन भी ऐसे ही होना चाहिए। अक्सर हम उस मीटर से उनको नापते हैं जो मीटर उनके लिए उपयुक्त नहीं है। एक बार हमने उनको फ़ेल कर दिया तो उनके लिए पास होना बहुत मुश्किल है। क्योंकि जो सम्बन्ध हम अकसर बना पाते हैं, जो उत्साह हम उनको मिलने पर /उनके कुछ करने पर देख पाते हैं, हम उन्हें फ़ेल करने के बाद नहीं देख पाते। क्योंकि उन्हें बौना कहकर हम उन्हें, वे जो हैं उससे भी बौना कर देते हैं। इससे जो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सामने आता है वह यह कि– प्राचार्य, कमिश्नर, सेक्रेटरी, चीफ सेक्रेटरी के पद के रूप में शिक्षक के पद की गरिमा को वास्तव में मानना व महसूस कर पाना और यह समझना कि सभी शिक्षक उतने और उस ढंग से मोटिवेटेड शायद नहीं हो सकते हैं जितने मोटिवेटिड हम हैं। पुनः यह पहचानना और तब व्यवहार में व्यक्त करना भी बहुत ज़रूरी है।

यह ज़रूरी नहीं है कि मोटिवेटेड शिक्षकों का विज़न भी उतना बड़ा हो जितना एक चीफ सेक्रेटरी का। सचिव व कमिश्नर को इतने सारे स्कूलों को देखने, व्यापक लोगों से अन्तर्क्रिया करने, कार्य के दौरान पढ़ने व सीखने के लगातार मौक़े मिलते रहते हैं। वे पुस्तकालयों में जाकर पढ़ सकते हैं, सेमिनार में जाकर पूरे ज़िले, प्रदेश, देश की शैक्षिक परिस्थिति, सम्भावना आदि समस्या के बारे में बात करते हैं, एनसीएफ पर चर्चा करते हैं। ऐसे मौक़े एक प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्कूल के शिक्षक को नहीं मिलते। एक प्राइमरी स्कूल के शिक्षक के लिए पूरा दिन बच्चों के साथ बिताना ज़रूरी है। बुरा नहीं मानिएगा, शिक्षक के पास इस तरह के बौद्धिक व विचारात्मक विलास की जगह नहीं है। उसके अनुभव के दायरे में वह जो करता है, उसमें वह जो सीखता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसका महत्त्व हम लोगों को पहचानना और समझना ज़रूरी है। साथ ही उसने जो सीखा है, उसे व्यक्त करने व उस पर मनन करने की जगह देने व इसकी सम्भावना बनाने की ज़रूरत है। यहाँ मैं साथ-साथ यह ज़रूर कहना चाहूँगा कि किसी भी वर्ग में समाज के कुछ अलग तरह के लोग होते ही हैं, लेकिन उन कुछ अलग तरह के लोगों के नाम पर हम उस पूरे वर्ग के साथ, सारे ढाँचे के साथ वैसा ही व्यवहार करें, ग़लत है। मुझे लगता है कि यह ग़लती हम लोग शिक्षक के पेशे के साथ करते रहे हैं, इससे मुश्किलें और बढ़ रही हैं।

शिक्षण : स्वायत्तता और आज़ादी

मुझे याद है और आपको भी याद होगा जब हम स्कूल में पढ़ते थे, हमारे शिक्षक स्वतंत्र थे। वह किताब कौन-सी इस्तेमाल करेंगे, कैसे पढ़ाएँगे, क्या करेंगे, इस पर किसी की निगरानी नहीं थी। उसमें भी अच्छे लोग थे, अच्छे शिक्षक थे, ख़राब शिक्षक भी थे यह हम सब जानते हैं। हम कुछ शिक्षकों के ज़्यादा क़रीब थे, हमें लगता था वह ज़्यादा मेहनत से पढ़ा रहे हैं। कुछ शिक्षक आकर ऐसे ही पढ़ाकर चले जाते थे। लेकिन अगर हम पचास में से, बीस में से, जो दो-चार शिक्षक, इस तरह के हैं, उनके कारण सबके ऊपर नकेल लगाना शुरू करेंगे तो हम में से कोई भी शिक्षक नहीं बनना चाहेगा। अगर विश्वास हटेगा, नकेल लगेगी और सब कुछ निर्देशों के आधार पर करना है तो फिर मैं शिक्षक के रूप में अपने आप कुछ नहीं कर सकता। आप सीबीएसई स्कूल, जो हमारे सबसे अच्छे कहलाने वाले स्कूल हैं, के प्रिंसिपल से पूछें तो वे आपको पूरा कार्यक्रम बताएँगे कि किस दिन, किस कक्षा में, क्या पढ़ाया जाएगा यह पहले से तय है। उसी के हिसाब से सबको चलना है। कई राज्य इस तरह के केन्द्रीयकरण की होड़ में हैं। इस होड़ में फँसने पर यह समझ नहीं आता कि हमें कम्प्यूटर अथवा रोबोट चाहिए या शिक्षक। यह एक और मसला है जिसपर विचार करना चाहिए। शिक्षक की गरिमा के साथ शिक्षक की स्वायत्तता, स्वतंत्रता और शिक्षक की ईमानदारी पर विश्वास किया जाना ज़रूरी है। इस विश्वास के बग़ैर उससे कोई भी अपेक्षा करना उचित नहीं लगता है। जब मानना

यह है कि वह कुछ सोच नहीं सकता, कुछ तय नहीं कर सकता, फिर यह बहुत मुश्किल है कि वह वास्तव में ख़ुद सोचे, ख़ुद अपने उत्साह से, पहल से कुछ करे। और अगर वे यह नहीं करेंगे तो बच्चों को भी ख़ुद से सोचने के, करने के अनुभव नहीं दे सकते। इन दोनों चीज़ों में एक सन्तुलन की ज़रूरत है– हम कैसे और कितनी निगरानी करें, किस बात की निगरानी करें, जिससे स्वायत्तता, पहल और अकादमिक ज़िम्मेदारी तीनों में शिक्षक की भूमिका अहम बनी रहे।

एक और बात समझनी आवश्यक है, बच्चे सिर्फ़ स्कूल में नहीं सीखते, स्कूल आने पर ही सीखना शुरू नहीं करते। हम सभी स्कूल आने से पहले बहुत कुछ जानते थे, वैसे अब यह समझ बनती जा रही है। बच्चा अब कुछ और अधिक समझता है, जानता है और ऐसे बच्चे जो स्कूल में नहीं जा पाते वह भी अपने जीवन की सभी ज़रूरतें पूरी कर पाते हैं। ऐसा नहीं है कि जो स्कूल में नहीं गया वह व्यापार नहीं कर सकता, धन्धा नहीं चला सकता, अपना जीवन नहीं चला सकता। वह यह सब कुछ कर सकता है। इन सबके क्या निहितार्थ हैं? पहली बात यह कि इंसानी बच्चे में सीखने की क्षमता बहुत है, अपरम्पार है, उसका मुक़ाबला नहीं है। दूसरी बात यह कि स्कूल बच्चे को बनाने का एकमात्र साधन नहीं है।

इसके अलावा, जैसा एनसीएफ 2005 में कहा भी है, कि हम मानते हैं कि अगर बच्चा सीख नहीं पाया तो उसमें कहीं न कहीं स्कूल की ज़िम्मेदारी है, और इस पूरे ढाँचे की ज़िम्मेदारी है, यह सब सिर्फ़ शिक्षकों की ही ज़िम्मेदारी नहीं है, पालक की ज़िम्मेदारी नहीं है। ढाँचे को सोचना होगा कि यह बच्चा जो घर में इतना समर्थ है स्कूल में क्यों नहीं सीख पाया। बच्ची जो सुबह उठकर सबके लिए रोटी बना लेती है, घर साफ़ कर लेती है, छोटे भाई-बहनों को सम्भाल लेती है, वह स्कूल में क्यों नहीं पढ़ पाती? इस सवाल का जवाब सोचना पड़ेगा। मैं एक गोल रोटी भी बेल नहीं सकता फिर भी प्रोफ़ेसर हूँ और वह बच्ची जो पढ़ना सीख नहीं पाई वह नालायक़ है। यह जो पूरी विडम्बना है, यह क्यों है। हमारी स्कूली शिक्षा इन बहुत सक्षम बच्चों को ऐसे क्यों अलग-थलग, और दरकिनार कर देती है?

स्कूल में आकर बच्चे क्यों नहीं सीख पाए और क्या नहीं सीख पाए जैसे मसलों पर अगर हम सोचें तो इसकी ज़िम्मेदारी सबसे ज़्यादा सरकारी स्कूलों पर डाली जाती है। क्यों सरकारी स्कूलों पर डाली जाती है? क्योंकि हमारे जैसे पालक जिनके पास कुछ पैसा आ जाता है, कुछ सम्भ्रान्तता आ जाती है उन्हें लगता है कि उनके बच्चे प्राइवेट स्कूल में पढ़ लें, उनको अँग्रेज़ी आनी चाहिए, टाई और बेल्ट लगाएँ आदि। और फिर यह ग़रीब बच्चों के साथ बैठेंगे तो ख़राब बातें ही सीखेंगे, तो किसी प्राइवेट स्कूल में डालें। लेकिन वे बच्चे जो हमारे सरकारी स्कूलों में आते हैं, वे असल में इस देश की रीढ़ हैं। पूरा देश प्रमुख तौर पर इन्हीं से बनता है, और देश की भावना, देश की भूमिका, देश जो कर पाएगा वह इन बच्चों के द्वारा तय होता है।

स्कूल का ढाँचा, मान्यताएँ व आकलन

मैं भी एक ऐसे स्कूल में पढ़ा हूँ जिसे सोसाइटी चलाती थी। हमारे सभी शिक्षकों का वेतन सरकार से आता था। इन स्कूलों में सब बच्चों के साथ जैसा व्यवहार था, जिस-जिस तरह के बच्चे एक साथ आते थे, उनमें जिस तरह के संस्कार मिलते थे, वे संस्कार उन स्कूलों में नहीं मिलते जहाँ एक ही तरह के बच्चे आते हैं। यही वजह है कि इस देश के एक होने का मसला, सरकारी स्कूल के ढाँचे के बने रहने में, उसके फैलने से अहम रूप से जुड़ा है। क्योंकि ग़रीब हो, अमीर हो, किसी भी पृष्ठभूमि के बच्चे हों वे वहाँ बैठकर पढ़ते हैं, खेलते हैं, एक-दूसरे से बातचीत करते हैं। यह महत्त्वपूर्ण संस्थान हैं, हम सब को यह समझकर इनको सपोर्ट करने की ज़रूरत है।

अकसर हम लोग सुनते हैं कि सरकारी स्कूलों के बच्चे सीखते नहीं हैं, प्राइवेट स्कूल के बच्चे सीखते हैं। इन सभी आँकड़ों का विश्लेषण किया जाए, तो उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि हम बच्चों की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर दोनों स्कूलों के आँकड़ों को देखें तो सरकारी स्कूल में बच्चे कम नहीं सीखते हैं। असल में हमारा माप बहुत सीमित है, विषयों के सीखने को ही हम मापते हैं। इनके अलावा बच्चे सरकारी स्कूल में क्या-क्या और भी पॉजिटिव चीज़ें सीखते हैं, उनकी बात हम नहीं करते हैं। ना ही यह बात करते हैं कि प्राइवेट स्कूल में बच्चे क्या-क्या ऐसी और चीज़ें सीखते हैं जिनको शायद सीखने की ज़रूरत ही नहीं है।

मुझे लगता है कि यह एक तरह का प्रचार है कि सरकारी स्कूल फ़ेल हो गए हैं, सरकारी स्कूलों को बन्द कर देना चाहिए। स्कूलों का निजीकरण कर देना चाहिए, यह एक भ्रामक कथन है। इस कथन का हमें पुरज़ोर विरोध करना है और यह करके दिखाना है कि सरकारी स्कूल फिर से समाज में वह स्थान हासिल कर सकते हैं जो हमारे ज़माने में होता था। क्योंकि हमारे ज़माने में प्राइवेट स्कूलों में हमारी पृष्ठभूमि के सब बच्चे नहीं जाते थे।

इसमें दो बातें इम्पोर्टेण्ट हैं; एक तो 'असर' के समकक्ष ही कुछ अन्य रिपोर्टों की बात मैं यहाँ कर रहा हूँ।

इन रिपोर्टों में यह देखने की कोशिश नहीं है कि सरकारी और प्राइवेट स्कूल के आँकड़ों को एक ही तरह से बच्चों की पृष्ठभूमि के आधार पर मैप करके उनका अध्ययन करें। और फिर उन रिजल्ट्स को विश्लेषित करें तो पाएँगे कि उनमें भी कोई फ़र्क़ नहीं है।

इसके अलावा स्कूल में जो हो रहा है, उसे देखने का 'असर' का और हम लोगों का नज़रिया अलग-अलग हो सकता है। इसलिए इस बारे में, कोई टिप्पणी मैं यहाँ नहीं करना चाहता हूँ। यह एक विस्तृत मतभेद का मसला है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो इससे जुड़ी है और ज़रूरी है, वह यह है कि हम शिक्षा को समझते कैसे हैं? अगर हम समझते हैं कि अक्षर पढ़ना, अंक पढ़ना और ऐसे और टुकड़े हासिल करना ही शिक्षा है तो 'असर' व उस जैसी अन्य रिपोर्टों को ज़्यादा गहराई से पढ़ना पड़ेगा व ज़्यादा महत्त्व देना होगा। अच्छी बात यह है कि आज हमारा देश यह कर रहा है। हम यह समझ लें कि शिक्षण व शिक्षा, सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया है, तब हमें 'असर' की रिपोर्ट को नज़रन्दाज़ कर देना चाहिए। क्योंकि 'असर' की रिपोर्ट इस बात को ही देखती है कि वह लड़की जो स्कूल में आई, उसने प्राथमिक स्तर के अक्षरों को जानने, अंकों को जानने में क्या नहीं हासिल किया। वह यह नहीं देखती कि उसने वहाँ क्या पाया। अगर हम समझ के विकास को न देखकर अक्षरों व अंकों को ही देखेंगे तो फिर से हम एक और बहुत बड़ी भूल करेंगे, वैसे यह भूल हम लगातार कर रहे हैं। हम लोग शिक्षा को बहुत कम आँकते हैं और उसके महत्त्व को और कम कर रहे हैं। हम सब यही नापने में लगे हैं कि बच्चे ने कक्षा 1 के अन्तर्गत कितने अक्षर सीखे। यह क्यों सही नहीं है इसके लिए मैं आपको एक उदाहरण देना चाहूँगा।

बोलने की दृष्टि से देखें तो, दो साल का कोई एक बच्चा पहले बोलना शुरू करता है कोई बाद में शुरू करता है। कोई बच्चा दो साल तक आते-आते भी बहुत कम बोलता है लेकिन तीन-साढ़े-तीन साल तक आते-आते सामान्य तौर पर कोई ऐसा बच्चा नहीं रहता जो आपको अपनी बातों से हतप्रभ न कर दे। आप यह सोचने लगते हैं कि वह चुप क्यों नहीं होता, हर चीज़, हर जगह बोलता है। आप यह देखकर भी हैरान रह जाते हैं कि वह क्या-क्या समझता है, और तो और आप जो उसको नहीं समझाना चाहते वह उसे भी जानता है। इसका मतलब यह हुआ कि बच्चों की सीखने की गति का कोई एक निश्चित समय नहीं है, उतना निश्चित समय नहीं है जितना निश्चित समय इस बात के लिए ज़रूरी है जो बता सके कि छह महीने तक

बच्चे ने दो शब्द सीखे होंगे या चार। या फिर वह कौन-कौन सी आवाज़ें निकाल सकेगा। इसी तरह चलने के बारे में और अन्य गतिविधियों के बारे में भी देख सकते हैं। तो फिर कैसे कहें कि इतने अलग-अलग तरह के बच्चे कक्षा-1 के मध्य तक या अन्त तक इतना-इतना सीख ही लेंगे। सारे परीक्षण इस तरह की परिकल्पना पर आधारित हैं। हम यह तो नहीं समझते कि बच्चे कौन-से रास्तों से और कितने समय में और क्या-क्या सीखते हैं पर शायद यह ज़रूर जानते हैं कि यह रास्ते एक-से नहीं होते, परन्तु फिर जाने क्यों परीक्षणों के सन्दर्भ में यह भूल जाते हैं। पाठ्यक्रम की रचना हमेशा एक चुनौती वाला कार्य है, ख़ासतौर पर तब जब हमारे परीक्षणों के परिणाम यही बताएँ कि बच्चों को क्या नहीं आता या वह कितना पीछे हैं। इससे क्या करना चाहिए और कैसे पर कुछ समझ नहीं मिलती क्योंकि हम यह नहीं जानते कि उन्हें क्या समझना व करना आ गया है। इस मुद्दे को हम यहीं छोड़ते हैं क्योंकि यह अपने आप में बहुत बड़ा मुद्दा है। इन परीक्षणों की कल्पना व रचना में बड़े गैप हैं।

हम यहाँ पर एक-दो की ही बात करेंगे। सबसे पहला है, पढ़ना आता है या नहीं। 'पढ़ना आया या नहीं' के लिए परीक्षणों का विश्लेषण करते समय आपको यह सोचना पड़ेगा कि पढ़ने का अर्थ क्या है? क्या पढ़ना अक्षर या शब्द पहचानना है? इसके सीखने का क्रम क्या है? कोई क्रम है भी या नहीं? क्या इस क्षमता को मापने के लिए उपयोगी तरीक़ा उसकी क्षमता का ठीक-ठाक आकलन कर सकता है? इसी तरह से बाक़ी सभी मसले हैं। इनके बड़े स्तर पर आकलन में इसी तरह के सवाल हैं कि हम जिसका आकलन करना चाहते हैं क्या हम उसे समझते हैं? क्या हम उस तक पहुँचने के रास्ते को जानते हैं? जब तक हम इन प्रश्नों पर विचार नहीं करेंगे कि पढ़ने का अर्थ क्या है, गणित का अर्थ क्या है, विज्ञान का अर्थ क्या है, तब तक हम यह भी आँक नहीं सकते कि हम जो अभी आकलन की प्रक्रिया कर रहे हैं वह कैसी है। क्या वह उपयुक्त व पर्याप्त है या हम शिक्षा को बहुत सीमित कर रहे हैं ? मैं तो सिर्फ़ अभी यहाँ किताब के ज्ञान के सन्दर्भ की बात ही कर रहा हूँ कि उसको भी हम सीमित कर देते हैं। मैं उस ज्ञान की बात नहीं कर रहा हूँ जो सामाजिक रूप से बहुत ज़रूरी है देश के लिए, समाज के लिए। उस ज्ञान का तो आकलन करने का हमने सोचा ही नहीं है; कि जो बच्चे स्कूल में एक साथ बैठते हैं, एक-दूसरे से लड़ते हैं, एक-दूसरे के साथ खेलते हैं, वह क्या सीखते हैं।

सीखने की ऊर्जा है प्रोत्साहन

हम अगर अपने बचपन को याद करें तो हमें यह समझ में आएगा कि अपने पूरे जीवन का रहस्य हमने साथियों के साथ खेलकर, उनके साथ उठ-बैठकर, उनके साथ झगड़ों में जाना है। अतः स्कूल का महत्त्व हम कब ठीक से पहचानेंगे और समझेंगे– कि स्कूल सिर्फ़ अक्षर और अंक तक सीमित नहीं है और इसीलिए, सरकारी स्कूल की भूमिका, बाक़ी अन्य स्कूलों से अलग है। वह सिर्फ़ खेल का मैदान नहीं है बल्कि वह एक अलग तरह के साथ का मौक़ा देता है।

कल ही मैं एक बच्चे की कहानी पढ़ रहा था। एक शिक्षिका बच्चों को पेंटिंग सिखा रही थी। शिक्षिका ने कहा कि चलो सब चित्र बनाओ, सबने चित्र बनाए। इस बच्चे ने भी खूब रंग लगाए, उसकी कलम टूट गई फिर भी उसने सब रंगों को मिलाकर चित्र बनाया, पूरे रंग हाथ से भी फैला दिए। फिर शिक्षिका ने कहा, 'चलो, सब अपने चित्र बोर्ड पर लगा दो।' सभी चित्र बोर्ड पर लगाए गए। वहाँ उसका चित्र देखकर सारे बच्चे हँसने लगे। शिक्षिका उसके चित्र के पास गई। उसे ध्यान से देखा और चित्र के उन सारे हिस्सों की तारीफ़ की जिन हिस्सों में उसने रंग फैलाया था। शिक्षिका ने समझाया कि कैसे यह एक रंग के शेड्स का इस्तेमाल दिखाता है, इससे क्या छवि मिलती है। कहानी कहती है कि, बच्चे पर, ऐसा असर पड़ा कि उसने हर

चीज़ में मन लगाना शुरू कर दिया। यह सिर्फ़ बच्चों के लिए ज़रूरी नहीं है, हमारे अपने और साथियों के साथ संवाद करने और एक-दूसरे के साथ बात करने में भी ज़रूरी है।

हर एक इंसान को अच्छा सुनने की ज़रूरत होती है, बच्चे को भी होती है, शिक्षक को भी होती है, हमें भी होती है। अगर आपकी झूठी तारीफ़ हो तो आपको पता भी लगता है कि झूठी तारीफ़ हो रही है। लेकिन उस झूठी तारीफ़ को सुनकर आप उसे सही करने की कोशिश करते हैं। मूल बात यह है कि हम केवल वही पकड़ें जो थोड़ा-सा ग़लत है, जो थोड़ा-सा ख़राब हो गया है और ज़्यादा बात उसी की करें तो गुस्सा आता है, बहुत बुरा लगता है। जैसे दस चीज़ें बनीं या चार चीज़ें बनीं और एक कुछ ठीक नहीं थी, पर रोज़ तो अच्छी बन रही हैं, आज ही थोड़ी प्रोब्लम हो गई, रोज़ तो तारीफ़ भी नहीं होती, लेकिन आज बस आलोचना ही मिली। यह जो मसला है, यह बच्चों के साथ तो है ही पर यह हर शिक्षक के साथ भी है; एक दिन थोड़े-से लेट हो गए, एक दिन थोड़ी-सी गड़बड़ हो गई, तो आप उसकी बात ज़्यादा करेंगे या उस दिन की बात करेंगे जब उन्होंने अच्छा किया? चूँकि अच्छे की बात करते हैं तो जिस दिन अच्छा नहीं हुआ उसकी बात साथ-साथ बिना कहे ही हो जाती है। इसलिए हो जाती है, क्योंकि आज आपने अच्छा किया तो इसका मतलब कि कल या हर रोज़ तो आपने उतना अच्छा नहीं किया। तो अच्छा आप कर सकते हैं यह बात भी सामने हो जाती है।

मेरा मानना है कि हम सभी जो प्राचार्य की भूमिका में हैं, नेतृत्व की भूमिका में हैं उनके लिए यह सब जानना बहुत ज़रूरी है। जो सीनियर शिक्षक हैं उनके लिए भी बहुत ज़रूरी है कि अपने साथियों से कैसे सीखें।

अच्छा स्कूल : मापदण्ड क्या हों ? कैसे तय हों ?

एक और चीज़ है, जिसपर बात करने की आवश्यकता है। वह यह है कि हम यह सोचने की कोशिश करें कि हम अच्छा स्कूल किसे मानें? शायद इस पर सहमति होना मुश्किल है। लेकिन कुछ मोटी बातें हैं जिनपर सहमति हो सकती है। एक तो हम यह कहते हैं कि स्कूल ऐसा चाहिए जो रोज़ समय पर शुरू हो। कम-से-कम इतना तो होना चाहिए कि स्कूल शुरू हो, और पूरा समय लगे और दूसरा यह कि पढ़ाई हो, सभी कक्षाओं में पढ़ाई हो।

लेकिन फिर सवाल यह है कि पढ़ाई क्या है? किसे हम कहेंगे कि पढ़ाई हो रही है? छात्र व शिक्षकों की उपस्थिति को ही, कुछ किताबों के पढ़ने को, कुछ बोर्ड से नक़ल करने को या फिर और भी कुछ। पढ़ाई का अर्थ क्या है, इस पर बात करने की ज़रूरत है। एक ही पहलू देखें। अगर पढ़ाई का मतलब है पाठ्यपुस्तक पढ़ना तो शायद अधूरा होगा। हम अकसर बात करते हैं कि पढ़ाई पाठ्यपुस्तक तक सीमित नहीं होनी चाहिए। सवाल यह है कि पाठ्यपुस्तक तक सीमित नहीं होने का क्या अर्थ है?

इस सवाल के बारे में सोचना पड़ेगा, और फिर सोचना पड़ेगा कि अगर कक्षा में कोई शिक्षक कविताएँ गा रहा है, तो शिक्षा हो रही है कि नहीं। हमारा क्या रवैया है इस बारे में। अगर एक सामाजिक अध्ययन के शिक्षक ने कहा कि भई आज हम किताब नहीं पढ़ेंगे। आज आप, जहाँ-जहाँ यात्रा पर गए थे, उसका चित्र बनाइए, आपने वहाँ क्या-क्या देखा उसके बारे में पाँच लाइनें लिखिए। इस कक्षा में सामाजिक अध्ययन की शिक्षा हुई या नहीं? मैं सिर्फ़ उदाहरण दे रहा हूँ। हम ऐसे और उदाहरण सोचेंगे व अपने शिक्षकों को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित करेंगे तब हम पाठ्यपुस्तक से पार पा सकते हैं और उससे बाहर आ सकते हैं। लेकिन एक और समस्या है, हम अकसर व्यक्त करते रहते हैं कि पाठ्यक्रम कैसे कवर होगा, तो यह बहुत बड़ी समस्या है। मुझे कृष्णकुमार (भूतपूर्व डायरेक्टर, एनसीईआरटी) की कही एक बात याद आती है। एक ऐसे बहस-मुबाहिसा में उनका कहना था

कि सवाल पाठ्यक्रम को कवर करने का नहीं है, सवाल पाठ्यक्रम को अन-कवर करने का है। जब तक बच्चे के सामने पाठ्यक्रम के मसले अन-कवर नहीं होंगे तब तक वह सीखेगा नहीं। मतलब वह पर्दा जो पाठ्यक्रम में शामिल सारी धारणाओं पर पड़ा है, उस पर्दे को हटा दीजिए। उस पर्दे को हटाने के लिए यह ज़रूरी है कि पाठ्यक्रम सिर्फ पूरा न किया जाए, बल्कि बच्चों को इस पाठ्यक्रम में शामिल अवधारणाओं को खोलने के, उनसे जूझने के, उन पर सवाल करने के अवसर दिए जाएँ। यह पाठ्यक्रम के विश्लेषण का बिलकुल फ़र्क़ नज़रिया है कि हमें पाठ्यक्रम कवर नहीं करना है, किताब पूरी नहीं करनी है। किताब तो शुरुआत है। शिक्षा का उद्देश्य उस किताब को पूरा करना नहीं है, असल में तो किताब कभी पूरी नहीं होगी। वह हमेशा अन-कवर होती रहेगी, उसकी परतें खुलती रहेंगी। जैसे ज़िन्दगी की परतें खुलती हैं, जैसे किसी रचना, कथन के अर्थ की परतें खुलती हैं वैसे ही पाठ्यपुस्तक की अवधारणाएँ भी हैं, उनकी परतें खुलती रहती हैं। अतः यह ज़रूरी है कि बच्चे उन परतों को खोलना सीखें और फिर स्वतंत्र रूप से ख़ुद उसमें जाना शुरू करें। शिक्षक की, स्कूल की, यह ज़िम्मेदारी है वह उस रास्ते में बच्चे को ले जाए जहाँ वह अपने आप नहीं जा सकता। क्योंकि बाक़ी सारी चीज़ें तो वह घर में सीख ही लेता है। जो वह नहीं सीखता है वह है औपचारिक रूप से सोचना-समझना, तर्क करना और उन तर्कों को आगे बढ़ाना। अगर हमने एक बार यह शुरू कर दिया तो फिर बाक़ी की सोच में, सबमें, बच्चा आप पर आश्रित रहे, ऐसा ज़रूरी नहीं है। एक बार आपने किताब पढ़ना सीख ली तो पचास किताबें पढ़ने से कोई आपको रोक नहीं सकता। अगर ज़बरदस्ती आपको एक ही किताब को पूरा करवा दिया गया और आपने ख़ुद से पढ़ना नहीं सीखा, तो फिर आप उस किताब को भी पूरा नहीं कर सके क्योंकि वह भी आपके पास नहीं रहेगी।

मुझे लगता है यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण मसला है स्कूल के सामने, शिक्षक के सामने और प्राचार्य के सामने कि उसके लिए बच्चों को सक्षम पाठक, सक्षम सोचने वाला, सक्षम सीखने वाला बनाने का अर्थ क्या है? यह हर शिक्षक को सोचना होगा, डिस्कवर करना होगा कि वह यह कैसे कर पाएगा। जैसे वह वास्तव में किस विषय में, किस मसले पर बच्चों को सोचने का, पढ़ने का मौक़ा दे सकता है और फिर उस मसले के लिए उसको मेहनत करके जगह बनानी पड़ेगी।

हम लोगों ने जब एनसीईआरटी के लिए गणित की किताब लिखी कक्षा छठवीं, सातवीं-आठवीं की तो कुछ बातों पर विचार किया गया, उनमें से एक थी– भाषा व पढ़ना। अकसर यह माना जाता है कि गणित की किताब में भाषा कम होनी चाहिए, क्योंकि भाषा बच्चों को भ्रम में डाल देती है। उनको तो सवाल करने हैं, सवाल आने के लिए, करने के लिए अगर भाषा कम हो तो कम पढ़ना पड़ेगा, और बच्चा सवाल जल्दी समझ लेगा। कम लिखेंगे तो शिक्षक को पढ़ाना कम होगा। सवाल हल करने के तरीक़े व गुर सिखाना जल्दी व आसानी से हो पाएगा। हम लोगों ने यह कहा कि हमारी किताबें ऐसी होनी चाहिए, जो बच्चे को पढ़कर समझ में आएँ। अगर हम ऐसी किताब लिख नहीं सकते, ऐसी गणित की किताब, जिसको बच्चा ख़ुद नहीं पढ़ सकता है तो हम बच्चे को गणित पढ़ने के लिए तैयार नहीं कर रहे हैं। उन सवालों को तो केलकुलेटर भी कर लेगा और अगर प्रोग्राम कर दो तो कम्प्यूटर तो और भी बहुत सारे सवाल कर लेगा। इससे यह प्रश्न उठता है कि सीखना क्या है?

सीखना क्या है?

'पढ़ाई क्या है'? से ही सम्बन्धित सवाल है कि 'सीखना क्या है'? इंसान का बच्चा गणित (या कुछ और भी) सीख रहा है, तो वह सीख गया है ऐसा तब मानेंगे जब वह कोई नई चीज़ गढ़ सके, नए जुड़ाव देख सके। यानी सीखने का अर्थ है कुछ नया बना पाना, नए, फ़र्क़

नज़रिए से चीज़ों को देख पाना। अगर बच्चा नए सवाल बना सके, अगर बच्चा नए सवालों से जूझ सके, बच्चा ऐसे नए साधन बना सके, जिससे और भी चीज़ बना सके, और वह तरीक़ा/चीज़ प्रस्तुत कर सके, तब तो उसने गणित और कुछ विषय सीखा है, नहीं तो हम कम्प्यूटर, केलकुलेटर का रिप्लेसमेंट ही तैयार कर रहे हैं। उन्हें अपने विवेक व कुशलता से तरीक़ों/चीज़ों को इस्तेमाल करने वाला नहीं बना रहे। इस दृष्टि से हम लोगों ने किताब बनाई और कोशिश यही की कि किताब बच्चा स्वयं पढ़ पाए। उसमें ऐसा इंडिकेशन हो जिससे टीचर को सुझाव मिले और ऐसी जगह भी हो जहाँ बच्चों को ग्रुप में बाँटकर ख़ुद पढ़ने का, समझकर ख़ुद सवाल करने का अवसर हो। किताब भी आग्रह करे कि बच्चे ख़ुद भी सवाल बनाएँ और शिक्षक भी सवाल बनाएँ। अभी तक की बातचीत में दो बिन्दु ख़ास तौर से कहने की कोशिश थी पहला, जब तक शिक्षक स्वयं निर्माणशील नहीं होगा तब तक बच्चा निर्माणशील नहीं हो सकता और दूसरा, हमारी कक्षाओं में ऐसी परिस्थितियाँ बनाई जा सकती हैं जिनमें बच्चे ख़ुद पढ़कर समझें और निर्माणशील बनें।

गणित की किताब उनको कैसी लगती है? इसपर मैंने जितने बच्चों से बात की है, (बहुत सारे बच्चों से तो बात करने का मौक़ा नहीं मिला, क्योंकि मैं लेखन प्रक्रिया में शामिल व्यक्ति के रूप में बात नहीं कर रहा था।) उन्होंने कई बातें खुलकर बताईं। एक तो उन्होंने कहा कि 'उनके शिक्षकों को इस किताब में विश्वास नहीं है, वे किसी गुप्ता की किताब पसन्द करते हैं क्योंकि उसमें ऐसे सवाल हैं जो उनको लगता है परीक्षा में आएँगे।' दूसरा उन्होंने कहा 'किताब अच्छी है, लेकिन हमारे माता-पिता को लगता है कि इसमें तो गणित हुआ ही नहीं, क्योंकि जो चीज़ ख़ुद समझ में आ गई वह गणित कैसे हो सकती है।' यह जो विज्ञान, गणित, अँग्रेज़ी का रुतबा है, इस रुतबे के कारण भी दिक़्क़त है। इसे विडम्बना ही कहेंगे कि, स्कूली ज्ञान की जो बात समझ में आ जाए लोगों को लगता है वह महत्त्वपूर्ण नहीं है, वे उसे ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो बात समझ नहीं आती।

हम हर रोज़ तर्क इस्तेमाल करते हैं, गणित के तर्क इस्तेमाल करते हैं, लेकिन बच्चों को गणितीय कथन को जाँचना कैसे है, परखना कैसे है, सिद्ध करने का अर्थ क्या है, यह नहीं सिखाना चाहते। उनको बस वही बीस थ्योरम (प्रमेय), रटने हैं। हमारे ज़माने में तो हम बीस प्रमेय रटते थे। ऐसे प्रमेय जिनमें से यह समझना व सोचना बहुत मुश्किल होता था कि जब तक रटा न हो तब तक उसका हल कैसे निकलेगा। जो प्रूफ़ गणितज्ञ ने निर्माण किए हैं वह दसवीं क्लास का, ग्यारहवीं क्लास का बच्चा ख़ुद निकाल सके यह अपेक्षा नहीं हो सकती थी, पर और कोई कथन जाँच के लिए, सिद्ध करने के लिए हो सकते थे। हमारा पाठ्यक्रम बहुत व्यापक था। इसके बावजूद कोई ऐसा सवाल नहीं था जिसके बारे में यह अपेक्षा की जा सके कि दसवीं क्लास का बच्चा ख़ुद कर सकता है, अकेले न सही तो समूह में। असल में तो, ऐसे भी नए सवाल नहीं थे जो शिक्षक ही कर सकें। न सवाल थे, न उनकी तैयारी, तो किताब में ऐसी अपेक्षा न होना हमारे यहाँ किसी को अजीब नहीं लगता। विज्ञान की बात करें तो भी हम लोग विज्ञान में ऐसे प्रयोग देते हैं जो स्कूल में हो नहीं सकते और कक्षा में तो हो ही नहीं सकते। ऐसे बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं प्रयोगों के जो प्रशिक्षण में दिए जाते हैं, उनके लिए कुछ-कुछ सामग्री भी दी जाती है, लेकिन उनका पाठ्यपुस्तकों से, परीक्षा से वैसा जुड़ाव नहीं है जैसा होना चाहिए। उनमें से बहुत से तो हो ही नहीं सकते, कुछ बहुत ग़लत हैं जिन्हें सम्भव व सही बनाना होगा।

अतः अगर हम वास्तव में बच्चों को विज्ञान और गणित सिखाना चाहते हैं तो इनके प्रति दृष्टि बदलनी होगी। इस दृष्टि को बदलने की ज़िम्मेदारी किसकी है? मुझे लगता है इस दृष्टि को बदलने के लिए ज़िम्मेदारी हमारी स्वयं की हैं। यह ऐसी चीज़ नहीं है जो कमिश्नर तय करते हैं, सचिव तय करते हैं। यह विज्ञान और

गणित के अध्यापक और प्राचार्य तय करते हैं। सभी समितियों में जब आप पाठ्यक्रम बनाते हैं, और उन सभी जगहों पर जब आप पेपर का ब्लू प्रिंट बनाते हैं और पेपर बनाते हैं, वहाँ चाहे न चाहे यह मन में आ ही जाता है कि ऐसा प्रश्न जो थोड़ा-सा भी खुला है, जिसमें थोड़े-से भी विवेक की गुंजाइश है उसमें तो गड़बड़ हो जाएगी। सवाल ऐसा हो जिसका मात्र एक सत्य उत्तर हो। यानी ऐसे जो भी सवाल हैं, विश्लेषण के हैं, विचार के, कई उत्तर वाले या किसी भी मायने में फ़र्क़ हैं, नहीं हो सकते। जिस सवाल का एक ही उत्तर है, वह सवाल जानकारी का ही हो सकता है। जिन सवालों के कई उत्तर हो सकते हैं, वे ही सवाल हैं जो समझ जाँच सकते हैं। पर हमारी परीक्षाओं में, हमारे आकलन में ऐसे सवाल कभी नहीं आते हैं, क्योंकि हमें डर लगता है कि अगर यह सवाल दे दिया तो लोग मनमर्ज़ी करेंगे। मनमर्ज़ी तो वे फिर भी करते हैं क्योंकि हम चाहते हैं कि बच्चे आगे बढ़ें, पास हो जाएँ किसी तरह। लेकिन अगर हम बच्चों को, अपने अध्यापकों को, अपनी व्यवस्था को इस खुले मंच से सोचने का मौक़ा नहीं देंगे तो हम कैसे यह अपेक्षा करते हैं कि हमारा नागरिक एक खुली व्यवस्था में बात कर सकेगा, बहस कर सकेगा।

हम एक लोकतांत्रिक समाज हैं। हम यह चाहते हैं कि हमारा नागरिक अपने देश के लिए रास्ता तय कर सके, यह सोचने में मदद कर सके कि देश को आगे कैसे बढ़ना है।

यदि हम उनसे यही आग्रह करेंगे कि जो अपेक्षित उत्तर है वही हमेशा देना है और वह एक ही हो सकता है, तो फिर उसके लिए कुछ भी अपना सोचना बहुत मुश्किल है। हमारे शोधकर्ता अभ्यार्थी अच्छे-अच्छे अंक लेकर विदेशों में जाते हैं, कुछ आगे नहीं बढ़ पाते हैं क्योंकि उनकी ट्रेनिंग इसी तरह से हुई है। उन्हें लगता है वही उत्तर देना है जो आपने लिखाया था, आपने बताया था, उत्तर तो उन्हें बताया जाना चाहिए, उन्हें पता करने की आदत ही नहीं है। बहुत कठिन होता है जब यह सीखना पड़ता है। कहीं भी नए सवाल आ जाएँ इसकी तैयारी तो होती नहीं है। अगर हम शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता की बात कर रहे हैं तो यह उसके लिए बहुत बड़ा प्रश्न है कि हम शिक्षा में करना क्या चाहते हैं?

शिक्षा की गुणवत्ता का यह प्रश्न इसलिए ज़रूरी है कि हम अपने लोकतंत्र, अपने संविधान, और उसमें अपने आप को किए वायदे-जिसमें यह वायदे हैं कि हम हरेक व्यक्ति को समाज में शामिल होने का मौक़ा देंगे, व्यवस्था में शामिल होने का मौक़ा देंगे, आगे बढ़ने का मौक़ा देंगे- के प्रति प्रतिबद्ध रहना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि हम इस बात का एहसास करें। यह तभी हो सकता है जब अलग-अलग तरह की सोच, अलग-अलग तरह के उत्तर, अलग-अलग तरह की रचनाएँ सभी कक्षाओं में और परीक्षाओं में आ सकें। सोच व तर्क के सभी तरीक़ों के प्रति संवेदनशील होने की ज़रूरत है। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि सभी उत्तर सही हैं और सभी का एक जैसा वज़न है। यह सही और ग़लत के बीच का पुल बहुत महत्त्व का है। बच्चों की ज़रूरतें, उनका परिवार व उसकी परिस्थिति, सोच का ढंग, बच्चे व उसके सीखने के प्रति दृष्टि सभी महत्त्वपूर्ण हैं। पर उन्हें ज्ञान की मानक कसौटियाँ सीखनी व समझनी भी हैं। यह एक मुश्किल मसला है, और इस मसले का कोई आपको आसान हल नहीं दे सकता। यह हर पल, हर क्षण कक्षा में बात करने, चर्चा करने का मसला है।

काम : बोझ या मज़ेदार अनुभव

स्कूल समय पर लगे और समय पर ही बन्द हो, यह कहने को आसान मसला है किन्तु यह भी मुश्किल है। लोग देर से आने में भी होड़ जैसी करते हैं। आप प्रधान अध्यापक के रूप में किसी एक को छूट देते हैं तो सभी माँगने लगते हैं। क्योंकि मसला यह भी है कि अगर आप किसी को भी ज़्यादा देंगे तो मैं भी आपसे ज़्यादा माँगूगा, आप देर से आएँगे तो मैं भी देर से आऊँगा। फिर आपसी समझ की संस्कृति का

विकास कैसे हो, कि जो लोग जल्दी आ सकते हैं जल्दी आएँ, और जो लोग जल्दी नहीं आ सकते उनके बारे में लोग मान लें कि उनको थोड़ी छूट है। यही आपके नेतृत्व की भूमिका है, क्योंकि इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है। यह दो तथ्य तो हैं ही, इनको हम बदल नहीं सकते। कुछ लोगों की परिस्थिति कठिन है और लोग होड़ करेंगे, तो क्या बदल सकते हैं? एक बात जिसका प्रयास हो सकता है वह यह है कि हम इसके बारे में लोगों की मान्यताएँ बदलने का प्रयास कर सकते हैं। वह कैसे होगा, यही हमें सोचना है। प्राचार्य के रूप में यह हमारे लिए सबसे मुश्किल काम होता है कि लोगों में सामंजस्य बने, उनके आपस की नकारात्मक प्रतियोगिता कम हो। यह कैसे होगा, हम कैसे इसे ऐसी संस्कृति में बदलें कि कोई नाराज़ न हो। यह सबसे बड़ी चुनौती है जो किसी भी नेतृत्व के सामने होती है। कैसे इस होड़ की दिशा बदली जाए। होड़ की दिशा ऐसी हो जिसमें कम करने के बजाय ज़्यादा करने की लगन हो। आप देखेंगे कि बच्चे जब घर में कुछ काम करते हैं, कोई उत्सव होता है तो उसमें बच्चे भी, बड़े भी सब होड़ में होते है कि मैं कर दूँ, मैं कर दूँ, मैं कर दूँ। जब किसी सामूहिक जगह पर लोग इकट्ठा होते हैं तो वहाँ भी कई लोगों का आपस में झगड़ा होता है, ऐसा लगता है कि ज़्यादा करने की होड़ हो। लोग यही कहने लगते हैं, 'जाओ, पहले तुम जाओ, खाना खाओ, मैं करता हूँ, मैं कर देता हूँ। यह जो है हमारे उत्सवों में, बहुत बार घर में भी दिखता है। बाहर तो कई बार हम ऐसा करते हैं, सब ही करते हैं। किन्तु स्कूल में हम जिसको काम मानते हैं, उसमें नहीं करना चाहते।

एक कहानी है, आप सबने बचपन में सुनी होगी। टॉम सायर नाम का एक लड़का था। बचपन से ही बड़ा शैतान था जैसे बच्चे होते हैं, शायद होना चाहिए भी कुछ हद तक। उसको सज़ा दी गई कि आज जब सब बच्चे खेलने जाएँगे, तब वह नहीं जाएगा और दीवार की पुताई करेगा। उसने सोचा 'मर गए।' ख़ैर, उसने शुरू किया और फिर जब उसने थोड़ा-सा हाथ लगाया तो बोर हो गया। बैठ गया, दुःखी हुआ और फिर उसे कुछ सूझा। जैसे ही दोस्त आना शुरू हुए, वह बड़ी तन्मयता से काम में लग गया। उसका सब मज़ाक उड़ाने लगे, 'अच्छा, यह काम कर रहे हो। करो बच्चू करो, हम तो मेले में जा रहे हैं।' टॉम जैसे बहुत ही तल्लीन हो, उनकी अनसुनी, अनदेखी कर लगा रहा। अब बाक़ी बच्चे धीरे-धीरे रुकने लगे। टॉम तो मानो वहाँ था ही नहीं। सभी उसे देखने लगे थे। उन्होंने पूछा, 'क्या कर रहे हो?' दो-चार बार पूछने के बाद मानो टॉम चौंककर उठा हो। बोला, 'अरे अरे जाओ, मेले जाओ, जो मर्ज़ी करो, आज मुझे मौक़ा मिला है पेंट करने का। मैं जैसे मर्ज़ी चाहूँ ब्रश चला सकता हूँ।' उन्होंने कहा, 'हमें भी करने दो।' टॉम बोला, 'नहीं, ऐसे कैसे करने दूँ?' मोटी बात यह है कि उसने सबपर टैक्स लगा दिया। इतना टाइम पेंट करोगे तो उसका इतना दाम है। कोई उसे सुन्दर पत्थर दे गया, कोई अपना कंचा दे गया और सबने लाइन लगाकर पूरी दीवार भी रंग दी और यह बैठे हैं आराम से। उनको सुझाव देते गए, उनपर रोब डालते गए, काम में ग़लती निकालते गए और बताते गए कि ऐसा करो... वैसा करो। यहाँ टॉम ने काम को प्रतियोगिता में बदल दिया। यह कहानी है, वैसे तो अच्छी लगती है पर इसको व्यवहार में लाना मुश्किल लगता है। सवाल यह है कि कैसे हम अपने साथियों के साथ एक संस्कृति विकसित कर दें, जिसमें बच्चे, शिक्षक और आप, जो स्कूल का काम है, जो ज़रूरी है, जैसे घर के काम ज़रूरी होते हैं, उसे मिल-बाँटकर ऐसे करें कि किसी को ऐसा न लगे कि मैं ज़्यादा कर रहा हूँ या मैं कम कर रहा हूँ। इसमें मैं आपको कोई सुझाव, शार्टकट या टिप तो दे नहीं सकता, मैं शायद यह बता सकता हूँ कि मैं कैसे कर सकता हूँ पर वह भी अलग-अलग सन्दर्भो में बदल जाएगा। हरेक को यह रास्ता खोजना होगा।

तो, हम क्या कर सकते हैं?

समय पर स्कूल आने में एक और पहलू है, बच्चों का समय पर आना।

बच्चों को यह तो स्पष्ट हो कि समय पर स्कूल आना ज़रूरी है, पर उसपर कोई बड़ा बवण्डर खड़ा न किया जाए, लेकिन छोटा-मोटा बवण्डर तो खड़ा करना पड़ेगा, नहीं तो वह कहने लगेंगे कि यहाँ तो सब चलता है। सब नहीं चलेगा, यह एहसास हो।

हमारे टीचर पहले आ गए, हमारी प्राचार्या पहले आ गईं, सबसे पहले वह आकर बैठी हैं। सफ़ाई हो गई, कैसी भी हुई। कोई करने वाला है या सबने मिल-जुलकर की। कोई नियम है, व्यवस्था है, एक क्रमबद्धता का माहौल है, तो एक सिस्टम अच्छे से काम कर रहा है। आप एक ऐसे प्लेटफ़ार्म पर जाएँ जो साफ़ है तो आप रद्दी काग़ज़ को मुट्ठी में दबाते है, फेंकते नहीं। और अगर सब तरफ़ कचरा है तो आप भी फेंक देते हैं। एक बुनियादी ढाँचा जो बुनियादी तौर पर काम कर रहा है उस ढाँचे को ख़राब करने में लोगों को थोड़ा संकोच होता है। जो ऐसे ही चल रहा है तो उसमें तो फिर कुछ भी चलेगा, उसे और ख़राब करने के लिए। जब आप नए स्कूल में जाते हैं तो आप ऐसे ही देखते हैं और एक नज़र में तय कर लेते हैं। बाहर से आने वाले के लिए एक ऐसी छवि, ऐसी संस्कृति, ऐसा माहौल पेश करना ज़रूरी है कि वह एक व्यवस्थित काम करने वाला स्कूल व एक स्वस्थ ढाँचा लगे। कैसे कुछ चीज़ें हम लोग मानें कि- स्कूल साफ़ रहेगा, बाथरूम साफ़ रहेगा, साफ़-सफ़ाई रहेगी, स्कूल की घण्टी समय से बजेगी, बच्चे क्लास में बैठेंगे, जो बाहर घूमेंगे वह काम से घूमेंगे। यह जो तस्वीर बनानी है, संस्कृति निर्मित करनी है यह सबसे मुश्किल काम है। पर एक बार यह बस जाए, रम जाए, चालू हो जाए तो फिर इसको बनाए रखना मुश्किल नहीं होता। लेकिन कल्चर को बनाना सबसे मुश्किल काम है। बहुत सारे मसलों पर जहाँ पालकों के साथ स्कूल का सम्बन्ध बहुत अच्छा नहीं है और शायद पालकों की समझ स्पष्ट व सहानुभूति वाली नहीं है तो यह और भी मुश्किल हो जाता है। क्योंकि स्कूल समाज का एक हिस्सा है, जहाँ भी, जिस भी समाज में वह स्थित है, समाज से उसका रिश्ता है, उसका समाज पर प्रभाव है और फिर स्कूल भी उसी रिश्ते से प्रभावित भी है और ग्रस्त भी है। इस रिश्ते को समझना आवश्यक है दोनों ओर से। एमएलए साहब स्कूल में आए तो यह मानकर आएँगे कि स्कूल के फ़ायदे के लिए कुछ बात करेंगे, कुछ माँग लेकर नहीं। माँग लेकर ही आए तो मुश्किल होगा। और कोई मेरे जैसा समाज का प्रभावी प्रोफ़ेसरनुमा सदस्य आकर कहे कि यह आपने कैसे कर दिया? तो उससे भी बात करने के लिए हम लोगों के पास प्रभावी कारण तभी होंगे जब हमारा ढाँचा अपने आप में, ख़ुद में व्यवस्थित होगा। इसके लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यवस्थित रूप से काम करते ढाँचे के विभिन्न हिस्सों के बारे में कुछ बुनियादी सहमति हो। जैसे स्कूल समय पर लगे, समय पर बन्द हो, पीरियड लगें, शिक्षक क्लास में जाएँ। इसे करने के लिए सहमति, सहकार और सौहार्द तीनों चाहिए। इतना अगर हो जाए तो भी चलेगा लेकिन यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि यह कैसे इस्टेबलिश होगा कि स्कूल का मतलब यह है?

ज़रूरी है सभी की भागीदारी

आजकल राष्ट्र की बहुत बात हो रही है। उसके प्रति चिन्ता और उसके प्रति एक आस्था व विश्वास बनाने में स्कूल की भूमिका देखी जाती है। परन्तु राष्ट्र को भी सब लोग अलग-अलग देखते हैं। कोई यह सोचेगा कि गणित के सवालों के उत्तर उतने ज़रूरी नहीं है जितना यह ज़रूरी है कि हर बच्चा एक अच्छा नागरिक बने। इसके अलावा स्कूल से क्या-क्या अपेक्षाएँ हैं इस बारे में सोचने पर बहुत-सी बातों में बहुत अलग-अलग तरह के रास्ते दिखाई देते हैं। जैसे अगर अपेक्षा यह है कि इंजीनियर और डॉक्टर बनाने हैं या आईएएस बनाने हैं तो चूँकि पद सीमित हैं, आईएएस के पद तो और भी सीमित हैं, तो कड़ी प्रतिस्पर्धा चाहिए। यह चाहिए कि सब बच्चे लगातार बेहतर, और बेहतर करने की कोशिश करें। यह अलग बात है कि जो आईएएस बनता है, ज़रूरी नहीं कि वह कड़ी प्रतिस्पर्धा में विश्वास करता हो, या कड़ी प्रतिस्पर्धा करता

हो, लेकिन जो उनको तैयार करने का तरीक़ा है वह तो वैसा ही होगा न। इंजीनियर बनने के लिए आईआईटी की तैयारी हो या फिर आईएएस की तैयारी, इन सब के लिए ख़ासतौर पर उस तरह की कोचिंग करेंगे। दूसरा रास्ता आपको यह कहता है कि हमें इंसान को यह समझना सिखाना है कि वह लोगों के साथ रह सके, उसमें सबसे ज़्यादा ज़रूरी है करुणा सिखाना, औरों को समझना व उनका सम्मान करना। यह ज़्यादा ज़रूरी है। महत्त्व इस बात का है कि आप अपने साथी की मदद कर पाएँ, उसके साथ बैठें, उसको मौक़ा दें समझने का ताकि वह आगे बढ़ पाए। जब आप कक्षाओं में ऐसा काम करें तो मिलकर करें। घर में जाकर माँ की, पिताजी की, आस-पास के लोगों की मदद करें, किताब को याद करने में न फँसे रहें। यानी आपकी दृष्टि ही अगर साफ़ नहीं है कि स्कूल के तौर पर आप क्या करना चाहते हैं, तो मुश्किल है। अगर आप इस बात पर ज़ोर देते हैं कि हर बच्चा महज़ एक परीक्षा की तैयारी के अनुसार अच्छा करे तो कई चीज़ें छूट जाएगी। अतः आप जो भी तय करें उसमें एक ऐसा सन्तुलन हो जिसके लिए आपके पास दृष्टि हो, तर्क हों, और उसमें आपको विश्वास हो। इसके अलावा एक और बात यह कि इस बात को आप नहीं भूलेंगे कि यह आपका स्कूल है और आपका एजेंडा है। आप एजेंडा में परिस्थिति अनुसार, अपने विश्वास के दायरे में संशोधन कर सकते हैं। लेकिन आप यह कभी नहीं कहेंगे कि यार यह स्कूल कैसा चल रहा है। पता नहीं क्या हो गया, मैं तो चला ही नहीं पा रही हूँ। दूसरा यह कि, शिक्षक, बच्चे और पालक उतने ही बड़े स्टेकहोल्डर हैं, जितने कि प्राचार्य। स्कूल सिर्फ़ हम नहीं चला रहे हैं, वह भी चला रहे हैं। अगर स्कूल में कुछ भी परिवर्तन करना है, सुधार होना है तो इन सबकी भागीदारी होना भी बहुत ज़रूरी है। सहमति ज़रूरी नहीं है, भागीदारी ज़रूरी है। दोनों में अन्तर है। यह ज़रूरी नहीं कि सबके सब लोग हर बात पर सहमत हों, वे होंगे भी नहीं। अगर प्राचार्य हर मसले और हर बात पर एक कमेटी बिठाते हों कि आप लोग ही सोचें कि क्या करना है, तो नहीं चलेगा। करना तो यही होगा कि हम तय करें कि क्या करना है। हमारी ज़िम्मेदारी है स्कूल को चलाने की तो हम इसको ऐसे चलाना चाहते हैं, यह हमारे लम्बे समय की दृष्टि है और इसमें यह सुनिश्चित करें कि लोगों की भागीदारी हो और विश्वास हो। सभी का नहीं पर ज़्यादातर का। ज़ाहिर है उसमें कुछ लोग ख़फ़ा होंगे, कुछ लोग परेशान होंगे। उन ख़फ़ा लोगों से, परेशान लोगों से बात करने का हमारे पास धैर्य होना चाहिए, कोई भी और मंत्र काम नहीं करेगा। बस यही मंत्र कि मैं स्कूल को बेहतर करना चाहता हूँ। सरकारी स्कूल का जो ज़िम्मा मुझे मिला है, यह इस देश का बहुत महत्त्वपूर्ण काम है। कोई माने या न माने मैं मानती हूँ और मैं यह करके रहूँगी, जैसे बच्चा ज़िद कर लेता है कि मैं यह करके ही रहूँगा, आप कैसे भी रोको।

बदलाव की ज़िद

एक तीन साल का बच्चा बहुत ज़िद करता है, नहीं मानता है। वैसी ही ज़िद कर लीजिए कि हम अपने स्कूल को ठीक करके ही रहेंगे। मेरा यह विश्वास है कि अगर आप ऐसी ज़िद करेंगे तो आपको विरोध की अपेक्षा ज़्यादा समर्थन मिलेगा। उसमें आपको जो दाम देना है वह है; आप समय पर आएँगे, आप पूरे उत्साह से काम करेंगे और आप धैर्य रखेंगे। बाक़ी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। चूँकि जैसे बच्चा सब कुछ सीख लेता है वैसे ही वयस्क व्यक्ति भी जैसी परिस्थिति है उसमें सब कुछ सीख सकता है। मसला धैर्य का है। किसी को सिखाने की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है सिर्फ़ यह तय करने की कि यह मैंने ठान लिया है और हम सब बहुत सारे ऐसे उदाहरण सुना सकते हैं जिसमें एक बार किसी शिक्षक ने या प्रधान पाठक ने ठान लिया तो उसने स्कूल को बिल्कुल बेहतर कर दिया। कई पीढ़ियों तक बच्चे उस स्कूल में पढ़े और उस समय को आज कई जगह रहते हुए भी याद रखते हैं।

मैं ऐसे ही एक स्कूल में था। हमारे स्कूल

के दो-चार टीचर और प्राचार्य महोदय ने उस समय यह ठान लिया था कि वे स्कूल को बेहतर बनाकर रहेंगे। उनसे ही मैंने यह थोड़े-बहुत गुर सीखे हैं। एक बार उन्होंने स्कूल में काम्पटीशन किया। काम्पटीशन था कि हर क्लास, पूरी कक्षा और टीचर (यानी क्लास टीचर) मिलकर कक्षा-कक्ष को साफ करेंगे, उसके आस-पास के वराण्डे को साफ़ करेंगे। उसमें जो मर्ज़ी करें और यह सुनिश्चित करेंगे कि जिस दिन इन्फेक्शन होगा उस दिन सभी बच्चे नहाकर, साफ़ कपड़े पहनकर, बाल बनाकर आएँगे।

हमारी कक्षा में ऐसे भी बच्चे थे जिनको यह कहने की ज़रूरत थी कि उनके कान साफ़ होंगे, उनकी आँखें साफ़ होंगी, कपड़े साफ़ होंगे। यह एक सामूहिक कक्षा का कार्य था। एक दिन हम लोगों ने झाड़ू लगाई थी, मतलब जिन लोगों ने कभी झाड़ू नहीं लगाई थी उन्होंने भी कोशिश की, ...सफ़ाई में मदद की। फिर हम लोगों में से कुछ ने तय किया कि हम चूना लाएँगे और तब हम लोगों ने टॉम सायर की तरह पूरे कमरे की सफ़ेदी की, जहाँ तक हम पहुँच सकते थे। ख़ूब काम्पटीशन हुआ, कौन करेगा, मुझे लगता है बाक़ी सभी में भी कुछ हुआ होगा (बाक़ी कक्षाओं का मुझे पता नहीं, आज होता तो वहाँ पूछता बाक़ी बच्चों ने क्या किया?)। उसके बाद से हमारी कक्षा का माहौल बहुत बदल गया। हमारी आपसी दोस्ती, हमारा शिक्षकों के साथ सम्बन्ध बहुत बदल गया। जब इंस्पेक्टर आए तो हम यह बिल्कुल तय कर बैठे थे कि हम कुछ भी कमी नहीं रहने देंगे। यह 1968 के अन्त या 1969 की बात होगी, पर यह अनुभव मुझे आज भी याद है। जो इस तरह की चीज़ें हैं, वे सभी बच्चों पर बहुत गहरा असर डालती हैं। इसमें शायद स्कूल को ज़्यादा इन्वेस्मेंट (किसी तरह का निवेश) भी नहीं करना पड़ता है। मैं यह नहीं कह रहा कि सब प्राचार्य इसे करना चाहें और कर पाएँ भी। हो सकता है कि यदि मैं प्राचार्य हूँ और इसमें मेरा विश्वास और आत्मविश्वास न हो तो मैं शायद यह कर ही न पाऊँ, मुझे कुछ और सोचना पड़े। लेकिन यह जो काम है उसको इसी तरह से किसी अन्य रास्ते से भी किया जा सकता है। मूल सवाल सभी में संस्था के प्रति अपनेपन व मिल्कियत की भावना लाने का व कार्य में रुचि पैदा करने का है।

मैं इसे इस प्रकार समेकित (समराइज़) करता हूँ, तीन मूल बातें मैंने कही हैं। यह तीन चीज़ें क्या हैं? पहली यह कि, एक लोकतंत्र में शिक्षा सभी के लिए बराबरी के मौक़े, न्याय, मानवीयता पैदा करने के लिए है। और इस विश्वास के साथ हमें प्रयास करना है कि हर बच्चा सीख सकता है और सीखता ही है। हालाँकि यह सीखना एक ही गति से नहीं होता। यह बात भी हमने की है कि शिक्षक के प्रति रवैया बिल्कुल दो विपरीत पालों के बीच झुक रहा है। उसको एक करने की ज़रूरत है, कहीं भी करें, उसको संतुलित करने की ज़रूरत है। तीसरा, हम गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की बात नहीं कर रहे हैं हम शिक्षा की बात कर रहे हैं। शिक्षा के पहले कुछ भी विशेषण लगाने की जरूरत नहीं। शिक्षा तभी शिक्षा है जब वह उपयोगी, बाँधने वाली हो। शिक्षा शब्द होते ही वह गुणवत्तापूर्ण प्रक्रिया हो जाती है; ऐसा अनुभव जिसमें यह गुण हो कि वह बच्चों को स्वतंत्र सीखने वाला बनाए, स्वतंत्र पाठक बनाए, सोचने वाला, विचार करने वाला बनाए। मसला है शिक्षा को गुणवत्तापूर्ण देने का, ऐसा कैसा प्रयास हो कि वह शिक्षा बच्चों तक पहुँच पाए जो उन्हें स्वतंत्र कर सके। इसके लिए प्रधान पाठक की भूमिका अहम है। उस अहम भूमिका में ठान लेना सबसे महत्त्वपूर्ण है। ठान लेना और विश्वास रखना अपने आप में, अपने स्कूल में और अपने साथियों में और इस बात में कि स्कूल को, सीखने को बेहतर किया जा सकता है।

हृदयकान्त दीवान शिक्षा के क्षेत्र में पिछले चार दशकों से कार्य कर रहे हैं। वे राज्य के शिक्षकीय ढाँचों में शैक्षिक नवाचार और परिवर्तन के प्रयासों से सम्बद्ध रहे हैं। एकलव्य के फॉउण्डिंग सदस्य रहे हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के अनुवाद पहल कार्यक्रम से जुड़े हैं।
सम्पर्क : hardy.dewan@gmail.com

बनवारीलाल माड़साब और उनके सवाल

मोहम्मद उमर

प्राथमिक स्कूल के एक साधारण शिक्षक बनवारीलालजी के सेवाकालीन अनुभवों और उनकी सादगी के माध्यम से मोहम्मद उमर ने अपने आलेख में यह बताने की कोशिश की है कि तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद दूर दराज़ के इलाकों में शिक्षक किस तरह अर्थपूर्ण काम कर रहे हैं। साथ ही लेखक ने इस बात का इशारा भी किया है कि गैर अकादमिक प्रशासकीय दायित्वों के चलते किस प्रकार शिक्षकीय कार्य प्रभावित होता है। बनवारीलाल माड़साब* जैसे जीवट व्यक्ति इन्हीं अनुभवों के ख़ज़ाने से बच्चों के लिए भी सीखने सिखाने के मोती निकाल लाते हैं। सं.

"करि दूँगा, पण दो-पाँच दिनां को टेम तो दो साब!" विनती करते हुए बनवारीलालजी ने कहा। उधर, दूसरी तरफ़ से आ रही ग़ुस्से से भरी एक आवाज़ को कुछ देर सुनने के बाद वे समझ चुके थे कि इस काम को जल्द से जल्द पूरा करके भेजना होगा।

"वा ठीक। हमज ग्यो साब, शनिवार तक भेज दूँगा," यह कहकर उन्होंने फ़ोन रख दिया।

यह फ़ोन, बीईईओ ऑफ़िस, यानी ब्लॉक प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी कार्यालय से था। गाँव में कितने शौचालय बन चुके हैं, कितने में काम जारी है, आदि-आदि... इस तरह की कई सूचनाओं को जल्द से जल्द भेजने के लिए कहा जा रहा था। फ़ोन आने से पहले बनवारीलालजी अपने स्कूल में इस साल नया दाख़िला लेने वाले सभी बच्चों की लिस्ट तैयार कर रहे थे। उन्होंने लिस्ट को अलमारी में रखी फ़ाइलों के बीच दबाकर रख दिया। काग़ज़ों का एक पुलिन्दा अपने हाथ में लेकर निकल पड़े। बाहर 'भोजन माता' अभी आटा सान रही थी।

"टेम ऊँ घण्टी लगाई दीजे और सब टाबराँ ने खाणों खिलाई दीजे...और ध्यान राखजे...कि आपस में लड़ाई-झगड़ो नी करै। मुँ छुट्टीऊँ पैलाँ आई जाउँ," बनवारीजी ने अपनी मोटर साइकिल उठाते हुए कहा। अब रोज़ गाँव में घर-घर घूमकर उन्हें शौचालयों के निर्माण से जुड़ी सारी सूचना इकट्ठा करनी होगी। इन सभी काग़ज़ों को भरना होगा...और शनिवार तक तैयार करके जमा भी कराना होगा।

अभी हाल में ही बनवारीलाल माड़साब ने अपनी उम्र का पचपनवाँ साल पूरा किया है। इसमें से सत्ताइस साल तो उन्होंने राजस्थान के सरकारी स्कूलों में मास्टरी करते हुए बिता डाले हैं। इतने बरसों में इस ज़िले से उस ज़िले, इस ब्लॉक से उस ब्लॉक, इस स्कूल से उस स्कूल, तमाम बार उनका स्थानान्तरण होता रहा है। इसके चलते उन्होंने पूरे राजस्थान के भूगोल को बहुत अच्छे से आत्मसात कर लिया है। फ़लाँ जगह से फ़लाँ जगह की दूरी कितने किलोमीटर है और कहाँ से कितने बजे की बस गुज़रती है, सब कुछ उन्हें ज़ुबानी याद है। यूँ तो पुश्तैनी तौर पर वे भरतपुर ज़िले के रहने वाले हैं,लेकिन पिछले कई सालों से इस इलाक़े में रहकर, आम लोगों के बीच लम्बा वक़्त बिताने के कारण, अब

* मास्टर साहब, स्थानीय बोलचाल में 'माड़साब' कहलाते हैं ।

वे मेवाड़ी और मारवाड़ी भाषा भी ठीक-ठाक समझ-बोल लेते हैं।

सत्ताइस साल पहले बनवारीलालजी ने राजस्थान के सिरोही ज़िले के एक प्राथमिक स्कूल में अकेले शिक्षक के रूप में जॉइनिंग प्राप्त की थी। विभाग आज भी ऐसे स्कूलों को 'सिंगल टीचर स्कूल' या 'एकल विद्यालय' कहकर सम्बोधित करता है, गोया यह कोई बहुत अच्छी योजना हो और विभाग इस योजना को लागू करके बहुत फ़ख़्र महसूस कर रहा हो। रोज़ सुबह धुर बबूल के जंगलों के बीच से तक़रीबन 17 किलोमीटर साइकिल चलाकर (तब उनके पास एक टुटही साइकिल हुआ करती थी) बनवारीलाल माड़साब अपने स्कूल पहुँच पाते थे। गाँव तो क्या था, ढाणी कहिए। कुछ ही घर बसे थे। अकेले थे, सो जो पढ़ा पाते थे, पढ़ा देते थे। कक्षाएँ बस हाज़िरी रजिस्टर पर ही नज़र आती थीं। बच्चों को अलग-अलग बैठाने के लिए न तो कमरे थे और न ही शिक्षक। बीईईओ साब, पूरे ब्लॉक की शिक्षा व्यवस्था को सम्भालने वाले आला अधिकारी थे। वे बस एकाध बार ही इस स्कूल तक आए थे। बाक़ी के काग़ज़-पत्तर का काम समझने-करने के लिए माड़साब को ही ब्लॉक कार्यालय पर बुला लिया जाता था। इस सबके बावजूद बनवारी लाल माड़साब ज़्यादातर बच्चों को दूसरा दर्जा पूरा करने तक किताब पढ़ना और कुछ सरल वाक्यों को लिखना सिखा देते थे। गाँव में माड़साब की इज़्ज़त थी। लोग उनका बहुत मान करते थे।

सत्ताइस साल पहले बनवारीलालजी ने राजस्थान के सिरोही ज़िले के एक प्राथमिक स्कूल में अकेले शिक्षक के रूप में ज्वॉइनिंग प्राप्त की थी। विभाग आज भी ऐसे स्कूलों को 'सिंगल टीचर स्कूल' या 'एकल विद्यालय' कहकर सम्बोधित करता है, गोया यह कोई बहुत अच्छी योजना हो और विभाग इस योजना को लागू करके बहुत फ़ख़्र महसूस कर रहा हो। रोज़ सुबह धुर बबूल के जंगलों के बीच से तक़रीबन 17 किलोमीटर साइकिल चलाकर वे स्कूल पहुँच पाते थे।

तबादलों की ऐसी ही एक प्रक्रिया के तहत तक़रीबन नौ साल पहले बनवारीजी का तबादला पाली ज़िले के एक गाँव में हो गया। यहाँ सबसे अच्छी बात यह थी कि एक शिक्षक पहले से ही नियुक्त थे। लम्बे समय तक अकेले ही स्कूल में काम करने के बाद उन्हें एक और साथी पाकर बहुत अच्छा महसूस हो रहा था। इस स्कूल में कुल 67 बच्चे नामांकित थे। कुछ अपने छोटे भाई-बहन को भी लेकर स्कूल आते थे। माँ-बाप खेतों में मज़दूरी करने चले जाते थे। इन छोटे बच्चों की देखभाल करने वाला घर पर कोई भी नहीं होता था। ऐसे में स्कूल ही सबसे मुफ़ीद जगह थी। माड़साब के काम और विनम्र व्यवहार के चलते जल्द ही इस गाँव के लोग भी दिल से उनकी इज़्ज़त करने लग गए थे। भेड़, बकरी और भैंस पालने वाले घरों से दूध-दही आ जाया करता था। तमाम अलग-अलग क़िस्म की दुश्वारियों के बाद भी बनवारी माड़साब अपने स्कूल के बच्चों की पढ़ाई में किसी क़िस्म का ख़लल नहीं पड़ने देते थे। वे पूरे मन से बच्चों को पढ़ाने का प्रयास करते थे।

अब उम्र बढ़ने के साथ ही उनके पैरों में कुछ तकलीफ़ होने लगी थी। घुटने में दर्द बना रहता था। सो, उन्होंने एक मोटर साइकिल ख़रीद ली थी। इसी से स्कूल आना-जाना करते थे। एक ही कमरे में बैठाकर बोर्ड पर सरल वाक्य लिख बारी-बारी से सबसे पढ़वाते। कुछ बच्चे बहुत अच्छे से पढ़ने लगे थे। बहुत सारे अभी हिज्जे करके ही पढ़ पाते थे। इसी तरह, गणित में भी कुछ ने जोड़ना और घटाना सीख लिया था, लेकिन बहुतों को 'हासिल' वाला घटाने में परेशानी होती थी।

यूँ तो नौकरी ज्वॉइन करने के बाद से ही बनवारीलालजी को तमाम प्रशिक्षणों में

जाने का मौक़ा मिलता रहा है। पाठ्यपुस्तकों के उपयोग, हिन्दी भाषा शिक्षण, गणित के टीएलएम बनाना, बच्चों का मूल्यांकन कैसे करें, पालकों (अभिभावकों) को कैसे जागरूक करें, आदि-आदि। इस तरह के तमाम प्रशिक्षणों में बनवारीलालजी शामिल रहे हैं।

शुरू में तो उन्हें अच्छा लगता था। वे अपनी समस्याओं को अपने साथियों के बीच रख पाते थे। उनकी बातों और उनके अनुभवों को सुन पाते थे। इस सबसे उन्हें भी कुछ दिशा मिलती थी। अपने स्कूल को कैसे बेहतर बनाएँ? कैसे बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाएँ? विभाग से आने वाले पत्रों का जवाब किस तरह तैयार करें? इस तरह के तमाम सवालों का जवाब उन्हें इन प्रशिक्षणों में अपने साथियों से मिल पाता था। ऐसे ही एक प्रशिक्षण में उनकी तरह ही एकल विद्यालय में कार्यरत एक अन्य शिक्षक साथी ने उन्हें बताया था कि छोटी कक्षाओं के बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाने में बड़ी कक्षाओं के कुछ होशियार बच्चों की मदद ली जा सकती है। बनवारी माड़साब ने भी ऐसा ही किया। इस तरह, अब वे एक साथ एक ही समय में दो से तीन कक्षाओं को सम्भाल लेते हैं। उनके स्कूल में बच्चों के स्तर में काफ़ी सुधार हुआ है।

अब, जब भी किसी प्रशिक्षण में जाने का आदेश प्राप्त होता है, तो बनवारीलाल माड़साब का मन उचाट होने लगता है। उन्हें यह सब नीरस लगने लगा था। वही घिसी पिटी बातें सुनकर, दसियों-बीसियों बार एक ही उदाहरण सुनकर उन्हें कोफ़्त होने लगी थी। प्रायः किसी भी प्रशिक्षण के पहले और आख़िरी दिन कोई न कोई अधिकारी अवश्य आ धमकता था। वह घण्टा, दो घण्टा भाषण देता। सभी शिक्षकों को धमकाता और समस्याओं को बिना समझे ही उनके समाधान बताने का प्रयास करता।

बनवारीलालजी को अपने पेशे से सम्बन्धित प्रशिक्षणों में तो अनिवार्य रूप से जाना ही पड़ता था। वहाँ जाकर वे अपने स्कूल और उसमें आने वाले बच्चों की बेहतरी के लिए कुछ न कुछ नया अवश्य सीखकर आते थे। लेकिन उन्हें ग़ुस्सा तब आता था, जब ऐन परीक्षाओं के पहले ही चेचक के टीके, पंचायत के चुनाव, वोटर-लिस्ट,बाल विवाह, जनगणना, शौचालय निर्माण इत्यादि से सम्बन्धित प्रशिक्षणों में भी झोंक दिया जाता था। वे लाख बच्चों की पढ़ाई में होने वाले नुक़सान की दुहाई देते, लेकिन उनकी एक न सुनी जाती। यह सिलसिला पिछले कुछ सालों में और भी ज़्यादा बढ़ गया।

अब, जब भी किसी प्रशिक्षण में जाने का आदेश प्राप्त होता है, तो बनवारीलाल माड़साब का मन उचाट होने लगता है। उन्हें यह सब नीरस लगने लगा था। वही घिसीपिटी बातें सुनकर, दसियों-बीसियों बार एक ही उदाहरण सुनकर उन्हें कोफ़्त होने लगी थी। प्रायः किसी भी प्रशिक्षण के पहले और आख़िरी दिन कोई न कोई अधिकारी अवश्य आ धमकता था। वह घण्टा, दो घण्टा भाषण देता। सभी शिक्षकों को धमकाता और समस्याओं को बिना समझे ही उनके समाधान बताने का प्रयास करते, पर आदत से मजबूर थे। कुछ न कुछ उनके मुँह से निकल ही जाया करता था।

अभी पिछले दिनों की ही बात है। बच्चों के सतत एवं व्यापक आकलन के मुद्दे पर पाँच दिवसीय प्रशिक्षण चल रहा था। बनवारीलालजी भी इसमें सहभागी थे। ज़िला शिक्षा अधिकारी जी आ गए और उन्होंने सभी से सवाल किया, "बताओ, एसआईक्यूयू (वे एसआईक्यूई को हमेशा एसआईक्यूयू ही कहते हैं) क्या है?"

एक शिक्षक ने खड़े होकर बताया, "एसआईक्यूई का मतलब है 'स्टेट इनिशिएटिव फ़ॉर क्वालिटी एजुकेशन' यानी 'गुणवत्ता शिक्षा के लिए राज्य की पहल'।" ज़िला शिक्षा

अधिकारी साहब बहुत ख़ुश हुए। आमतौर पर उन्हें इतना अच्छा जवाब कम ही मिलता है। इस योजना को चलते हुए कई साल बीत चुके हैं, फिर भी बहुत से शिक्षक ठीक से एसआईक्यूई का फ़ुलफ़ॉर्म तक नहीं बता पाते हैं। इस शिक्षक ने न सिर्फ़ फ़ुलफ़ॉर्म बता दिया, बल्कि इस बात का हिन्दी में क्या मतलब है, यह भी बता दिया है।

आमतौर पर सदन से सही उत्तर न पाकर ज़िला शिक्षा अधिकारी जी नाराज़ होते। वे कहते, "इतने साल हो गए, अभी तुम्हें सरकार द्वारा चलाई जा रही इतनी बड़ी योजना का पूरा नाम भी नहीं मालूम है। शर्म आनी चाहिए तुम लोगों को। सरकार इतनी-इतनी तनख़्वाह दे रही है और तुम लोग अपने काम से लापरवाही कर रहे हो।" इसके बाद वे एसआईक्यूई की अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते थे। उनकी यह बात इतनी प्रचारित हो चुकी थी कि अब सभी प्रशिक्षणों में 'मास्टर ट्रेनर' यानी एमटी ही सबसे पहले सभी सम्भागियों को एसआईक्यूई का फ़ुलफ़ॉर्म रटवा देते हैं। वे बोर्ड पर सबसे पहले एसआईक्यूई लिखते, फिर इसका फ़ुलफ़ॉर्म-स्टेट इनिशिएटिव फ़ॉर क्वालिटी एजुकेशन-लिख देते थे। कुछ लोगों को खड़ाकर पढ़ने को कहते और सभी से अपनी डायरी में लिखकर रखने का अनुरोध भी करते। वे कहते,"साहब आएँगे तो सबसे पहले यही पूछेगें।" आज इस प्रशिक्षण में भी ऐसा ही हुआ।

ज़िला शिक्षा अधिकारी ने कहा— "देखो, इतने बरसों से सरकार हम सभी शिक्षकों को मोटी-मोटी तनख़्वाह दे रही है। तमाम सुविधाएँ दे रही है। दूसरे विभागों में कर्मचारी से पूछताछ होती है कि उसने अपना काम पूरा किया कि नहीं। यहाँ पर कोई पूछने वाला नहीं है। स्कूल जाकर क्या पढ़ाया, कितना पढ़ाया? पढ़ाया या नहीं पढ़ाया? सब आपके ऊपर था। लेकिन अब ऐसे नहीं चलेगा। अब आरटीई आ गया है। आरटीई मतलब?"

यहाँ पर सन्तोषजनक उत्तर मिल जाने से ज़िला शिक्षा अधिकारी जी ख़ुश तो ज़रूर हुए, लेकिन आगे की बातों में उन्होंने वही सब कहा, जो वे नाराज़ होकर भी कहा करते थे। वे बोले, "देखो, इतने बरसों से सरकार हम सभी शिक्षकों को मोटी-मोटी तनख़्वाह दे रही है। तमाम सुविधाएँ दे रही है। दूसरे विभागों में कर्मचारी से पूछताछ होती है कि उसने अपना काम पूरा किया कि नहीं। यहाँ पर कोई पूछने वाला नहीं है। स्कूल जाकर क्या पढ़ाया, कितना पढ़ाया? पढ़ाया या नहीं पढ़ाया? सब आपके ऊपर था। लेकिन अब ऐसे नहीं चलेगा। अब आरटीई आ गया है। आरटीई मतलब?"

"राईट टू एजुकेशन," एक अन्य शिक्षक ने कहा।

"हाँ, अब राईट टू एजुकेशन आ गया है। अब कोई भी पालक आपसे सवाल कर सकता है— 'मैं इतने दिनों से अपना बच्चा आपके पास पढ़ाने के लिए भेज रहा हूँ। बताइए, मेरा बच्चा कुछ सीख क्यों नहीं रहा है? बताइए, मेरा बच्चा ऐसा ही क्यों है?'... एसआईक्यूई का मतलब है कि अब आपसे हर कोई सवाल पूछेगा कि बताओ मेरा बच्चा ऐसा ही क्यों है?" ज़िला शिक्षा अधिकारी जी की इस व्याख्या से शिक्षकों का अच्छा मनोरंजन हो जाता था। अब पूरे ज़िले के शिक्षक जान चुके थे कि 'सर, पहले एसआईक्यूई का फ़ुलफ़ॉर्म पूछते हैं, फिर यह बताते हैं कि सरकार और अभिभावक अब यह पूछ सकते हैं कि बच्चा ऐसा ही क्यों है?' कई जगह तो उनके प्रशिक्षण हॉल में प्रवेश करते ही शिक्षक आपस में फुसफुसाने लग जाते थे— 'एसआईक्यूई यानी बच्चा ऐसा ही क्यों है?...'

ख़ैर, अभी ज़िला अधिकारी महोदय अपनी बात रख ही रहे थे कि बनवारीलालजी उठ खड़े हुए— "सर, आप हम सभी के अधिकारी हैं। आपकी आज्ञा का पालन करना हम सभी शिक्षकों का कर्तव्य है। जहाँ तक सम्भव है, हम

सभी लोग ऐसा करने का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन, जब तक स्कूलों में पर्याप्त शिक्षक नहीं होंगे, तब तक बच्चों को शिक्षित करने का काम ठीक ढंग से नहीं किया जा सकता है," उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा।

"हमें सीसीई की डायरियाँ भी भरनी होती हैं, मध्याह्न भोजन भी बनवाना होता है," बनवारीजी कहते रहे, "हर सप्ताह बीईईओ ऑफ़िस से आँकड़े माँगे जाते हैं– वह भी हमें ही इकट्ठा कर भेजना होता है। पंचायत से लेकर विधानसभा और संसदीय चुनावों से पहले वोटर-लिस्ट अपडेट करनी पड़ती है। बताइए, हम शिक्षक क्या-क्या कर सकते हैं? इस सीसीई और एसआईक्यूई ने भी हमारा काम और बढ़ा दिया है। योजना डायरी, पोर्टफ़ोलियो, चैकलिस्ट, फ़ॉरमेटिव और समेटिव– न जाने क्या-क्या हमारे सिर पर आ गया है। यह पोर्टफ़ोलियो...प्रत्येक बच्चे के कार्य की प्रतियाँ उनके नाम की फ़ाइल में सम्भालकर रखनी हैं। कहाँ से लाएँ इतने सारे सादे काग़ज़? बच्चों के पास तो उनकी कॉपी-पेंसिल तक नहीं होती हैं...और सबके लिए अलग-अलग फ़ाइल कहाँ से लाएँ। स्कूल में इतना बजट ही कहाँ है?" यह सब कहते हुए बनवारीलालजी कुछ क्रोधित से हो गए थे।

"हमें सीसीई की डायरियाँ भी भरनी होती हैं, मध्याह्न भोजन भी बनवाना होता है," बनवारीजी कहते रहे, "हर सप्ताह बीईईओ ऑफ़िस से आँकड़े माँगे जाते हैं— वह भी हमें ही इकट्ठा कर भेजना होता है। पंचायत से लेकर विधानसभा और संसदीय चुनावों से पहले वोटर–लिस्ट अपडेट करनी पड़ती है। बताइए, हम शिक्षक क्या–क्या कर सकते हैं ? इस सीसीई और एसआईक्यूई ने भी हमारा काम और बढ़ा दिया है।

ज़िला अधिकारी, बनवारीलालजी को पहले से जानते थे। इस तरह के तमाम सवालों का सामना वे अनेक बार कर चुके थे। सो, मुस्कराते हुए उन्होंने सभी सम्भागियों की ओर देखा। अपना चश्मा उतारकर जेब में रखते हुए बोले, "आप लोगों ने बनवारीलालजी का सवाल सुना। इनका प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन समस्याओं का हल हमें अपने स्तर पर खोजना होगा। मैं आपको एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात बता रहा हूँ। इसे हमेशा याद रखना। पूरी नौकरी आपके काम आएगी।" कुछ देर चुप रहकर वे फिर बोले, "देखिए, हम सब सरकारी नौकर हैं। सरकार हमें जो भी काम देगी, वह सब काम हमें करना है। अब यह हमारे ऊपर है कि हम इसे हँसकर करते हैं या रोकर करते हैं। देखो भाई, यह सारा मामला मैनेजमैण्ट का है। अपना मैनेजमैण्ट सुधार लो, सब कुछ अपने आप ठीक हो जाएगा।"

फिर थोड़ा रुके, मुस्कराए और आगे बोले, "आप सभी ने चक्की वाले को देखा है। चक्की... जहाँ गेहूँ पिसाया जाता है! आपने देखा है कि लोग वहाँ पर गेहूँ पिसाने आते हैं। जितना गेहूँ वे घर से लेकर जाते हैं, चक्की वाला उतने ही वजन का आटा उनको तौलकर वापस देता है। इस बीच, चक्की पर कुछ ग्राहक ऐसे भी आते हैं जो दो-पाँच किलो आटा ख़रीदकर ले जाते हैं। चक्की वाला अपने घर-परिवार की रोटियों के लिए भी यहीं से आटा ले जाता है। रोज़ कम से कम एक-दो माँगने वालों को पाव-आध किलो आटा दान भी करता है। कभी आपने सोचा है कि यह आटा कहाँ से आता है? चक्की वाले ने तो सभी लोगों को उतना ही आटा दिया, जितना गेहूँ वे लेकर आए थे। फिर, यह जो आटा वह खुल्ला बेच रहा है, दान कर रहा है, अपने घर ले जा रहा है– यह कहाँ से आया होगा? कभी सोचा है आपने?" सब लोग स्तब्ध से सुन रहे थे।

"भाई, यही तो मैनेजमैण्ट है। हमें भी ऐसा ही मैनेजमैण्ट सीखना है, बनवारीलालजी," बनवारीजी को देखकर उन्होंने कहा।

चक्की वाले के मैनेजमैण्ट की कहानी

सुनकर कुछ के चेहरे पर मुस्कान तैर गई। ज़िला शिक्षा अधिकारीजी ने बिना कहे ही बहुत कुछ कह दिया था। पर बनवारीलालजी सन्तुष्ट नहीं थे। बनवारीलालजी के साथ यह कोई पहली बार थोड़े ही हो रहा था। वे पहले भी अपने सवाल कई बार रख चुके हैं। इसी तरह के जवाब उनको मिलते आ रहे हैं। ख़ैर, कुछ और बातचीत कर ज़िला अधिकारी चले गए। प्रशिक्षण सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

इस शैक्षणिक सत्र का आधे से ज़्यादा साल बीत चुका था। कई बच्चे ऐसे थे जिन्हें अभी ठीक से पढ़ना नहीं आता था। बनवारीलालजी ने सोच रखा था कि मोटे अक्षर और सुन्दर रंगीन चित्रों वाली कहानियों की मदद से इन बच्चों को पढ़ना सिखाएँगे। पिछले दिनों ज़िला स्तर पर लगे पुस्तक मेले से वे कई रंगीन चित्रों वाली किताबें लेकर आए थे। कुछ टीएलएम भी सरकार की तरफ़ से सभी स्कूलों को भेजा गया था। बनवारीलालजी लगातार कुछ दिन बच्चों के बीच उपस्थित रहकर बच्चों के साथ काम करना चाहते थे। वे अपने स्कूल में ठहरकर बच्चों को पढ़ाना चाहते थे, ताकि इस साल का निर्धारित कोर्स वे समय से पूरा कर सकें। वे आज कक्षा 3 के बच्चों के साथ गुणा के सवालों पर काम कर रहे थे, तभी उनके फ़ोन पर घण्टी बजी।

बीईईओ साहब के कार्यालय से आरपी भैरूलालजी का फ़ोन था। सूचना थी कि बनवारीलालजी को तीन दिन बाद ही एक और कार्यशाला में शामिल होने जाना पड़ेगा। यह कार्यशाला आगामी 'सूर्य नमस्कार कार्यक्रम' के लिए आयोजित की गई थी। सभी बच्चों तथा शिक्षकों को सूर्य नमस्कार सिखाया जाना था। बनवारीलालजी ने अपना माथा पकड़ लिया। वे रोज़ सुबह ही स्नान के तुरन्त बाद सूर्य देवता को जल अर्पित कर नमस्कार करते आ रहे हैं। लेकिन, यह सरकारी वाला सूर्य नमस्कार उनसे नहीं बन पाता है।

बीईईओ साहब के कार्यालय से आरपी भैरूलालजी का फ़ोन था। सूचना थी कि बनवारीलालजी को तीन दिन बाद ही एक और कार्यशाला में शामिल होने जाना पड़ेगा। यह कार्यशाला आगामी 'सूर्य नमस्कार कार्यक्रम' के लिए आयोजित की गई थी। सभी बच्चों तथा शिक्षकों को सूर्य नमस्कार सिखाया जाना था। बनवारीलालजी ने अपना माथा पकड़ लिया। वे रोज़ सुबह ही स्नान के तुरन्त बाद सूर्य देवता को जल अर्पित कर नमस्कार करते आ रहे हैं। लेकिन, यह सरकारी वाला सूर्य नमस्कार उनसे नहीं बन पाता है। यूँ तो वे बाबा रामदेवजी द्वारा किए जा रहे कामों के प्रशंसक रहे हैं, लेकिन यह सूर्य नमस्कार...अपने जोड़ों के दर्द के साथ भला वे कैसे कर सकेंगे?

"सरजी, मुँ काइं करूँगा वठे जार! मारऊँ कोई योगा व्हे नी। जवान छोराँ ने भेजो," उन्होंने आरपी भैरूलालजी से नए शिक्षकों को भेजने का अनुरोध करते हुए कहा।

भैरूलालजी नहीं माने– "माड़साब, यूँ काम नी चाले, आपणे सूर्य नमस्कार रा सब आसण बढ़ियाँऊँ हीखणे आणा पड़ेगा। आगले महीने ही सीएम मैडम री विजिट है, और जिला परिषद रा मैदान में आपरे स्कूल रा टाबराँ ने सूर्य नमस्कार करावणो पड़ेगा," उन्होंने बनवारीलालजी से थोड़ा सख़्त लहजे में कहा। बनवारीलालजी अपना सा मुँह लेकर रह गए। अब उनके सामने चुनौती यह थी कि इस उम्र में भी उन्हें बाबा रामदेव सी लचक अपने शरीर में लानी होगी। अनुलोम-विलोम और कपालभाती तो बन जाएगा, पर इस अश्वसंचालनासन का क्या करें? कैसे करेंगे?

ख़ैर, तीन दिन के इस प्रशिक्षण में चले तो गए, पर जब वापस लौटे तो उठ-बैठ पाना मुश्किल हो गया था। सुबह शौचालय में बैठते नहीं बनता था... किसी तरह बैठ भी जाते तो फिर खड़ा होते नहीं बनता था। बड़ी विकट

स्थिति थी। प्रशिक्षण से लौटते समय उनको सूर्य नमस्कार के सभी आसनों के फ़ोटोवाला पोस्टर दिया गया था और साथ में पतंजलि द्वारा प्रकाशित पुस्तिका भी दी गई थी। बनवारीलालजी ने यह पोस्टर स्कूल की दीवार पर टाँग दिया और बच्चों को सभी आसनों का नाम और उनसे शरीर को होने वाला लाभ भी बता दिया। थोड़ा बड़े एक लड़के को– जो उछलकूद में आगे रहता था– सभी के सामने खड़ा कर वैसा ही करने को कहा, जैसा पोस्टर में बना था। लड़के ने बहुत बढ़िया किया। बनवारीजी ने इसी लड़के को कल से रोज़ सुबह सभी को अभ्यास कराने का ज़िम्मा सौंप दिया।

इस तरह कुछ दिन बीते। बनवारीलालजी ने कमज़ोर बच्चों को छुट्टी के बाद भी एक घण्टा तक रोककर अलग से पढ़ाने का काम शुरू किया। बच्चे पटरी पर आ रहे थे। हिज्जे करके पढ़ने वाले अब थोड़ा और बेहतर तरीक़े से किताब पढ़ने लग गए थे। 'हासिल' वाले जोड़-घटाने के सवालों को करते समय भी होने वाली ग़लतियाँ कुछ कम हो गई थीं। बनवारीलालजी को भी अच्छा लग रहा था कि उनके अतिरिक्त प्रयासों से बच्चे सीख पा रहे थे।

बनवारीलालजी ने कमज़ोर बच्चों को छुट्टी के बाद भी एक घण्टा तक रोककर अलग से पढ़ाने का काम शुरू किया। बच्चे पटरी पर आ रहे थे। हिज्जे करके पढ़नेवाले अब थोड़ा और बेहतर तरीक़े से किताब पढ़ने लग गए थे। 'हासिल' वाले जोड़-घटाने के सवालों को करते समय भी होने वाली ग़लतियाँ कुछ कम हो गई थीं। बनवारीलालजी को भी अच्छा लग रहा था कि उनके अतिरिक्त प्रयासों से बच्चे सीख पा रहे थे।

तभी एक दिन आरपी भैरूलालजी का फ़ोन फिर आ गया। फ़ोन उठाते ही उधर से आवाज़ आई, "कलेक्टर साहब परसों रात्रि-चौपाल में आई रिया है। ओडीएफ़री समीक्षा बैठक लेई सके। हंगळा कागज तैयार राखजो और सारी सूचना मुण्डापे याद राखजो।" ओडीएफ़ का नाम सुनते ही उनका मन खिन्न हो गया। पिछले दिनों विभाग से आदेश आया था कि सुबह तड़के दिशा मैदान की निगरानी करें। गाँव में कोई भी बाहर शौच करता मिले तो उसे समझाएँ कि यह पर्यावरण और स्वयं के स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है। लोग आपकी बात न मानें तो उनकी फ़ोटो खींचकर भेजें। माड़साब ने ऐसा ही किया और एक जगह पिटते-पिटते बचे थे।

यूँ तो बनवारीलालजी ने स्कूल की छुट्टी के बाद गाँव में घूम-घूमकर सब काग़ज़ पूरे कर लिए थे, पर अभी भी कई घरों में शौचालय निर्माण का काम पूरा नहीं हो पाया था। कुछ घर ऐसे भी थे, जिन्होंने सरकार से मिली राशि को ख़र्च कर शौचालय बनवा तो लिया था, पर उसमें कण्डे और भूसा भर रखा था। इन परिवारों के लोग अभी भी सुबह-सुबह खेतों की ओर लोटा लेकर जाते दिख जाते हैं। लाख समझाने के बाद भी शौचालय में जाने को तैयार नहीं हो रहे हैं। कहते हैं कि भला घर में कैसे कर सकते हैं? आदत नहीं है...सो होती भी नहीं है!

ख़ैर, कलेक्टर साब आ रहे हैं तो सब काग़ज़ तो तैयार रखना ही होगा। गाँव के लोगों को भी बताना होगा कि कलेक्टर साब आ रहे हैं ताकि वे अपने-अपने घर के शौचालय को दुरुस्त रखें। इस काम के लिए अभी निकलना होगा। बनवारीजी ने 'भोजन माता' को कहा कि सभी बच्चों को खाना खिलाकर छुट्टी कर देना। फिर वे अपने काग़ज़ लेकर दुखी मन से गाँव में निकल पड़े। दुखी इसलिए क्योंकि आज जो कुछ पढ़ाने का सोचकर आए थे, वह नहीं पढ़ा सके। साल बीता जा रहा है और वे बच्चों को समय ही नहीं दे पा रहे हैं।

आज फिर उनके फ़ोन पर एक वॉट्सएप सन्देश आया। ज़िला कार्यालय से जारी एक

आदेश की कॉपी है, जिसमें बनवारी माड़साब का भी नाम है। माड़साब जाना नहीं चाहते हैं। उन्होंने अपने ब्लॉक के बीईईओ साब को फोन किया और कहा कि इस साल बच्चों का बहुत हर्जा हो रहा है। कुछ भी पढ़ा नहीं सका हूँ। इस प्रशिक्षण से उनका नाम हटवा दिया जाए तो अच्छा होगा। बीईईओ साब नहीं माने। उन्होंने कहा, "देखो बनवारीलालजी, यह आदेश राज्य स्तर से आया है। नई पाठ्यपुस्तकें लिखी जा रही हैं। डीईओ साब ने आपके अनुभव को देखकर ही आपका नाम जोड़ा है। आप अवश्य जाइए और राज्य के लिए अच्छी पाठ्यपुस्तक निर्माण करने में योगदान दीजिए। सिर्फ़ अपने स्कूल के बच्चों के बारे में मत सोचिए, बल्कि पूरे राज्य के बच्चों के बारे में सोचिए। अच्छी पुस्तक बनने से सभी शिक्षकों और बच्चों का भला होगा।"

पाठ्यपुस्तकें अभी दो साल पहले ही लिखी गई थीं। चुनाव हुए और नई सरकार ने तय किया कि यह पुस्तकें अच्छी नहीं हैं। बस, फिर क्या था— पूरी सरकारी मशीनरी को नए सिरे से किताबें लिखने के काम में झोंक दिया गया था। लेखन समूह का सदस्य बनकर बनवारीजी यहाँ पहली बार आए थे, सो उन्होंने चाय के ब्रेक के समय अपना नादानी भरा सवाल एक साथी शिक्षक रामदयालजी से पूछ लिया, "इतनी जल्दी नई किताब क्यों लिखी जा रही है ?"

सुबह तड़के चार बजे की बस पकड़कर बनवारीलाल माड़साब उदयपुर में स्थित एसआईईआरटी पहुँच गए। इस हॉल में पैंतीस के क़रीब लोग बैठे हैं। कुछ शिक्षक हैं और कुछ शिक्षाविद हैं। शिक्षक, बच्चों को पढ़ाता है और शिक्षाविद शिक्षकों को पढ़ाता है। सामने की गोल घूमने वाली कुर्सी पर बैठी मैडम ने विस्तार से इस परियोजना के बारे में बताया। उन्होंने कहा, "मेरे विद्वान साथियो और विदुषी बहनो, आप सभी का इस छह दिवसीय पाठ्यपुस्तक लेखन कार्यशाला में स्वागत है। जैसा कि आप सबको विदित है कि राज्य शासन के आदेशानुसार नई पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की प्रक्रिया जारी है। माननीय मन्त्री महोदय जी तथा हमारे निदेशक महोदय चाहते हैं कि ऐसी पाठ्यपुस्तकें बनाई जाएँ, जो बच्चों को संस्कारवान बनाएँ और उनके अन्दर देशभक्ति की भावना जागृत करें। पुस्तक लेखन में बच्चों के जीवन से जुड़े रोचक सन्दर्भों के साथ ही हमें अपनी सांस्कृतिक धरोहर और गौरवशाली इतिहास के बारे में बताना चाहिए। आप सभी अनुभवी लोग हैं। हमें पूरी आशा है कि आप मन्त्री महोदय की इच्छा के अनुसार पाठ्यपुस्तक निर्माण में तन-मन से अपना योगदान देंगे।"

पाठ्यपुस्तकें अभी दो साल पहले ही लिखी गई थीं। चुनाव हुए और नई सरकार ने तय किया कि यह पुस्तकें अच्छी नहीं हैं। बस, फिर क्या था— पूरी सरकारी मशीनरी को नए सिरे से किताबें लिखने के काम में झोंक दिया गया था। लेखन समूह का सदस्य बनकर बनवारीजी यहाँ पहली बार आए थे, सो उन्होंने चाय के ब्रेक के समय अपना नादानी भरा सवाल एक साथी शिक्षक रामदयालजी से पूछ लिया,"इतनी जल्दी नई किताब क्यों लिखी जा रही है?"

रामदयालजी पिछली किताबों को लिखने में भी शामिल थे...और पिछली से पिछली में भी...और उससे पहले वाली में भी! उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "नई किताबों से बच्चों में राष्ट्रीयता और नैतिकता की भावना पैदा करने पर ज़ोर दिया जाएगा।"

"लेकिन, पिछली किताब भी तो आप लोगों ने ही लिखी थी। अब ऐसा क्या नया लिख देगें जो तब नहीं लिखा था?" बनवारीलालजी ने सवाल किया।

रामदयाल जी ने चाय की चुस्की के साथ मुस्कराते हुए जवाब दिया, " अरे क्या नया, बस कुछ उदाहरण बदल जायेंगे, कुछ पात्र बदल जायेंगे। कुछ नई स्थितियाँ, नई संख्याएँ, नए नाम जोड़ देंगे और क्या !" यह सुनकर बेचारे

बनवारीलाल जी उनका मुँह ताकते रह गए।

पाठ्यपुस्तक लेखन की यह प्रक्रिया तक़रीबन आठ महीने चली। बनवारीलाल माड़साब को प्रत्येक माह में कम से कम दो बार, चार से छह दिन के लिए उदयपुर जाना होता था। उनके मन में अपने स्कूल के बच्चों की चिन्ता लगातार बनी रहती थी। पर कुछ किया नहीं जा सकता था। बीईईओ साब ने इतना ज़रूर कर दिया था कि पास के स्कूल के एक अन्य शिक्षक को बनवारी माड़साब के स्कूल में प्रतिनियुक्ति पर रख दिया था। वे हाज़िरी वग़ैरह ले लेते थे। 'भोजन माता' समय पर खाना तैयार कर दिया करती थी। बच्चे स्कूल आकर खेलकूद लेते और खाना खाकर घर लौट जाते थे।

उधर, बनवारी माड़साब पुस्तक लेखन कार्यशाला में आ तो जाते थे, पर उनका मन अपने स्कूल के बच्चों के बारे में ही सोचता रहता। वे सोचते कि गाँव के सभी लोग उनकी कितनी इज़्ज़त करते हैं। शादी-ब्याह, तीज-त्यौहार, जन्मदिन-मुण्डन आदि सभी कार्यक्रमों में उनको सबसे पहले निमन्त्रित करते हैं। कोई सलाह लेनी हो तो सबसे पहले उनके पास ही आते हैं। सभी को भरोसा है कि बनवारी माड़साब उनके बच्चों को सही पढ़ा-लिखाकर तैयार कर देंगे। बच्चे भी माड़साब की बहुत इज़्ज़त करते हैं। उनकी कही हर बात मानते हैं। वरना 67 बच्चों को सम्भाल पाना भला उनके बस का होता क्या? इसी तरह की सोच के उधेड़बुन में वे पाठ्यपुस्तक लेखन का काम भी मन से नहीं कर पा रहे थे। पुस्तकों के पाठ पूरे होने को आ गए थे, लेकिन उनमें बनवारी माड़साब का बहुत ही कम योगदान दिखता था।

सभी को भरोसा है कि बनवारी माड़साब उनके बच्चों को सही पढ़ा-लिखाकर तैयार कर देंगे। बच्चे भी माड़साब की बहुत इज़्ज़त करते हैं। उनकी कही हर बात मानते हैं। वरना 67 बच्चों को सम्भाल पाना भला उनके बस का होता क्या? इसी तरह की सोच के उधेड़बुन में वे पाठ्यपुस्तक लेखन का काम भी मन से नहीं कर पा रहे थे। पुस्तकों के पाठ पूरे होने को आ गए थे, लेकिन उनमें बनवारी माड़साब का बहुत ही कम योगदान दिखता था।

लेखक समूह के साथी भी बनवारीजी के मन की भावनाओं से परिचित थे। वे उनसे बहुत अपेक्षा नहीं करते थे। गणित विषय की पाठ्यपुस्तकों के लेखन समूह की समन्वयक कविताजी अपने काम के प्रति बहुत ज़िम्मेदार थीं। वे अपने काम को समय पर पूरा करने के लिए जानी जाती थीं। एक दिन उन्होंने बनवारीलाल माड़साब के पास आकर कहा, "बनवारीजी, पहली से पाँचवीं तक की पाठ्यपुस्तकों के सभी पाठ तो लिखे जा चुके हैं। मैंने इन पाठों को चित्रकारों के पास भेज दिया है। जल्द ही चित्र बनकर आ जाएँगे। आपने प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के साथ काफ़ी काम किया है। आप उनकी रुचियों और अनुभवों के बारे में जानते हैं। मैं चाहती हूँ कि आप जोड़ व घटाने आदि की अवधारणाओं पर आधारित कुछ अच्छे सवाल बना दीजिए। अच्छा होगा यदि आप एक-दो उदाहरणों से इन्हें हल करने का तरीक़ा भी समझा दें। इन उदाहरणों और सवालों को हम पाठ्यपुस्तक में देंगे ताकि बच्चे स्वयं इनका अभ्यास कर सकें।"

कविता मैडम द्वारा दिए गए कुछ पाठों को लेकर बनवारी माड़साब देर तक सोचते रहे। वे बहुत देर तक सोचते रहे कि किस तरह के उदाहरण देना चाहिए, और कैसे सवाल बनाने चाहिए। अन्ततः उन्होंने एक सादे काग़ज़ पर कुछ उदाहरण और सवाल लिखकर पाठ के पीछे नत्थी कर दिए। शाम को जब कविता मैडम सभी से सामग्री जमा कर रही थीं, तो बनवारी माड़साब ने भी अपना काम जमा कर दिया। कविता मैडम जल्दी में थीं। वे सभी सवालों को तो नहीं पढ़ सकीं, लेकिन सरसरी तौर पर ऊपर दिए गए दो उदाहरणों को उन्होंने देख लिया। यह दोनों उदाहरण उन्हें अच्छे लगे। साथ ही उन्हें यह भी

अच्छा लगा कि आज बनवारी सर ने भी अपना काम समय पर पूरा करके दिया है। कार्यशाला का समापन हुआ और सभी लोग अपने-अपने ज़िलों को प्रस्थान कर गए।

इस तरह कुछ माह और बीते। नई पाठ्यपुस्तकें छपकर आ चुकी थीं। जयपुर में एक बड़े कार्यक्रम में इन पाठ्यपुस्तकों का विमोचन किया गया। नए सत्र में स्कूल खुलने से पहले ही ग्रीष्मकालीन शिक्षक प्रशिक्षणों द्वारा पूरे राज्य के शिक्षकों को नई पाठ्यपुस्तकों का उपयोग करने के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा था। सभी के हाथ में नई पाठ्यपुस्तकों की प्रतियाँ थीं। दक्ष प्रशिक्षक महोदय बच्चों को गतिविधि और रोचक सन्दर्भों द्वारा शिक्षण के तरीक़ों पर अपनी व्याख्या कर रहे थे। इसी कक्ष में बनवारी माड़साब भी बैठे थे। दक्ष प्रशिक्षक की बातों से बेपरवाह वे तेज़ी से पुस्तक के पन्नों को पलटते हुए कुछ खोज रहे थे। उनकी नज़रें कुछ पन्नों पर ठहरकर कुछ पढ़तीं और चेहरे पर हल्की सी मुस्कान तैर जाती। बनवारी माड़साब द्वारा लिखे गए जोड़ व बाक़ी के उदाहरण और सवाल जस के तस छपे थे–

1. स्वच्छ भारत के अन्तर्गत राजस्थान के एक ज़िले में 327 शौचालय स्वीकृत किए गए। वर्ष के अन्त तक 283 शौचालय पूर्ण हो पाए। बताइए, कितने शौचालय बनाने शेष रहे?

2. एक विद्यालय की एसएमसी को सर्व शिक्षा अभियान द्वारा वर्ष 2014-15 में शौचालय की सफ़ाई हेतु 5000 रुपए जारी किए गए। उसमें से विद्यालय द्वारा 3850 रुपए ख़र्च किए गए। बताओ, कितनी राशि शेष बची?

3. पल्स पोलियो अभियान के तीन चरणों में बगवास पंचायत के कुल 8976 बच्चों को पोलियो की दवा पिलाई गई। पहले चरण में 2780 बच्चों को एवं दूसरे चरण में 2925 बच्चों को पोलियो की दवा पिलाई गई। बताइए, तीसरे चरण में कुल कितने बच्चों को पोलियो की दवा पिलाई गई?

4. गाँव टिम्बाड़ी की जनसंख्या 479 है। इनमें से पुरुष व बच्चों की संख्या 281 है। तो बताइए, गाँव में महिलाओं की संख्या कितनी है?

5. वर्ष 2001 में तलवाड़ा नगर की जनसँख्या 3,38,401 थी। वर्ष 2011 तक जनसँख्या में 88,765 की वृद्धि हो गई। वर्ष 2011 में इस नगर की जनसँख्या क्या थी?

6. मध्याह्न भोजन में प्रति बालक 150 ग्राम गेहूँ और 100 ग्राम चावल के हिसाब से 60 बच्चों के लिए कितने गेहूँ और चावल की आवश्यकता होगी?

7. किसी स्कूल को विद्यालय सुविधा अनुदान के तहत 5000 रुपए प्राप्त हुए। स्कूल की विभिन्न सुविधाओं पर 4835 रुपए ख़र्च हो गए। बताओ, कितने रुपए शेष बचे?

8. सन् 2011 की जनगणना के अनुसार साकरिया गाँव में 4632 महिलाएँ और 4598 पुरुष हैं, तो बताओ, गाँव की कुल जनसंख्या कितनी है?

बनवारीलाल माड़साब के लिखे इन सवालों में उन सभी सवालों का अक़्स था, जिनको लेकर वे परेशान रहा करते थे। जिन सवालों को वे सभी प्रशिक्षणों में उठाया करते थे। अपने से वरिष्ठ अधिकारियों से पूछा करते थे, कोई उनके सवालों को नहीं सुनता था। कोई इन सवालों के सन्तोषजनक जवाब नहीं देता था। जवाब तो क्या, अधिकारी इन सवालों को सुनना तक पसन्द नहीं करते थे।

आज बनवारीलाल माड़साब बहुत खुश थे। उनके यह सवाल आज पूरे राज्य के शिक्षकों तक पहुँच चुके थे। शिक्षा विभाग के अधिकारियों तक पहुँच चुके थे। स्कूल जाने वाले हर एक बच्चे के बस्ते से होते हुए घर-घर में पहुँच चुके थे। अब बनवारीलालजी के सवालों की

गूँज, उनके कुछ बोले बिना ही दूर तक सुनी जा सकती थी। बनवारीजी को मालूम था कि इतने भर से कुछ होने वाला नहीं है। उनके लिए परिस्थितियाँ शायद वैसी ही रहें जैसी कि पहले थीं, लेकिन अपने सवालों को सब तक पहुँचा देने भर से दिल को मिलने वाले सुकून और ख़ुशी को उनके चेहरे पर साफ़ पढ़ा जा सकता था। वे ख़ुश थे क्योंकि उनके सवाल सब तक पहुँच चुके थे।

बनवारीलालजी किताब के इस पन्ने को बहुत ग़ौर से देख रहे थे। तभी सामने खड़े एमटी महोदय ने कहा, "कसी क लागी नई किताबाँ?"

इतने में बनवारीलालजी के पास बैठे एक अन्य शिक्षक ने कहा, "अरे कई देखो माड़साब, ई किताबाँ तो वर दो वर ऊँ मरजी आवे ज्यूँ सरकाराँ बदल देवे है।"

बनवारीलालजी ने मुस्कराते हुए कहा, "नी माड़साब, अब की किताबाँ तो घणी अच्छी हैं, ई में सवाल घणा बढ़िया छाप्या है!"

मोहम्मद उमर विगत दो दशकों से विज्ञान एवं गणित शिक्षण, लेखन एवं शिक्षक प्रशिक्षण के कार्य जुड़े हुए हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन राजस्थान मे गणित विषय के सन्दर्भ सदस्य के रूप मे कार्यरत हैं।
सम्पर्क : umar.jckm@gmail.com

सबके लिए शिक्षा : तस्वीर अभी धुँधली है

अनंत गंगोला

'सबके लिए शिक्षा' की संकल्पना दरअसल एक समावेशी समाज की संकल्पना की आधारभूमि है। यह शिक्षा की उपलब्ध संकल्पना का विस्तार भर नहीं है। इसलिए इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि शिक्षा के सन्दर्भ में उपलब्ध मौजूदा मान्यताएँ, प्रक्रियाएँ और संसाधन क्या 'सबके लिए शिक्षा' के संकल्प को साकार करने के लिए पर्याप्त हैं या इनमें आधारभूत बदलाव की ज़रूरत है? अनंत गंगोला का यह आलेख इस सन्दर्भ में हमारे बुनियादी कदम, सरोकारों और बदलते सन्दर्भ की ज़रूरतों का विश्लेषण करता है। सं.

एक बुनियादी कदम

नब्बे के दशक में जब ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की शुरुआत हुई तब से लेकर इसके बाद के दो दशकों तक हमारे देश में 'सबके लिए शिक्षा' को लेकर जो कुछ भी हुआ है उसे मानवीय सभ्यता के तात्कालिक सन्दर्भ में हुए किसी मामूली काम की तरह नहीं देखा जा सकता या नहीं देखा जाना चाहिए। देश की आज़ादी के बाद के शुरुआती चार-पाँच दशकों की स्मृति में शामिल पीढ़ियों ने शिक्षा की पहुँच सब तक होते हुए नहीं देखी थी। बड़ी संख्या में कई तबके शिक्षा की परिधि से दूर ही थे। यह दूरी महज़ विद्यालय के भवन से बच्चों के घर की दूरी मात्र नहीं थी। दूरियाँ मान्यताओं की थीं और सामाजिक, शैक्षिक प्राथमिकताओं की भी। इस दौर में एक समावेशी समाज की संकल्पना में शिक्षा की भूमिका को न पहचानने की कमी भी थी। नतीजतन, ज़माना एक समावेशी समाज की कल्पना की दिशा में कुछ बुनियादी कदम भी नहीं ले पाया था। 'सबके लिए शिक्षा' के प्रावधान और प्रयास इन तीन दशकों से पहले इस तरह के संस्थागत संकल्प के साथ नहीं हो पाए थे। इस स्थिति की वजह, विचार का अभाव थी या समाज की सामूहिक चेतना, प्राथमिकताएँ या संसाधनों का अभाव या फिर इन चारों बातों का मिश्रण। वजह चाहे जो भी रही हो, पर यह हो नहीं पाया था, यह यथार्थ है।

'सबके लिए शिक्षा' ने हमारे समाज को, एक ज़्यादा बराबरी के अवसर देने वाले समाज में बदलने की दिशा में निमंत्रित किया है। हमारी पीढ़ी के सामने निराशा, दरिद्रता, असमानता और अभाव से घिरे हुए तमाम लोगों के जीवन में उत्साह, आत्मविश्वास, विचार और ज्ञान के अवसर प्रदान करने का एक अवसर है। समाज के तात्कालिक इतिहास में, कई लोग इसे 'समावेशी समाज' की परिकल्पना को साकार करने की दिशा में एक बड़े क़दम के रूप में स्वीकार भी करते हैं। 'सबके लिए शिक्षा' का सपना भले ही चन्द लोगों ने लम्बे समय से देखा था, पर इस सपने को धरातल पर उतारने की क़वायद ज़्यादा पुरानी नहीं है। आज़ादी के बाद के शुरुआती दशकों में हमारे देश में बड़ी संख्या में ऐसे इलाके थे जहाँ विद्यालय तो उपलब्ध थे ही नहीं, सबको शिक्षित करने का विचार भी नदारद था। जहाँ बच्चे और विद्यालय दोनों ही उपलब्ध थे वहाँ भी सबको शिक्षा में शामिल

करने के संकल्प और आमंत्रण का अभाव था।

हमारे सरोकार

हम इस लेख में इस चर्चा में नहीं जा रहे हैं कि 'सबके लिए शिक्षा' की संकल्पना को आने में इतना वक़्त क्यों लगा? इस लेख में इस सन्दर्भ में चर्चा की कोशिश की गई है कि 'सबके लिए शिक्षा' की संकल्पना क्या 'शिक्षा के लिए उपलब्ध संकल्पना' में महज़ विस्तार का मामला बनती है? या फिर 'सबके लिए शिक्षा' को सरअंजाम तक ले जाने के लिए शिक्षा की उपलब्ध बुनियादी मान्यताओं, परम्पराओं, प्रक्रियाओं आदि में आधारभूत बदलाव का आग्रह करती है? क्या 'सबके लिए शिक्षा' के यह अवसर हालिया उपलब्ध समझ, उपलब्ध सरोकारों, उपलब्ध संरचनाओं, उपलब्ध संवेदनाओं, उपलब्ध संसाधनों और उपलब्ध तरीकों से सम्भव हैं? या फिर नई समझ, नए सरोकार और नई संवेदनाओं के साथ कुछ नए तरीके, नई संरचनाएँ और नए मापदण्ड भी बनाने होंगे?

नए नज़रिए : बदलते सन्दर्भ की ज़रूरत

'सबके लिए शिक्षा' के अन्तर्राष्ट्रीय आग्रह और दबाव के बीच हमारे देश में भी हरेक बच्चे के लिए मानव जीवन की लगभग अनिवार्य बन चुकी सीढ़ी चढ़ने (यानी पढ़ने-लिखने की दुनिया में प्रवेश) का अवसर निर्मित किया गया। परिणामस्वरूप देखते ही देखते बड़ी संख्या में नए विद्यालय, नए शिक्षक और नए विद्यार्थी शिक्षा की व्यवस्था में शामिल होने लगे।

जैसा कि होता ही है, हर बड़ा बदलाव अपने साथ कुछ और बदलाव भी लाता है। 'सबके लिए शिक्षा' के इस नवनीत दौर ने भी अपने साथ कई नए बदलावों की शुरुआत की। इससे जो दो बड़े बदलाव आए, उनमें से एक था सरकारी स्कूलों में बड़ी संख्या में अब तक शिक्षा से दूर रहे वर्ग, वर्ण और लिंग के बच्चों का आगमन और सम्पन्न वर्ग का सरकारी शिक्षा व्यवस्था से धीरे-धीरे बढ़ता अलगाव। आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग प्राइवेट स्कूलों की ओर बढ़ चला। नतीजतन जहाँ भी विकल्प मौजूद थे वहाँ सरकारी स्कूल शनैः शनैः विकल्पविहीन और गरीब पृष्ठभूमि के बच्चों के स्कूलों में परिवर्तित हो गए। दूसरा बदलाव था सरकारी शिक्षा के संचालन, प्रबन्धन में अशासकीय / स्वैच्छिक संस्थाओं के सरकारी तंत्र के साथ मिलकर काम करने की सम्भावना के लिए जगह / स्पेस का बनना। बड़ी संख्या में राष्ट्रीय, प्रादेशिक और स्थानीय स्तर पर काम करने वाली संस्थाओं ने सरकारी तंत्र के साथ स्कूल से लेकर निदेशालय, सचिवालय स्तर पर अलग-अलग भूमिकाएँ निभाना शुरू किया। यानी माना जा सकता है कि मैदान में काफी लोग और विभिन्न प्रकार के विमर्श उपलब्ध हुए।

जो भी हुआ, जितना भी हुआ पर शिक्षक समुदाय और व्यापक समाज में 'सबके लिए शिक्षा' की चर्चा सर्वतोमुखता से होने लगी। आज की तारीख में शिक्षा की व्यवस्था को लेकर जो प्रमुख विवरण समाज में उपलब्ध हैं, उनमें से एक प्रकार के विवरण 'सबके लिए शिक्षा' के इस भागीदारी प्रयास में होने वाले कुछ रोचक और सकारात्मक प्रयासों के उल्लेख से मिलकर बनते हैं। एक तरह की उम्मीद बाँधने वाले प्रयास। इन्हें हम 'सबके लिए शिक्षा' के सपने को साकार करने की चुनौतियों की समझ रखने वाले लोगों द्वारा इस महत्त्वाकांक्षी काम को अंजाम देने वाले, शिक्षा के कर्म में जुटे शिक्षकों और अन्य शिक्षा-सेवियों में आशा का संचार करने वाले उदाहरणों से बने विवरण कह सकते हैं। इस तरह के विवरण काफी कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

दूसरे विवरण, जो बहुत ज़्यादा उपलब्ध हैं, वह इस महाकर्म की असफलताओं के चित्रण से पटे हुए हैं जिसमें विद्यालय से शिक्षा, शिक्षक और बच्चों के नदारद होने के प्रसंग, बच्चों के लिखने और पढ़ने की अपेक्षित दक्षता के अभाव के लेख-जोख आदि बहुतायत से शामिल हैं।

इन परस्पर विरोधाभासी विवरणों के बीच एक समानता भी है। यह दोनों ही विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं की समाज और शिक्षा को लेकर चिन्ता एवं चिन्तन से उपजे हुए हैं। जिस विषय विशेष या प्रसंग को लेकर बातें की जा रही हैं अगर मामला सिर्फ उतना ही है तो यह विवरण सच ही मालूम होते हैं। पर अगर हम 'सबके लिए शिक्षा' के व्यापक सन्दर्भ में देखें, जिसमें समाज की इच्छाशक्ति, शिक्षक और शिक्षा तंत्र की इसे सरअंजाम देने की तैयारी और क्षमता आदि बातें शामिल हों, तो इन उपलब्ध कथनों की प्रासंगिकता अलग-अलग तरह से सामने आती है।

पहले प्रकार के विवरण, एक तरह से उम्मीद जगाने का काम करते हैं या यूँ कहा जाए कि यह निराशा से कुछ हद तक लड़ने का काम तो कर ही देते हैं। जो दूसरी तरह के विवरण हैं वह जाने-अनजाने पहले से हताश समाज में कुछ और निराशा उड़ेलने का काम कर जाते हैं। शिक्षा के मानक नए सिरे से तलाशने की बात का आधार ही यह है कि दी हुई परिस्थिति में हो रहे इस महाकर्म को देखने के लिए एक नई दृष्टि बनाई जाए।

'सबके लिए शिक्षा' का आग्रह मेरी समझ और दृष्टि में एक बहुत चुनौती भरा एवं सर्वथा नया सामाजिक सन्दर्भ है। इस सर्वथा नए सन्दर्भ यानी 'सबके लिए शिक्षा' वाली संकल्पना का आकलन, शिक्षा के लिए पहले से उपलब्ध मानकों और लेंसों से करना कितना उपयुक्त है यह प्रश्न तो उठता ही है। यदि हम ऐसा करते हैं तो यह मापन और मूल्यांकन समूचे दृश्य में खामियों को ही उभार पाता है। यह खामियाँ चाहे कितनी भी प्रामाणिक ही क्यों न हों पर इस सन्दर्भ का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। नतीजतन, यह आकलन जो तस्वीर प्रस्तुत करते हैं वह अधूरी और काफी हद तक गलत बयान करती प्रतीत होती हैं। दूसरा खतरा यह है कि इस तरह यह 'सबके लिए शिक्षा' के कर्म में जुटे, सरकार से लेकर शिक्षक और वृहद समाज को जाने-अनजाने निराशा ही परोस पाती है। कोई रास्ता और समाधान सुझाती नहीं दिखती।

बदलते सन्दर्भ : हमारी समझ और संवेदनाएँ

हमारा देश तमाम किस्म की विविधताओं से भरा हुआ तो है ही, साथ ही यह तमाम किस्म की असमानताओं से भी भरपूर है। बच्चे, शिक्षक और शिक्षाकर्म से जुड़े लोग पुरुष-प्रधान व सामन्ती मानसिकता और मान्यताओं से युक्त समाज से आते हैं और इन तमाम सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक असमानताओं के बीच ही विद्यालय भी चलता है। इसमें तीसरा आयाम यह भी है कि शिक्षाकर्म सामाजिक-राजनीतिक समानता, आपसी भाईचारे और सहृदयता से परे अपना अर्थ ही खो देता है।

चलिए कुछ घटनाओं के ज़रिए इस मसले पर नज़र डालते हैं। ज़िला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (डायट) के प्राचार्य मध्य भारत के एक ज़िले के गाँव में विद्यालय भ्रमण पर पहुँचे। विद्यालय की उपस्थिति पंजी का अवलोकन करते हुए उन्हें लगा कि बच्चों के नाम अटपटे हैं। प्राचार्यजी ने शिक्षक से इस बात पर चर्चा की। शिक्षक बोले, "साहब मैं क्या कर सकता हूँ? इनके अनपढ़ माँ-बाप ने इनके यही नाम रखे हैं।" प्राचार्यजी ने बच्चों को अपने माता-पिता को बुलाकर लाने के लिए घर भेज दिया। विद्यालय गाँव से लगा हुआ था। गाँव में मुख्यतः बहेलिया समाज के लोग रहते थे। पक्षी पकड़ने का उनका रोज़गार प्रायः सुबह या फिर शाम के वक़्त होता है। अतः यह लोग दिन के वक़्त घरों में ही मिल गए। कुछ ही देर में बच्चों के पालक स्कूल में आ गए और फिर प्राचार्यजी ने एक-एक कर बच्चों के नाम बदलकर, अपनी समझ में उन्हें ज़्यादा सुसंस्कृत या सभ्य माने जाने वाले नाम देने प्रारम्भ कर दिए। मसलन चिन्ता बाई का नाम चेतना कुमारी कर दिया। कल्ली बाई का नाम कलावती आदि, माता-पिता को इस बात के औचित्य का अन्दाज़ भले ही

लगा हो या न लगा हो, पर उन्होंने इस पर कोई बड़ा एतराज़ नहीं किया। शायद यह मानकर कि शिक्षा प्राप्त करने की यह कोई अनिवार्यता होगी उन्होंने अपना मन बहला लिया।

यह घटना कुछ इस तरह के प्रश्न उठाती है–

- चिन्ता बाई और कल्ली के नाम क्यों बदलने पड़े?
- जिन बच्चों के नामों के लिए ही जगह नहीं है, क्या उनके जीवन-अनुभव के लिए कोई जगह यह विद्यालय बना पाएगा?
- शिक्षा किस वर्ग के लिए है? चेतना कुमारी और कलावती जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं, क्या सिर्फ उसी वर्ग के लिए?
- क्या शिक्षा पाने के लिए एक खास वर्ग को अपनी सांस्कृतिक पहचान और आत्मसम्मान त्यागना होगा?

कुछ और उदाहरण भी लिए जा सकते हैं– जैसे, विद्यालयों में सबसे स्वच्छ वस्त्र वाले बच्चे को प्रोत्साहित करने या गन्दे वस्त्र पहनकर आए बच्चों को सज़ा देने जैसी घटनाएँ बहुत आम हैं और इन्हें ध्यान से न देखने पर हमारा ध्यान इनसे होने वाले भावनात्मक नुकसान की ओर जाता भी नहीं है। भाषा भी एक बड़ा मसला है जिसका मानक स्वरूप, उपयुक्त उच्चारण आदि पहली बार शिक्षा की परिधि में आने वाले बच्चों के सामने उनकी अस्मिता को लेकर ही उलझन पैदा कर देता है। किसी भी जगह की प्रचलित भाषा को नहीं जानने की दुविधा को जिसने भी अनुभव किया है उसे यह मानने में कोई दिक्कत नहीं होगी कि यह सिर्फ असुविधाजनक ही नहीं वरन आत्मविश्वास हिला देने वाला होता है। शिक्षक इनसे जूझते हुए कई बार इस तरह की परिस्थिति से आने वाले बच्चों को 'यह नहीं सीख सकते' की श्रेणी में रख देते हैं।

यह सारी घटनाएँ शिक्षा के प्रति उपलब्ध समझ और संवेदनाओं को सवालों के घेरे में खड़ा कर देती हैं। बड़ा सवाल यह है कि क्या बच्चों को शिक्षा के तयशुदा साँचों से ही गुज़रना होगा या शिक्षा के साँचों में भी बच्चों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप कुछ परिवर्तन करने या लचीलेपन की सम्भावना है? सीखने में पूर्वज्ञान की अन्तः क्रिया के महत्त्व को प्रतिपादित करने पर रुकी हुई बात को शिक्षक की समझ और विद्यालय की प्रक्रियाओं में कैसे शामिल किया जाएगा? 'क्या करना' के सवाल को 'कैसे करना' तक न पहुँचाने पर शिक्षक को मदद हो रही है या उसकी उलझन बढ़ रही है?

शिक्षक की तैयारी और स्वायत्तता

इस सन्दर्भ में, मुझे अपने अध्यापन के समय की एक घटना काफी याद आती है क्योंकि उसने मुझे बहुत सोचने पर मजबूर किया था। गुन्दीलाल नाम के एक विद्यार्थी को लेकर बच्चे बार-बार मुझसे शिकायत कर रहे थे कि वह उन्हें परेशान कर रहा है। मैं बच्चों को काम देकर स्वयं अपने किसी काम में लगा था अतः मेरा पूरा ध्यान कक्षा पर नहीं था। मैंने बच्चों की शिकायत को थोड़ा कम गम्भीरता से लिया और अपने काम में लगा रहा। जब बार-बार बच्चों की शिकायत को टालना मुश्किल हो गया तो मैंने गुन्दीलाल को बुलाया और उसे सज़ा देने के अन्दाज़ में कहा– "तुम बहुत बदमाशी कर रहे हो, चलो कान पकड़ो।" गुन्दीलाल ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की तो मैंने दोबारा उसे थोड़ी ऊँची आवाज़ कर कहा– "चलो, कान पकड़ो।" इस बार वह आगे बढ़ा और उसने मेरे कान पकड़ लिए। पहले तो मैं उसकी इस हरकत से हैरत और क्रोध में पड़ गया फिर मुझे लगा कि मेरे निर्देश में कान पकड़ने की बात थी। किसके कान पकड़ने हैं, इस बात का तो कोई ज़िक्र नहीं था। तो, गुन्दीलाल की तो कोई गलती नहीं है। इस घटना को अपने शिक्षण के दौरान हुए एक रोचक प्रसंग के रूप में तो याद किया ही जा सकता है पर ज़्यादा बड़ी बात

जिसकी ओर इस बात ने ध्यान खींचा वह थी कि प्रथम पीढ़ी के स्कूल में आने वाले बच्चों की शिक्षा के साथ जुड़ने के लिए जिस तरह की तैयारी शिक्षक के पास होनी चाहिए वह मेरे पास नदारद थी। विद्यालयों का माहौल और उसमें होने वाली प्रक्रियाएँ पहली पीढ़ी के बच्चों के लिए नई तो होंगी ही और साथ ही साथ यह उन्हें अजीब भी लग सकती हैं– उनके तर्क से विपरीत हो सकती हैं। जैसे गुन्दीलाल को 'कान पकड़ने' का न तो 'सज़ा' के साथ कोई तर्कपूर्ण सम्बन्ध लगा और ना ही ऐसे किसी व्यवहार से उसका कोई पुराना ताल्लुक था। ऐसी कई बातें हैं जिनके लिए यह 'मान' लिया जाता है कि सभी बच्चों का उनसे परिचय होगा।

मध्यप्रदेश के रायसेन जिले के एक जंगल के बीचों-बीच स्थित आदिवासी गाँव में प्रथम पीढ़ी के बच्चों के साथ काम करने के अनुभव ने यूँ तो कई बातें सिखाईं, पर इनमें से जिस बात का ज़िक्र मैं यहाँ करने जा रहा हूँ वह इस लेख के केन्द्रीय विचार, 'सबके लिए शिक्षा' को पुष्ट करती है। सदियों से दिनभर बकरी चराते, खेत में होरिया (चिड़िया) भगाते, तेन्दूपत्ता तोड़ते, महुआ बीनते, मूसरी खोदते, पेड़ों पर चढ़ते, नदियों में तैरते, गोण्ड आदिवासी समाज के बच्चों को जब मैंने पढ़ाना शुरू किया तो शुरुआत में ही इस बात का एहसास हो गया कि इन बच्चों को 4-5 घण्टे तक एक ही जगह (विद्यालय) में सिर्फ बैठा पाना ही अपने आप में बेहद चुनौती भरा काम है। फिर लिखने-पढ़ने की दक्षताएँ प्रदान करना कैसे हो सकेगा। यह बच्चे कई पीढ़ियों से दिनभर में कई किलोमीटर चलने और बेहद शारीरिक श्रम करने के आदी रहे हैं। फिर किसी एक जगह पर लम्बे समय बैठना कैसे सम्भव होगा? जिस क्षेत्र के लोगों का बाज़ार मंगलवार को होता है उनके लिए रविवार की छुट्टी के क्या मायने? फसल बोने, नीदने और कटाई के समय छोटे किसानों के परिवार में बच्चों की भूमिकाएँ किस तरह से बदलती हैं? इस तरह सन्दर्भ का स्कूल के संचालन से क्या सम्बन्ध है? स्कूल स्तर पर काम करने वाले तमाम लोगों के सामने इस तरह की कई बातें आती हैं। यह बातें विद्यालय को नए तरह से देखने को बाध्य करती हैं। हमारे लिए सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के लिए एक निर्धारित स्थान और उसमें समयबद्ध 45 मिनट के विषय आधारित खण्ड (पीरियड) जैसी शिक्षा की लगभग तय अवधारणाओं से बाहर जाना अनिवार्य हो गया है। बच्चों की शारीरिक एवं सांस्कृतिक बनावट और आदतों व रुचियों को ध्यान में रखकर शिक्षा का उपक्रम करने की बात शिक्षा को नए सिरे से परिभाषित करने की ज़रूरत को ही रेखांकित करती है। साथ ही शिक्षा में लचीलेपन और शिक्षक की स्वायत्ता की माँग भी करती है।

एक शिक्षक के रूप में काम करते हुए मेरे लिए परिस्थितियाँ कुछ अनुकूल थीं। जैसे– विद्यालय का शासकीय न होना और न ही उसे शासकीय मान्यता की कोई दरकार थी। फिर जिस गाँव में मैं कार्य कर रहा था वहाँ के लोगों के अनुभव और आग्रहों में भी शिक्षा की एक निर्धारित तस्वीर नहीं थी। यह दोनों बातें बच्चों की रुचि और सन्दर्भो के प्रकाश में नए प्रयोग करने की सहूलियत प्रदान कर गईं। और इसी अकस्मात उपलब्ध स्वायत्ता का एक शिक्षक के रूप में मैंने भरपूर उपयोग किया। नतीजे भी अपेक्षाकृत रूप से बेहतर आए। अधिकतर बच्चे बड़ी ही रुचि के साथ पढ़ने-लिखने की दुनिया में प्रवेश पा गए। उनमें से लगभग आधे बच्चों की पढ़ाई इस विद्यालय के बाद भी जारी रही और अपने आस-पास के गाँवों के बच्चों की तुलना में वह शिक्षा के क्षेत्र में काफी आगे निकले। बच्चों की सांस्कृतिक पहचान खोने और आत्मविश्वास डिगने जैसे प्रसंग भी नहीं हुए।

सबके लिए शिक्षा : निहितार्थ

एक बच्चा जब विद्यालय की दहलीज़ चढ़ता है तो वह अपने साथ बस्ता-झोला, सिलेट-कलम और कॉपी-किताब ही नहीं लाता बल्कि अपनी समूची सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, अपना भरा हुआ या फिर खाली पेट,

अपनी जिज्ञासाएँ, अपने भय, झेंप-झिझक, अपनी मातृभाषा और भी न जाने क्या-क्या लाता है। और अगर यह बच्चा किसी ऐसे परिवार से आता है जिस परिवार में शिक्षा नामक उपक्रम से पहले का रिश्ता नहीं रहा हो तो विद्यालय और शिक्षक का काम और अधिक लचीलेपन की माँग करता है। विद्यालय या शिक्षक के आग्रह यदि कठोर हों और उनमें बच्चे की आवश्यकता के अनुरूप ढलने की क्षमता और इच्छाशक्ति न हो तो नतीजा एक ही निकलता है और इस नतीजे को समाज बच्चों की असफलता के रूप में देखता है। वंचना की मार झेल रहे गुन्दीलाल, चिन्ता बाई या कल्ली जैसे बच्चों के विद्यालय में सफल होने के लिए ऐसे अवसर निर्मित करने होंगे जो उनके अनुभवों, संस्कृति और प्रतिभाओं को शामिल कर सकें। विद्यालय में क्या हो और कैसे हो, इसको भी इन बच्चों की ज़रूरतों और परिवेश की कसौटी पर खरा उतरना होगा।

'सबके लिए शिक्षा' के इस कर्म में यूँ तो मंत्रियों, अफसरों, शिक्षाविदों से लेकर शिक्षक तक एक लम्बी फ़ेहरिस्त है। इस फ़ेहरिस्त में अब स्वयंसेवी संस्थाओं के कर्मी भी शामिल हो गए हैं। पर इन सबके बीच में जो सबसे महत्वपूर्ण किरदार है वह शिक्षक का ही है। शिक्षक को विचार, संसाधन, स्वायत्तता और सम्मान उपलब्ध कराने की ज़िम्मेदारी बुनियादी तौर पर उस ढाँचे की है जिसे हम सरकारी शिक्षा व्यवस्था के रूप में समझते हैं। इसमें नीति निर्माता, प्रशासक, प्रशिक्षण संस्थाएँ सभी शामिल हैं। 'सबके लिए शिक्षा' का काम करने के लिए जितनी समझ, संसाधन और सम्मान शिक्षक को उपलब्ध है, क्या वह उपयुक्त है? पर्याप्त है? शिक्षकों और शिक्षा के हालात पर सवाल उठाने से पहले हमें यह सवाल पूछना ज़रूरी होगा।

मेरे दृष्टिकोण में 'सबके लिए शिक्षा' के विशिष्ट सन्दर्भ में काम करने के लिए शिक्षक को जिस तरह की मूलभूत तैयारी मिलनी चाहिए, सरकार और समाज उसे पूरा नहीं कर पा रहे हैं। वजह चाहे विचार की कमी हो या संसाधन का अभाव। जब काम नया और चुनौतीपूर्ण हो और तैयारी में भी अधूरापन हो तो बहुत बड़े पैमाने पर सकारात्मक परिणाम आखिर कैसे आएँगे? 'सबके लिए शिक्षा' को यदि हम समावेशी समाज की ओर जाने की दिशा में उठाया गया एक बुनियादी क़दम माने तो इससे उपजने वाले सरोकार, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की हमारी समझ में मात्र भाषा, गणित एवं अन्य विषयों के परम्परागत शिक्षण और आकलन पर पूर्ण निर्भरता कहाँ तक उपयुक्त होगी? हमें समाज की शिक्षा से अपेक्षाओं को नए सिरे से परिभाषित करने और पाठ्यचर्या से लेकर 'शिक्षक की तैयारी' को भी नई दृष्टि से देखने की ज़रूरत है।

एक ऐसी साझी समझ बने जो एक तरफ सामूहिक चेतना में 'सबके लिए शिक्षा' को एक बेहतर समाज की रचना के केन्द्र में स्थापित करे, इस नए सामाजिक उपक्रम में लगे लोगों के प्रति धैर्य प्रदान करने एवं मनोबल बढ़ाने वाले वातावरण को प्रोत्साहन दे और साथ ही इस नई शिक्षा के वाहक शिक्षकों को सम्मान, समर्थन एवं सम्बलन प्रदान करे।

अनंत गंगोला ने मध्यप्रदेश के आदिवासी गाँव नीलगढ़ में वर्षों रहते हुए आदिवासी समाज के जीवन और परिवेश का गहन अध्ययन व बच्चो की वैकल्पिक शिक्षा के लिए काम किया हैं। उन्होंने जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के जिला परियोजना समन्यक के रूप में भी काम किया है। वे तेरह वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में कार्यरत हैं। फ़िलहाल अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय और संगठन की मैदानी संस्थाओ के बीच समन्वय के कार्यों से जुड़े है।
सम्पर्क : anant@azimpremjifoundation.org

शिक्षण : कुछ छवियाँ

सी एन सुब्रह्मण्यम्

अकसर हम पत्र-पत्रिकाओं व फिल्मों में स्कूल व कक्षा का चित्रण देखते हैं। ये चित्र हमारे मन में स्कूल और शिक्षा के बारे में कुछ गहरी धारणाओं की छाप छोड़ जाते हैं, जिन्हें हम अनायास ही आत्मसात कर लेते हैं। कभी ठहरकर उनपर विचार करें तो पता लगता है कि इन चित्रणों में छिपी धारणाएँ काफ़ी दिलचस्प हैं और समस्याप्रद भी। मैं कुछ समय से भारतीय चित्र-शिल्प कला में शिक्षण से सम्बन्धित चित्रों को खोजता रहा हूँ और अब तक कुछ दसेक बड़े ही रोचक चित्र इकट्ठे किए हैं। इस लेख में इनमें से कुछ पर चर्चा करना चाहता हूँ।

विश्व की सबसे पुरानी स्कूलनुमा संस्थाओं के बारे में हमें सुमेरिया के चार हज़ार साल पुराने शहरों से जानकारी मिलती है। उन्हें 'तख़्तीघर' या 'एडुब्बा' कहा जाता था क्योंकि वहाँ गीली मिट्टी की छोटी तख़्तियों पर पढ़ना-लिखना सिखाया जाता था। ऐसी कई पाठशालाएँ पुरातात्त्विक उत्खनन से उजागर हुई हैं। इतिहासकार उनमें अपनाई गई पढ़ाने की विधि, पाठ्यक्रम, पाठ्यवस्तु वग़ैरह को भी प्रकाश में लाए हैं। यहाँ पते की बात यह है कि इन शालाओं में लिपिक तैयार किए जाते थे जो उस शहरी सभ्यता का तमाम लेखा-जोखा, मिथक-पुराण, इतिहास, दस्तावेज़ीकरण वग़ैरह सम्भालते थे। उनकी बड़ी माँग थी और आदर-सम्मान भी था। यानी शालाओं की स्थापना एक विशिष्ट ज्ञान के हस्तान्तरण के लिए हुई थी। यह सभी लोगों के लिए नहीं थीं; शालाएँ केवल उनके लिए थीं जो लिपिक बनना चाहते थे और उसके लिए कई साल तैयारी में लगाने की क़ुव्वत रखते थे। शिक्षा को हमारी जैसी स्कूली शिक्षा के रूप में नहीं देखा जाता था, जो सबके लिए एक सार्वभौमिक ज़रूरत हो। शायद बाक़ी लोग अपनी ज़रूरत की बातें अपने बुज़ुर्गों के साथ काम करते-करते सीख जाते थे। जब कभी हम औपचारिक शिक्षण की बात करेंगे तो हमें यह याद रखना होगा कि बीती सहस्त्राब्दियों में यह कुछ विशिष्ट ज्ञान के लिए ही उपयुक्त था, जो काम करते-करते नहीं सीखा जा सकता था, और सन्दर्भहीन वातावरण में ख़ास तरीक़े से सीखना पड़ता था।

भारत में सम्भवतः हड़प्पा संस्कृति के शहरों में ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध थीं, मगर हमें यह पता नहीं है कि उसमें पढ़ना-लिखना कितना प्रचलित था और क्या उसके लिए विशिष्ट प्रशिक्षण की ज़रूरत थी। बहरहाल, हमें औपचारिक शिक्षा के बारे में पहली बार वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है। वेद और उनसे सम्बन्धित क्रियाकलाप और साहित्य ऋग्वेद के समय से ही विशिष्ट ज्ञान बन चुके थे, जिन्हें किसी गुरु से विधिवत सीखना पड़ता था। वैदिक, बौद्ध और प्रारम्भिक संस्कृत ग़ैर-धार्मिक साहित्य में हमें गुरुओं और शिष्यों के बारे में उल्लेख मिलते हैं।

पाणिनि (पाँचवीं सदी ईसा पूर्व) के व्याकरण और उनके टीकाकार पतंजलि (दूसरी सदी ईसा पूर्व) कई रोचक शब्दों का विवरण देते हैं। व्याकरण के नियमों का उल्लेख करते-करते

पाणिनि गुरुजी से नज़र चुराने वाले शिष्यों की बात करते हैं। उस पर पतंजलि व्याख्या करते हुए कहते हैं, "शिष्य गुरु से छुपता है, यह सोचते हुए कि 'अगर उपाध्याय मुझे देख लेते तो निश्चित ही कोई काम करवाएँगे या फिर डाँट लगाएँगे।' यह सोचकर वह मानसिक रूप से भी विमुख हो जाता है"।[1] एक उदाहरण में पाणिनि अध्ययन में हारने वालों के लिए 'अध्ययनात् पराजयते' का उल्लेख करते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए पतंजलि कहते हैं कि छात्र समझ लेता है कि अध्ययन दुखदायी है और याद रखना कठिन है और गुरुओं के निकट जाना आसान नहीं है– "दुःखमध्ययनं दुर्धरं च गुरवश्च दुरुपचारा"।[2] ये हारने वाले फिर 'ड्रॉप आउट' भी हो जाते थे। ड्रॉप आउट के लिए पाणिनि एक विचित्र शब्द का उपयोग करते हैं– 'खट्वारूढ़', यानी खटिए पर चढ़ने वाला। इसकी व्याख्या करते हुए पतंजलि बताते हैं कि विधिवत अध्ययन के बाद ही गुरु की अनुमति से छात्र खटिए पर चढ़कर सोता है (वैसे अध्ययनरत ब्रह्मचारियों को पलंग पर सोना मना था)। अगर वह बीच में ही अध्ययन छोड़ देता है तो वह 'खटिए पर चढ़ा पतित' कहलाएगा।[3]

ज़ाहिर है, विधिवत वैदिक अध्ययन न आसान था और न ही रोचक। इस पृष्ठभूमि में हम कुछ प्रारम्भिक शिल्पपटलों को देखेंगे। मध्य-प्रदेश की भारहुत नामक जगह पर एक विशाल स्तूप के खण्डहर हैं, जिनमें अनेक शिल्पपटल मिले। आमतौर पर माना जाता है कि यह ईसा पूर्व 125 के आसपास बने थे। अलेक्ज़ैण्डर कन्निंघम इन शिल्पों को कलकत्ता ले गए; वहाँ वे संग्रहालय में संरक्षित हैं। इन्हीं शिल्पपटलों में से एक वह भी है जो मेरी जानकारी में इस उपमहाद्वीप का सबसे पुराना शिक्षण का चित्र है। (चित्र 1)

चित्र 1. भारहुत शिल्प पटल– दीर्घतपस शिष्यों को समझा रहे हैं

[1] पतंजलि महाभाष्य, पाणिनि सूत्र 1.4.28; F. Kielhorn, Vyakarana Mahabhashya of Patanjali, Vol. I, Bombay, 1880, पेज 329

[2] वही, पेज 328

[3] वही, पेज 384

एक पेड़ के पास एक ऊँचे आसन पर एक जटाधारी गुरु बैठे हैं। उनके सामने चार शिष्य हैं, जिनके भी बाल लम्बे हैं– तीन ने जूड़े बाँधे हैं और एक ने अपने बाल को खुला छोड़ा है। गुरु के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं दिख रहा है। गुरु की मुद्रा कुछ कहने या समझाने की है, यह उनके दाएँ हाथ और उँगलियों के इशारे से समझ आता है। उल्लेखनीय यह है कि शिष्य उनकी ओर नहीं देख रहे हैं, पर झुककर कुछ लिख रहे हैं। शायद वे गुरु की कही बातों को लिपिबद्ध कर रहे हैं। कन्निंघम ने सम्भवतः शिष्यों की शारीरिक बनावट को देखकर यह माना कि वे लड़कियाँ हैं। उनका अनुमान किस हद तक सही है यह कहना कठिन है। भारहुत स्तूप के शिल्पों की एक विशेषता यह है कि इनपर इनके शीर्षक प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में दर्ज किए गए हैं। इस पटल पर भी एक विवरण खुदा हुआ है, जिसपर लिखा है– "दीघतपसिसिसे अनुससति", यानी, 'दीर्घतपस शिष्यों को सिखा रहे हैं' (अनुशासित कर रहे हैं)। लगभग यही शब्दावली तैत्तिरीय उपनिषद के प्रसिद्ध 'शिक्षावली' अध्याय में भी है– "वेदमनूच्य आचार्यः अन्तेवासिनम् अनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर।..." (वेद सिखाने के बाद आचार्य शिष्यों को सिखा रहे हैं– सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो...)। पर दीर्घतपस वेद सिखाने वाले आचार्य नहीं थे। बौद्ध साहित्य के अनुसार वे निर्ग्रन्थ नाटपुत्र के अनुयायी थे। यह एक ग़ैर-वैदिक सम्प्रदाय था जो कि कठोर शारीरिक तपस्या पर ज़ोर देता था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार दीर्घतपस एक बार बुद्ध से वाद-विवाद करने गए और संवाद के निर्णय तक पहुँचने से पहले ही लौट गए। इस प्रसंग का इस शिल्पपटल की विषयवस्तु से कोई मेल नहीं दिखता है, अतः सम्भव है कि यह किसी और लुप्त प्रसंग के दीर्घतपस हैं।

जो भी हो, वे वैदिक शिक्षा नहीं दे रहे थे क्योंकि वेद सिखाने में लिखने की प्रथा नहीं है, वेदों को सीखने के लिए सुनकर दोहराना पर्याप्त था। दीर्घतपस जो भी सिखा रहे थे, उसे लिपिबद्ध किया जा रहा था। महिला शिष्याओं को शिक्षा देने की बात अगर सही हो तो यह और भी ख़ास बात होगी क्योंकि वेद महिलाओं को नहीं सिखाया जा सकता था। कुल मिलाकर लगता है कि शिक्षण का यह सबसे पुराना चित्रण ग़ैर-वैदिक दार्शनिक परम्परा से जुड़ा हुआ है।

इस पटल को ग़ौर से देखें तो इसमें उपयोग की गई युक्तियाँ स्पष्ट होंगी। कॉम्पोज़िशन का लगभग आधा हिस्सा गुरुजी के लिए सुरक्षित है और बाक़ी आधे पर शिष्यों को दिखाया गया है। इससे गुरु की प्राथमिकता उभरती है। उनका आकार तो बड़ा है ही मगर उनकी जटा के कारण उनका सिर और प्रमुखता पा रहा है। गुरु के ठीक सामने पेड़ को बनाकर गुरुपक्ष का वज़न बढ़ाया गया है। गुरु का सिर उठा हुआ है जबकि शिष्यों के सिर झुके हुए हैं। पटल के केन्द्र में एक शिष्य है मगर उसके वज़न को कम करने के लिए हमें केवल उसकी पीठ को दिखाया गया है। उसके सिर, लम्बे बाल और पेड़ का तना मिलकर इस पटल का अक्ष बनता है जिसके इर्द गिर्द पूरा चित्र घूमता है। यही अक्ष गुरु पक्ष और शिष्य पक्ष को अलग करता है।

मुझे मथुरा संग्रहालय में एक और, मगर बहुत फ़र्क़, शिक्षण शिल्प देखने को मिला। शैली के आधार पर इसे कुषाणकालीन (लगभग पहली सदी ईसवी) बताया जाता है। (चित्र 2) इसमें भी एक गुरु शिष्यों को शिक्षा दे रहे हैं।

इस शिल्प में गुरु छाता लेकर खड़े हैं और शिष्यों को कुछ सुना रहे हैं। सामने लगभग दस शिष्य उनकी ओर मुँह करके देखते हुए बैठे हैं। उनके आकार से लगता है कि वे सब छोटे बच्चे हैं– लेकिन सभी पगड़ी बाँधे हैं, जो कि उच्च कुल का परिचायक है। गुरु और शिष्य दोनों कपड़े पहने हैं, गुरुजी की धोती और उत्तरीय पर विशेष ध्यान जाता है। गुरुजी सम्पन्न थे, यह उनकी तोंद से भी दिखता है। पूरे कॉम्पोज़िशन में यह तोंद एक केन्द्रीय भूमिका निभा रही है। शिष्य तीन क़तारों में बैठे हैं। शायद उनसे अपेक्षा थी कि वे एक ही मुद्रा में लम्बे समय तक

बैठकर पाठ सुनें या दोहराएँ। इसलिए उनके पैरों से लेकर पीठ तक एक पट्टी बँधी है, जिसे बाद में 'योग पट्ट' कहा जाता था। इसे प्रायः ऋषि, मुनि ध्यान की अवस्था में बाँधते थे।

भारहुत पटल के समान इस पटल का भी लगभग आधा हिस्सा गुरुजी को समर्पित है। इस पटल में पेड़ की भूमिका छाता निभा रहा है– यानी गुरुजी के क़द को और उठाने में। यहाँ छाते का और भी मतलब हो सकता है। 'छात्र' शब्द की व्याख्या करते हुए पतंजलि कहते हैं कि जो गुरु की छत्र-छाया में संरक्षित है वह छात्र है। वे कहते हैं,"गुरु छाता हैं। गुरु द्वारा शिष्य छाते की तरह संरक्षित है और शिष्य द्वारा गुरु छाते की तरह संरक्षित है" ("गुरुस् छत्रम् गुरुणा शिष्यस् छत्रवत छद्यः शिष्येण च गुरुस् छत्रवत परिपालयेत्")[4] छाता, गुरु और शिष्य के रिश्ते को ठीक वैसे ही दर्शाता है जैसे राजा के सिर पर छाता प्रजा और राजा के रिश्ते को दर्शाता है (वैसे शिल्पों में राजा का छाता और पण्डितजी के छाते में अन्तर स्पष्ट रहता है– राजा के छाते में आरी वाले चक्र का आभास मिलता है)।

चित्र 2. गुरु और शिष्य, मथुरा संग्रहालय

[4] पतंजलि महाभाष्य, पाणिनी सूत्र 4.4.62; F Kielhorn, (ed) Vyakarana Mahabhashya of Patanjali, Vol II, Bombay, 1883, Page 333

पटल में गुरु पक्ष और छात्र पक्ष के बीच कोई उभरा हुआ अक्ष नहीं है, बल्कि एक खाई रूपी अक्ष है। उस खाई के समानान्तर छाता एक तिरछा अक्ष भी बनाता है।

भारहुत पटल के विपरीत मथुरा पटल में छात्रों या शिक्षक के हाथ में कोई पुस्तक या क़लम नहीं है। शिक्षण का कारोबार मौखिक हो रहा है। गुरुजी का खड़ा होना भी महत्त्व रखता है। हो सकता है कि यहाँ छात्रों की संख्या अधिक है (वे कई क़तारों में बैठे हैं)। सब पर नज़र रहे और सबको नज़र आए इसलिए गुरुजी को खड़ा होकर सिखाना पड़ रहा है। इन सब बातों से लगता है कि यह किसी वैदिक पाठशाला का चित्रण है।

कुछ शताब्दी आगे चलते हैं, और 460 ईसवी के महाराष्ट्र के अजन्ता पहुँचते हैं।

चित्र 3. अजन्ता की गुफा नं. 16 में शिक्षा प्राप्त करते सिद्धार्थ गौतम (बुद्ध) का चित्र बना है।
(चित्र का फोटो और उसका लाईन स्कैच)

एक ऊँचे मण्डप में कक्षा लगी है जिसके केन्द्र में बालक सिद्धार्थ हैं; उनके दाएँ ओर एक लड़की है और बाएँ ओर खम्भे से आधे छिपे गुरु हैं। आगे की ओर दो छात्र और बैठे कुछ पढ़ रहे हैं। सिद्धार्थ एक टोपी और कुर्ता जैसा कुछ पहने हुए हैं। मण्डप के नीचे बालक सिद्धार्थ तीरन्दाज़ी का अभ्यास कर रहे हैं। शायद उनके गुरु सामने बैठे हैं और दो साथी देख रहे हैं। सभी लोग केवल धोती पहने हैं, कमर के ऊपर कुछ पहना नहीं है।

अगर हम पहले दो चित्रों से इसकी तुलना करें तो बहुत से फ़र्क़ दिखेंगे। पहली बात तो यह है कि इस चित्र में गुरुजी की प्रधानता नहीं है। या तो उन्हें एक कोने में खम्भे के पीछे छुपाया गया है या फिर वे हमें पीठ दिखाए एक कोने में बैठे हैं। दूसरी बात यह है कि सब अपने-अपने तरीक़े से पढ़ रहे हैं, गुरुजी की ओर ख़ास देख भी नहीं रहे हैं। ज़ाहिर है कि यह चित्र सिद्धार्थ (भविष्य के बुद्ध) के महिमा मण्डन के लिए बनाया गया है और कुछ हद तक स्वाभाविक है कि इसमें गुरुजी को महत्त्व कम ही दिया जाएगा। मगर इसमें शिक्षण का एक नया दर्शन दिखता है, जो कुछ हद तक भारहुत शिल्प में भी नज़र आया था।

हम पहले यह देखें कि साहित्य में सिद्धार्थ के शिक्षण के बारे में क्या कहा गया है, तो इस नए दर्शन का कुछ और उद्घाटन होगा। अश्वघोष की लिखी 'बुद्धचरित' गौतमबुद्ध की सबसे प्राचीन जीवनी है, जिसे पहली सदी ईस्वी में रचा गया था। यह संस्कृत के प्रारम्भिक काव्यों में से एक है। इसमें अश्वघोष केवल यह कहते हैं कि बुद्ध अपने कुल-योग्य सभी बातें बहुत तेज़ी से सीख गए जिसे सीखने में बाक़ी लोग सालों लगा देते थे। अश्वघोष ने जब कुल-आधारित शिक्षा की बात की थी तब शायद उनका आशय तीरन्दाज़ी और युद्ध कला से भी रहा होगा जो कि क्षत्रियों के लिए ज़रूरी थी। सिद्धार्थ की पाठ्यचर्या में ग्रन्थों का अध्ययन और तीरन्दाज़ी दोनों समान रूप से शामिल थे। इसके बाद रची गई जीवनियों में बुद्ध को एक अतिमानवीय दर्जा देने का प्रयास है और बहुत सी चमत्कारी बातें जोड़ी गई हैं। इनके अनुसार सिद्धार्थ का शिक्षक एक ब्राह्मण था। मगर शिक्षा शुरू होते ही सिद्धार्थ ने सभी प्रकार की लिपियों की जानकारी प्रदर्शित की। गुरुजी के पास उन्हें पढ़ाने के लिए कुछ नहीं था। शिक्षा के बाद एक प्रतियोगिता हुई जिसमें सिद्धार्थ ने एक तीर से सात ताड़ के पेड़ों को चीरते हुए निशाने पर वार किया।

चित्र 4. अजन्ता की गुफा नं. 2 में हारिति और पंचिक

चित्र 5. अजन्ता की गुफा नं. 2 के उसी शिल्प के आसन के हिस्से का डीटेल

इस प्रसंग में यह विचार निहित है कि सिद्धार्थ स्वयं ही ज्ञानवान थे, उन्हें सिखाने की ज़रूरत नहीं थी, फिर भी उन्होंने ग्रन्थों का अध्ययन किया और तीरन्दाज़ी का अभ्यास किया।

इस चित्र में सभी छात्र-छात्राएँ ख़ुद ग्रन्थों की मदद से अध्ययन कर रहे हैं और गुरुजी केवल एक कोने में मौजूद हैं। दूसरे प्रसंग में सिद्धार्थ किसी को देखकर तीर नहीं चला रहे हैं बल्कि ख़ुद अपने प्रयास से तीर चलाना सीख रहे हैं या प्रस्तुत कर रहे हैं।

अब एक मज़ेदार कक्षा का चित्र देखेंगे जो कि अजन्ता की ही गुफा नं. 2 में है। यह वास्तव में एक शिल्पपटल है जो हारिति और पंचिक के विशाल शिल्प के आसन पर खुदा हुआ है। हारिति और पंचिक उन दिनों बच्चों के रखवाले देवी और देवता माने जाते थे।

पटल के दाएँ सिरे पर गुरुजी एक ऊँचे आसन पर बैठे हैं। गुरुजी कुछ भारी-भरकम हैं और थोड़ी तोंद भी निकली हुई है, मथुरा वाले गुरुजी की तरह। पर उनका ख़ास परिचय तो उनकी लम्बी छड़ी है। दाएँ हाथ में थामी हुई छड़ी बच्चों की ग़लतियों का इन्तज़ार कर रही है। नीचे तीन बच्चे बैठे हुए हैं और उनके हाथों में तख़्तियाँ हैं जिन पर वे कुछ लिख रहे हैं। उल्लेखनीय है कि यहाँ भी केवल श्रवण आधारित शिक्षा नहीं है, बल्कि लिखने-पढ़ने पर ज़ोर है। पहले दो बच्चे तो तल्लीनता के साथ लिख रहे हैं, मगर तीसरा बच्चा कुछ 'बोर' सा हो रहा है। वह अपनी तख़्ती को ढीला छोड़कर सामने की ओर देख रहा है। उसके पीछे एक चौथा बच्चा है जो उठ खड़ा हुआ है और अपने एक और साथी के बुलावे पर वहाँ से खिसकने की मुद्रा में है। पटल के बाईं ओर दो बकरे आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। दो बच्चे उनपर सवारी करने की कोशिश कर रहे हैं और तीन और बच्चे उन्हें उकसा रहे हैं। शायद वे अपनी बारी का भी इन्तज़ार कर रहे हैं। इसी मज़े में भाग लेने के लिए बच्चे कक्षा से धीरे-धीरे खिसक रहे हैं।

कक्षा की नीरसता और बाहरी दुनिया की मस्ती की दो विपरीत स्थितियों को शायद ही इससे बेहतर किसी कलाकृति में दर्शाया गया हो। बच्चे कुल दस हैं तो सांख्यिकी का उपयोग करने का लालच हो जाता है। दस में से केवल दो या ज़्यादा से ज़्यादा तीन बच्चे शिक्षा में रुचि ले रहे हैं। बाक़ी आठ उस शिक्षा से विमुख हो जाते हैं। बाहरी दुनिया इतनी रंगीन और मस्ती भरी जो है। बाहरी वास्तविक दुनिया से सीखने की बजाय उससे विमुख कर देने वाली शिक्षा भला किसे भाए!

औपचारिक शिक्षा की नीरसता ख़ुद एक छन्नी का काम करती है। इसमें दस में से आठ बच्चे तो ड्रॉप आउट हो जाते हैं और बस दो-तीन की नैया पार हो पाती है। भारत सरकार के आँकड़ों के अनुसार आज भी दस में से पाँच बच्चे दस साल की शिक्षा पूर्ण करने से पहले ड्रॉप आउट हो जाते हैं।

समकालीन यूनान से कुछ छवियाँ

अपने उपमहाद्वीप के इन चित्रों पर सोचते-सोचते उसी दौर में यूनान, मिस्र व चीन की शिक्षण-छवियों पर भी मेरा ध्यान गया। यूनान में लगभग पाँचवीं सदी ईसा पूर्व में व्यवस्थित

विद्यालयों की स्थापना हुई थी। तब केवल अभिजात्य वर्ग के बच्चों को औपचारिक शिक्षा का मौक़ा मिलता था। यूनान में औपचारिक शिक्षा में प्राथमिकता संगीत और खेल को दी जाती थी और काफ़ी बाद में लिखना-पढ़ना महत्त्वपूर्ण बना। यहाँ एक मृदभाण्ड पर बने चित्र

चित्र 6. डौरिस नामक कलाकार द्वारा एक मिट्टी के कलश पर बनाया गया शिक्षण का चित्र, यूनान, पाँचवीं सदी ईसा पूर्व

(चित्र-6) को देखें तो उन दिनों के शिक्षण के इन पहलुओं का पता चलेगा। इस चित्र में एक ओर एक संगीत शिक्षक अपने छात्र को एक वाद्य बजाना सिखा रहे हैं। छात्र और शिक्षक दोनों कुर्सियों पर बैठे हुए हैं। बीच में शायद वही शिक्षक पढ़ना सिखा रहे हैं और छात्र खड़ा हुआ है। उल्लेखनीय है कि छात्र के पास न कोई किताब है, न लिखने की सामग्री है। अन्त में एक व्यक्ति एक लम्बी छड़ी हाथ में लिए कुर्सी पर बैठा हुआ है। यह, वह व्यक्ति था जो बालक को रोज़ घर से स्कूल लाता था और उसके शिक्षण के दौरान ग़ौर से देखता रहता था, और वापस उसे घर ले आता था– यानी पूरे समय वह छात्र की निगरानी करता था। आमतौर पर वह एक दास होता था। लेकिन बालक के शिक्षण में उसकी भूमिका अहम थी; कहा जाता है कि उसकी भूमिका वास्तविक शिक्षकों से कहीं अधिक थी। शिक्षक तो छात्र को बस गाना-बजाना या पढ़ना-लिखना सिखाते थे। लेकिन यह दास उसकी सभी शैक्षणिक ज़रूरतों पर नज़र रखता था और उसके नैतिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता था। वह लगभग पूरा दिन बालक के साथ ही गुज़ारता था। इस दास को यूनानी भाषा में 'पेडगॉग' कहा जाता था।

यही शब्द आगे जाकर शिक्षण के लिए उपयोग किया जाने लगा– पेडगॉजी (शिक्षण विधि), पेडगॉग (शिक्षक)। यूनानी मूर्तिकला में पेडगॉग के कई मार्मिक चित्रण देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए इन दो चित्रों को देखें। तीसरी सदी ईसा पूर्व में बने ये टेराकोटा शिल्प यूनानी शिक्षण में दासों की भूमिका को उजागर करते हैं। पहले चित्र में दास एक हाथ पर बच्चे का बस्ता लेकर और दूसरे हाथ से बच्चे का हाथ पकड़कर स्कूल ले जा रहा है। दूसरे में दास सोते हुए बच्चे को कंधे पर उठाकर और दूसरे हाथ में लालटेन लिए स्कूल जा रहा है (कहा जाता है कि सर्दियों में सुबह अँधेरा होता था, जिसके कारण लालटेन की

चित्र 7, 8. बालकों को स्कूल ले जाते पेडगॉग (टेराकोटा शिल्प, तीसरी सदी ईसा पूर्व, बर्लिन एवं अन्य संग्रहालय)

ज़रूरत थी), और उसके गले से बस्ता लटक रहा है।

मृदभाण्ड चित्रों में एक अभिजात्यता दिखती है जो कि मिट्टी के शिल्पों में नहीं है। इन शिल्पों में, शिक्षण में दास पेडगॉगों की भूमिका को बहुत ही प्रेम से और दर्द व सहानुभूति के साथ दर्शाया गया है। जहाँ चित्र में आदर्श पर ज़ोर है, वहीं शिल्प में वास्तविकता उभर कर आती है।

ज़ाहिर है कि प्राचीन यूनान में अभिजात्य शिक्षा की एक अलग कल्पना थी जिसमें कला, खेल, साहित्य, आदि का बराबर स्थान था। शिक्षण के चित्रों में हमें एक छात्र और एक शिक्षक ही दिखते हैं, एक सामूहिक कक्षा का आभास नहीं मिलता है। लिपि सीखने या साहित्य रटने पर भारतीय परम्परा की तुलना में अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिखता है।

कुछ अनुत्तरित सवाल

शिक्षण के चित्रण से हमें शिक्षा की अलग अलग कल्पनाओं का आभास तो मिलता ही है, जिसे दोहराने की जरूरत नहीं है। लेकिन कई सवाल भी उठते हैं जिनपर विचार करना लाभकर होगा। क्या लिपि और ग्रन्थ आधारित शिक्षा शुरुआत में ग़ैर-ब्राह्मणवादी परम्पराओं से जुड़ी थी? सीखने-सिखाने में शिक्षकों की भूमिका के अलावा स्वाध्याय व प्रायोगिक क्रियाकलापों का क्या स्थान था? शिक्षण में बाहरी अनुशासन और हिंसा (छड़ी) का क्या स्थान बन रहा था? और क्या कक्षा की नीरसता ख़ुद एक सामाजिक छन्नी का काम करने लगी थी? इन सवालों के कुछ जवाब तो इन चित्रों में हैं, मगर ये इशारे भर हैं, और हम साहित्य और कला के गहन अध्ययन के बाद ही कुछ निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

सी एन सुब्रह्मण्यम् पिछले तीन दशकों से एकलव्य के सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम से जुड़े रहे हैं। वर्तमान में सेवानिवृत्त हैं और इतिहास के बारे में बच्चों और शिक्षकों के लिए लिखने में रुचि रखते हैं।
सम्पर्क : subbu.hbd@gmail.com

होशंगाबाद विज्ञान : सीख, समझ और अवसरों का पिटारा

प्रशांत कुमार दुबे

लेख के दो भाग हैं। पहले भाग में लेखक हाल ही में हुए अपने एक अनुभव का ज़िक्र करते हैं। वे बताते हैं कि बच्चों को व्यस्त रखने के मक़सद से उन्होंने उनके साथ एक प्रयोग किया और इस प्रयोग को करते हुए बच्चे सोचने की प्रक्रिया में शुमार हो गए। बच्चों को ऐसे प्रयोग में मशगूल देख लेखक अपने अतीत में चले जाते हैं और यहीं से लेख का दूसरा भाग शुरू होता है। अपनी स्कूली शिक्षा के दिनों को याद करते हुए लेखक बताते हैं कि उन दिनों शुरू किए गए विज्ञान शिक्षा के एक कार्यक्रम ने विज्ञान की कक्षाओं को कैसे बदल दिया। लेकिन यह ना तो ज़्यादा स्कूलों तक पहुँचा ना ज़्यादा समय तक चल पाया। वे उन कुछ कमियों की बात करते हैं जिन पर यदि ध्यान दिया जाता तो विज्ञान शिक्षा में बेहतरी का यह कार्यक्रम आगे बढ़ सकता था। सं.

पिछले दिनों एक मित्र के घर गया। बच्चे बहुत शोर कर रहे थे, जो कि उन्हें करना ही चाहिए, लेकिन हमें भी बात करना बहुत ज़रूरी था। इसलिए मैंने बच्चों से कहा, "क्या तुम लोग घर में बैठकर मन्दिर के घण्टों की आवाज़ सुनना चाहते हो।" मैं जानता था कि बच्चों का जवाब 'हाँ' में ही होगा। एक पल को तो वे आश्चर्यचकित हुए। मेरा ऐसा विश्वास था कि यहीं से उनके मन में विचारों की एक अन्तहीन शृंखला शुरू हो जाएगी– यही कि क्या घण्टे, मन्दिर से घर में लाए जाएँगे...? कैसी आवाज़ आएगी...? यह सब होगा कैसे...? आदि। इसी बीच मैंने बच्चों से कहा कि वे केवल दो चम्मच और धागा लाएँ और सुन लें मन्दिर के घण्टों की आवाज़– वह भी घर बैठे! इस बात ने कौतूहल और बढ़ा दिया। बच्चे थोड़ी देर में चम्मच और धागा लेकर हाज़िर हो गए। मैंने दोनों चम्मचों को धागे में इस तरह बाँधा कि वह गिरें नहीं, और धागे के दोनों सिरों को उन बच्चों की उँगलियों में बाँधकर उनके कानों में यूँ लगा दिया जैसे कि वह कोई ईयरफोन हो। एक दो बार चम्मच को टकरा दिया। इसके बाद बच्चे थे और यह प्रयोग।

शुरुआत में यह प्रयोग बच्चों के लिए एक खेल ही रहता है लेकिन धीरे-धीरे से ही वे इसमें से सवाल निकालना शुरू करते हैं। सोचना शुरू करते हैं कि यह 'कैसे हो रहा है...''क्या हो रहा है...''क्यों हो रहा है...' से लेकर 'इसलिए होगा'– तक की यात्रा ही दरअसल विज्ञान है। यदि हम विज्ञान जैसे कठिन और तथाकथित उबाऊ विषय को इतना सरल, मज़ेदार, रोचक और इतना ही लोकतान्त्रिक कर दें, जो हरेक की पहुँच में हो, तो फिर क्या कहने : पर जो सरल है वही तो कठिन है! बच्चे घण्टों मन्दिर के ये घण्टे सुनते रह सकते हैं, अपनी राय बनाते रह सकते हैं, ख़ारिज करते रह सकते हैं...।

अब तक मेरी जगह बच्चों के बीच बन गई थी। वे कुछ और नहीं तो मुझसे खुलकर बात तो करने ही लगे थे। मुझे यह नहीं पता कि उन्हें मेरा पहला प्रयोग समझ में आया या नहीं। मैं

उन्हें समझाता भी नहीं हूँ। विज्ञान शिक्षण की सबसे बड़ी दिक़्क़त यही है कि हम विज्ञान को समझाने लगते हैं, जबकि वह तो समझने की विषयवस्तु है। यह स्थिति स्कूलों की भी है और बहुत हद तक घरों की भी। मेरा बहुत ही स्पष्ट मानना है कि यदि विज्ञान में मज़ा आने लगे तो बच्चे सवाल भी करने लगते हैं और उसके हल भी ढूँढ़ना शुरू कर देते हैं; या कम से कम उस दिशा में सोचना तो शुरू करने लगते हैं। हमारे आसपास सब कुछ तो विज्ञान है, ज़रूरत उसे समझने की ही है।

बच्चे, घण्टे वाला प्रयोग कर चुके थे। मैंने बच्चों से पूछा, "क्या आपके घर में फ़ोन है?" किसी ने कहा कि लैण्डलाइन तो एक है, लेकिन मोबाइल कई सारे हैं। इस पर मैंने पूछा, "अच्छा बताओ कि यह कैसे काम करता है? यानी, आप किसी को फ़ोन लगाते हैं तो दूसरे व्यक्ति से बात कैसे हो जाती है? "बच्चे नहीं जानते हैं। उन्हें पता भी कैसे चलेगा क्योंकि उन्होंने तो फ़ोन पर बात करना भर सीखा है, या हमने वैसा ही बताया है– इसमें बच्चों का कोई दोष नहीं। एक उत्साही बालक ग्राहम बेल के आविष्कार से शुरू होकर ओएफ़सी (आप्टिकल फ़ाइबर केबल) तक पहुँच जाता है। लेकिन मेरा मूल सवाल जस का तस है कि यह कैसे काम करता है? अब बच्चे सोच में पड़ जाते हैं।

मेरा बहुत ही स्पष्ट मानना है कि यदि विज्ञान में मज़ा आने लगे तो बच्चे सवाल भी करने लगते हैं और उसके हल भी ढूँढ़ना शुरू कर देते हैं; या कम से कम उस दिशा में सोचना तो शुरू करने लगते हैं। हमारे आसपास सब कुछ तो विज्ञान है, ज़रूरत उसे समझने की ही है।

मैं ही उनकी तन्द्रा तोड़ता हूँ और उनसे पूछता हूँ, "ज़रा यह बताओ कि 2 रुपए में चालू फ़ोन बन सकता है क्या... जिससे बात भी हो जाए और पता भी चल जाए कि यह काम कैसे करता है?" सभी बच्चों ने लगभग एक सुर में कहा– "इम्पॉसिबल।" बस यही वो पल है जिसके बाद विज्ञान मज़ा भी देता है और बच्चों को तर्कसंगत भी बनाता है। यदि बच्चे किसी भी प्रयोग के पीछे के वैज्ञानिक तर्क को समझ लें तो फिर उनके लिए अपने आसपास हो रही घटनाओं के पीछे की कहानियाँ निकालने की तैयारी बढ़ती है, और यही सबसे बेहतर तरीक़ा है विज्ञान को समझने का। तो अब मेरी बारी थी बच्चों के 'इम्पॉसिबल' को 'पॉसिबल' करने की। बच्चों से दो माचिस और एक रुपए का धागा लाने को कहा। बच्चे लाए। मैंने उनसे कहा कि वे सभी तीलियों को एक जगह इकट्ठा कर लें (यह बाद में काम आएँगी)। एक बच्चे को माचिस के ख़ाली डिब्बे में धागा पिरोकर गठान बाँधकर दूर जाने को कहा। दूसरे बच्चे को भी यही बताया। दोनों जब दूर-दूर खड़े हो गए तो मैंने बताया कि इस प्रयोग में शर्त यही है कि धागा तना रहे। अब एक छोर पर खड़े बच्चे से कुछ कहने को और दूसरे छोर पर खड़े बच्चे से सुनने को कहा गया। इसके बाद तो हो गई बात शुरू! यह बच्चों के लिए एक बढ़िया गतिविधि बन गई। उन्हें बहुत मज़ा आने लगा। यहाँ से हम भी अपनी बातों में जुट गए।

जब बच्चे थोड़ी देर बाद फ़ोन वाला खेल खेलकर लौटे, तो हमने यह पूछने की जल्दबाज़ी नहीं दिखाई कि इस प्रयोग से वे क्या सीखे? आमतौर पर हम बड़े, बच्चों को बहुत जल्दी यह बताना चाहते हैं या उनसे जानना चाहते हैं कि यह खेल/प्रयोग क्या सिखाता है। जबकि हरेक बच्चे की सीखने, समझने, गुनने और मथने की प्रक्रिया अलग-अलग है। ठीक इसी तरह की जल्दबाज़ी हमारी पाठ्यपुस्तकों में भी देखने को मिलती है। हर पाठ के बाद पहला सवाल यही होता है, 'इस कहानी से हमें क्या शिक्षा मिलती है? 'यह प्रक्रिया एक समय बाद एक से ही ढर्रे पर होने लगती है और बच्चे बग़ैर कुछ जाने-समझे कुछ भी बताने को आतुर रहते

हैं। लिहाज़ा हमने बच्चों से ऐसा कुछ नहीं पूछा। हमारा मानना है कि बच्चों को मनन करने दो, गुनने दो, मथने दो अपने भीतर उस प्रयोग को। उन्हें क्या सीखना है, नहीं सीखना है यह उन पर छोड़ना उचित होगा। मुझे यक़ीन है कि 35 बच्चे 35 तरह से सोच रहे होंगे। लेकिन जैसे ही हम यह कह देते हैं कि इस कहानी से अमुक शिक्षा मिलती है, तो वहीं से सोचने की प्रक्रिया ख़त्म और याद रखने (रटने) की शुरू होती है।

हमें तो चूँकि अपने दोस्त के साथ बात करनी थी, इसलिए हम एक के बाद एक प्रयोग करने को कह रहे थे, जो कि ग़लत है। यह ठीक वैसा ही है कि बच्चे की समझ बने या ना बने, लेकिन स्कूलों में पाठ्यक्रम को ख़त्म करने की जानी-अनजानी होड़ लगने लगती है। मैंने बच्चों से कहा कि वे ज़रा षट्कोण, अष्टकोण बनाकर बताएँ। बच्चों ने काग़ज़ पर आकृतियाँ उकेरनी शुरू कर दीं तो मैंने कहा कि वे इसे भौतिक रूप से बनाकर बताएँ। यहाँ पर बच्चे फँस गए। हम बच्चों को आकृतियों में तो इस तरह की चीज़ें बता देते हैं लेकिन व्यवहार में समझाते नहीं हैं। जब बच्चे नहीं बना पाए तो मैंने बच्चों से पूछा कि साइकिल कितनों के पास है– लगभग सभी ने 'हाँ' में जवाब दिया। मैंने कहा, "साइकिल का वॉल्वट्यूब (ट्यूब में हवा भरने के स्थान पर लगा रबर का पाइप) ले आओ और माचिस की वही तीलियाँ भी, जो फोन के प्रयोग के समय हमने निकालकर रख दी थीं।" मैंने कुछ ही सेकण्ड में बच्चों को तीलियों और वॉल्वट्यूब से षट्कोण बनाकर दिखाया। बच्चे बहुत ही कौतूहल से पहली बार अपने हाथों में षट्कोण को उठाकर देख रहे थे। अब आकृतियाँ थीं और बच्चे थे।

हमारा मानना है कि बच्चों को मनन करने दो, गुनने दो, मथने दो अपने भीतर उस प्रयोग को। उन्हें क्या सीखना है, नहीं सीखना है यह उन पर छोड़ना उचित होगा। मुझे यक़ीन है कि 35 बच्चे 35 तरह से सोच रहे होंगे। लेकिन जैसे ही हम यह कह देते हैं कि इस कहानी से अमुक शिक्षा मिलती है, तो वहीं से सोचने की प्रक्रिया ख़त्म और याद रखने (रटने) की शुरू होती है।

बच्चों को बहुत मज़ा आ रहा था, लेकिन सवाल क़ायम है कि बच्चों को मज़ा क्यों आ रहा था...? क्योंकि बच्चों ने इतने सरल प्रयोगों/शब्दों और कम ख़र्च में विज्ञान को समझा ही कहाँ था! वे जिन स्कूलों में पढ़ते हैं वहाँ अधिकांशतः विज्ञान को रटाया ही जा रहा है।

यहीं से मैं अपने अतीत यानी होशंगाबाद शिक्षण कार्यक्रम की ओर लौटा। यह मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में विज्ञान को जन-जन तक और बच्चे-बच्चे तक मज़ेदार तरीक़े से ले जाने का एक अभिनव प्रयोग था। इसे 'एकलव्य' नामक संस्था ने शुरू किया था। मैंने अपने उच्च प्राथमिक स्कूल जीवन में, यानी कक्षा 6ठी से 8वीं तक, इसे पढ़ा था। पढ़ना शायद ठीक शब्द न हो तो, मैं कह सकता हूँ कि जिया था। यह वर्ष 1988 के आसपास की बात थी। शोभापुर नामक छोटे से गाँव में हमें श्री एनके साहू सर पढ़ाते थे। दरअसल उसमें पढ़ना कहाँ था? उसमें तो बस घूमना था, अपने आसपास को अपने चश्मे से समझना था, जानना था। थोड़े बहुत दिशा निर्देश किताब ने दे दिए थे। बच्चे को यह सब मिल जाते तो और क्या चाहिए था। बच्चों के लिए यह केवल मज़े का एक सौदा था।

सातवीं तक हम अपने आसपास के पेड़, पौधों, उनकी पत्तियों, पत्तियों की संरचनाओं आदि के विषय में जान गए थे। हालाँकि मैं यह नहीं कहता कि गाँव के एक बच्चे को यह सब सीखना होता है, बल्कि उसका तो इन सबसे बचपन से ही साक्षात्कार होता रहता है। फ़र्क़ यह था कि हम व्यवस्थित रूप से समझ रहे थे। यूँ अपने आसपास मक्खी को उड़ते देखते ही हैं, लेकिन मक्खी का जीवन-चक्र क्या है...

यह मैंने यहीं जाना। वो भी कहाँ से... ? गोबर से। गोबर में शक्कर/गुड़ रखो। मक्खी उस पर आएगी, अपने अण्डे देगी। अण्डे की अलग-अलग अवस्थाओं को सूक्ष्मदर्शी की मदद से देखना, अपने अवलोकन लिखना और एक दिन मक्खी का उड़ जाना। एक बच्चे के लिए इससे अच्छा और क्या होगा कि उसे परीक्षा में अपनी किताब अपने साथ ले जाने का मौक़ा दिया जाए। लेकिन उससे भी रोचक यह है कि बच्चा उस किताब की ओर न देखे– क्योंकि वह तो सार को समझ रहा है। फिर, यदि बच्चा मर्म को समझ जाए तो क्या कहने! दार्शनिक अर्थों में कहें तो जिसने मक्खी के जीवन-चक्र को समझते हुए जीवन की नश्वरता को समझा है, उसके लिए परीक्षा जैसे आडम्बर तो फिर छलावा हैं और अपना आसपास, सब कुछ, विज्ञान है।

हम कुछ ऐसे ही समझे थे विज्ञान को। इस प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी रहा कि यदि बच्चे किसी शंका में हों या फिर कोई जिज्ञासा हो तो उसे भी सुनिश्चित किए जाने की व्यवस्था की गई। बच्चों को भरोसा हो गया था कि यदि हम कोई भी बात पूछेंगे तो जवाब मिले या न मिले, पर कोई तो है जो हमारी बात सुनेगा। अव्वल तो हमारे यहाँ ज़्यादा सवाल करने वाले बच्चे को ही हम 'बतख़ोर' बोल देते हैं, या फिर हम बच्चों को अनुशासन के नाम पर बोलने ही नहीं देते हैं। नतीजतन, बच्चे पूछना ही बन्द कर देते हैं। मुझे बहुत अच्छे से याद है कि हमारे स्कूल में मेरे द्वारा बार-बार सवाल पूछने पर एक सर कहते थे, "कित्तो सवाल पूछत है जो मोड़ा...", और वे पूरी कक्षा के सामने टिप्पणियाँ करते। मैंने धीरे-धीरे पूछना बन्द कर दिया तो फिर कहते थे, "पूछ ले, पूछ ले, नहीं तो पेट दुखे है।"

अव्वल तो हमारे यहाँ ज़्यादा सवाल करने वाले बच्चे को ही हम 'बतख़ोर' बोल देते हैं, या फिर हम बच्चों को अनुशासन के नाम पर बोलने ही नहीं देते हैं। नतीजतन, बच्चे पूछना ही बन्द कर देते हैं। मुझे बहुत अच्छे से याद है कि हमारे स्कूल में मेरे द्वारा बार-बार सवाल पूछने पर एक सर कहते थे, "कित्तो सवाल पूछत है जो मोड़ा...",

बहरहाल, इस प्रयोग में बच्चों को सवाल पूछने की पूरी आज़ादी थी और इस बात की गारण्टी भी कि उनके सवाल का जवाब मिलेगा। किताब के पीछे सवालों से बनाई गई आकृति के रूप में 'सवालीराम' का स्कैच बना रहता था। आज सोचता हूँ कि उसका नाम सवालीराम क्यों था? जबकि वह तो जवाब देता था! और जब सवालीराम का जवाब किसी को आ जाए तो उस पोस्टकार्ड को इस तरह से बताना जैसे कोई ख़ज़ाना हाथ लगा हो, यह मेरे लिए एक अलग ही अनुभव था। ऐसा करना शायद और भी बच्चों को सवाल पूछने के लिए प्रेरित करता रहा होगा।

विज्ञान शिक्षण की यह प्रक्रिया बहुत ही रोचक रही। लेकिन इसके साथ तीन तरह की दिक़्क़त रही, जो काफ़ी बाद में समझ में आई। जैसे, सबसे बड़ी बात है कि यह कार्यक्रम उच्च प्राथमिक स्तर से शुरू किया गया। जबकि इसके पहले एक बच्चा 5 साल (प्राथमिक स्तर) तक एक ढर्रे में ढल चुका होता है– वह न चाहते हुए भी रटन्त विद्या में निपुण हो जाता है क्योंकि शिक्षण की पद्धतियाँ भी वैसी ही हैं। दूसरा मसला है कि एक ओर विज्ञान शिक्षण को लेकर तो बहुत ही अलग तरह का काम है, लेकिन बाक़ी विषयों को शिक्षक उसी अरुचि/ढर्रे से पढ़ा रहे हैं। इससे बच्चों की एक विषय में तो रुचि बढ़ती है, लेकिन जब दूसरे विषय उसी अरुचि से पढ़ाए जा रहे हैं तो विद्यार्थियों का भ्रमित होना बहुत ही सामान्य है। तीसरी है शिक्षक बिरादरी, जो कि विज्ञान शिक्षक को 'फ़ुरसतिया' कहकर सम्बोधित करती क्योंकि उन्हें लगता कि विज्ञान शिक्षक तो बच्चों को आसपास भेज देते हैं और ख़ुद फ़ुर्सत में रहते हैं। 'फ़ुरसतिया', एक खीझ से उपजा शब्द

था। प्रशिक्षण, शिक्षण की गुणवत्ता, बच्चों की समझ के अनुरूप शिक्षण और स्वयं की सोच में परिवर्तन : यह सब करना आसान तो नहीं है। इतना सब करने के बाद भी यह सम्बोधन दिया जाता रहा, जो समझ से परे है। मुझे यह नहीं पता कि विज्ञान शिक्षकों ने इसे कैसे लिया, पर शायद अच्छे से तो नहीं लिया होगा।

इसके अलावा जो सबसे बड़ी चुनौती थी वह यह कि इस प्रक्रिया में पालक और समुदाय दोनों ही लगभग दर्शक दीर्घा में रहे। उनसे न कोई संवाद था और न ही प्रतिक्रिया पाने की कोई गुंजाइश। प्रयोग अच्छे हैं या नहीं, या इनसे बच्चे की सीख, समझ और सोच में बदलाव हो रहा है या नहीं– यह सब जाँचने-मापने की कोई भी क्रियाविधि विकसित नहीं की गई थी। इससे यह प्रक्रिया काफ़ी हद तक एकतरफ़ा हो गई थी, जो कि इस पूरी प्रक्रिया का दुर्भाग्यपूर्ण पहलू था। इस प्रक्रिया का सबसे सकारात्मक पक्ष तो यही था कि शिक्षकों की एक बड़ी प्रशिक्षित जमात सामने आ रही थी जिन्होंने विज्ञान को आत्मसात कर बच्चों के सामने मनोरंजनात्मक तरीक़े से रखने का हुनर सीख लिया था।

वर्ष 2002 : एक दिन अचानक ख़बर आती है कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम बन्द कर दिया गया। कुछ बहुत ख़ुश थे, कुछ बहुत निराश। मैं अपने आपको निराश समूह में पाता था। मुझे लगता है कि इन कमज़ोरियों को दूर करते हुए इस तरह के प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षण को बढ़ावा दिए जाने की आज भी बहुत ज़रूरत है। मेरा बहुत ही मज़बूती से मानना है कि बच्चों को विज्ञान को समझने के मौक़े दिए जाने चाहिए, न कि हर वक़्त उन्हें समझाते रहना चाहिए।

प्रशांत कुमार दुबे पिछले डेढ़ दशक से विभिन्न संगठनों के साथ जुड़कर बाल अधिकार के मुद्दे पर सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। वर्तमान में 'आवाज़' भोपाल से सम्बद्ध हैं।
सम्पर्क : prashantd1977@gmail.com.

शिक्षण : तैयारी से कक्षा तक

राधेश्याम थवाईत

शिक्षण में समझ के स्तर पर और कौशलों के रूप में पारंगत होने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक स्वयं को इसमें गहराई से जोड़ें। इसके विविध पहलुओं पर उनकी सरोकारी व तर्कपूर्ण दृष्टि हो और संवैधानिक मूल्यों के प्रति संचेतना। लेखक ने इस आलेख में एक शिक्षण चक्र के बारे में विस्तार से बात की है। इसके तहत उन्होंने शिक्षण की पूर्व तैयारी, विषयगत उद्देश्य की पड़ताल, पाठगत उद्देश्यों का निर्धारण, शिक्षण प्रक्रिया के विविध सरोकार और फिर सम्पूर्ण प्रयास पर समालोचनात्मक चिन्तन का उल्लेख किया है। एक तरह से यह लेख परम्परागत शिक्षक से विचारशील शिक्षक बनने के कुछ सूत्र हमें सुझाता है। सं.

परिचय

एक सम्पूर्ण शिक्षण चक्र को ध्यान से देखा जाए तो इसके तीन हिस्से नज़र आते हैं। पहले हिस्से को शिक्षण कार्य से पूर्व की तैयारी, दूसरे हिस्से को शिक्षण कार्य (प्रक्रिया) और तीसरे हिस्से को 'चिन्तनशील सोच' के रूप में देख सकते हैं। (यहाँ आकलन को शिक्षण प्रक्रिया के हिस्से के रूप में देखा गया है) शिक्षण कार्य की पूर्व तैयारी को सामान्य ढंग से देखने से तो सिर्फ यह दिखाई पड़ता है कि विषयगत पाठ, जिसको पढ़ाना है, को एक बार ध्यान से पढ़ लिया जाए। ज़्यादातर शिक्षक ऐसा ही करते हैं जबकि कुछ शिक्षक तो इसे भी ज़रूरी नहीं समझते। यदि हम शिक्षण को एक कौशल के रूप में देखें तो इसकी 'तैयारी और इसका अभ्यास' महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यहाँ अभ्यास से आशय है शिक्षण कार्य को करते हुए उसमें निखार लाना। ऐसा सम्भव नहीं है कि पहले इसका अभ्यास कर लिया जाए फिर बाद में शिक्षण कार्य को प्रारम्भ करें। जिस तरह तैरना सीखने के लिए तैरना अनिवार्य शर्त है उसी तरह शिक्षण में पारंगत होने की अनिवार्य शर्त है शिक्षण कार्य में स्वयं को लिप्त करना और ऐसा करके ही शिक्षण कार्य में पारंगतता हासिल की जा सकती है। बहरहाल किसी भी विषय में शिक्षण कार्य की तैयारी तीन तरह के प्रश्न पूछते हुए की जा सकती है–

- शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं? जो मूलतः इससे निर्धारित होते हैं कि किस प्रकार का समाज हमें चाहिए?
- जिस विषय का शिक्षण कार्य किया जाना है उस विषय को पढ़ाने के क्या उद्देश्य हैं? उस विषय के माध्यम से बच्चों में किन कौशलों व क्षमताओं का विकास किया जाना है? (इसे सहूलियत के लिए 'विषयगत उद्देश्य' कह सकते हैं।)
- विषयगत उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किस विषयवस्तु को माध्यम बनाया गया है? किस विषयवस्तु पर समझ बनाने की कोशिश की गई है? (इसे सहूलियत के लिए पाठगत उद्देश्य कह सकते हैं।)

शिक्षण की पूर्व तैयारी

सबसे पहले शिक्षा के उद्देश्यों को शिक्षण कार्य की पूर्व तैयारी के रूप देखते हैं। इसके

लिए स्कूल और समाज के मध्य सम्बन्ध एवं शिक्षा के संवैधानिक मूल्यों पर विचार करना महत्त्वपूर्ण हो सकता है। हम किस प्रकार का समाज स्थापित/विकसित करना चाहते हैं? इस प्रकार के शैक्षिक लक्ष्यों में लगातार लम्बे समय तक कार्य करने के बाद ही कह सकते हैं कि हम उस शैक्षिक लक्ष्य तक पहुँच पाए या नहीं। उदाहरण के लिए यदि हमारा शैक्षिक लक्ष्य 'न्याय पर आधारित समाज की स्थापना' करना है तो हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि न्याय से हमारा आशय क्या है। क्या जाति, धर्म, लिंग में भेद किए बिना सबके अधिकारों की रक्षा करना न्याय है? क्या ऐसे समाज को देखना जहाँ शान्ति, डर एवं भय से नहीं बल्कि एक-दूसरे के अधिकारों का सम्मान करते हुए स्थापित हो, न्याय है? ऐसे कई तरीकों से हमें न्याय को परिभाषित करना होगा।

उसके बाद हमें इस पर विचार करना होगा कि जितनी देर कक्षा में बच्चों के साथ अन्तःक्रिया होगी उसमें शिक्षक का व्यवहार कैसा होगा, उसे किन-किन बातों को ध्यान रखना होगा। ऐसे अन्य कई पहलुओं पर भी विचार करना होगा। जैसे शिक्षक और बच्चों के मध्य या बच्चों और बच्चों के मध्य की अन्तःक्रिया में कहीं जाति, धर्म, लिंग आधारित भेदभावपूर्ण व्यवहार (अनजाने में भी) तो नहीं हो रहा है। आमतौर पर एक शिक्षक पाठ्यक्रम के सभी घटकों को ध्यान नहीं रखता। किसी विषयवस्तु पर कार्य करते हुए वह शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों को अनजाने में ही सही, भूल जाता है और उन्हें कक्षा में स्थान नहीं दे पाता। जैसे जब कोई शिक्षक 'नक्शा सिखा रहा होता है तो नक़्शे के 'पठन कौशल' को विकसित करना मुख्य उद्देश्य हो जाता है जबकि शिक्षण के हर क्षण हमें शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों (जिसके लिए शिक्षा तंत्र विकसित हुआ है), जो लम्बे समय अन्तराल के बाद पूरे होने होते हैं, को भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। उदाहरण के लिए यहाँ यह देखा जाना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि बच्चे नक़्शे के 'पठन कौशल' का उपयोग एक-दूसरे से सहयोगात्मक ढंग से सीखने में कर रहे हैं या नहीं। यही 'सहयोग की भावना' वयस्क समाज को वांछित समाज की ओर ले जाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। इस प्रकार शिक्षण की पहली तैयारी में शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए 'कैसे कार्य किया जाना होगा' पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए।

विषयगत उद्देश्य

अभी हमने शिक्षण की तैयारी के लिए उठाए गए तीन प्रश्नों में से पहले प्रश्न 'शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं' पर कुछ उदाहरणों के साथ विचार करने का प्रयास किया है। अब हम इसके दूसरे प्रश्न 'जिस विषय का शिक्षण कार्य किया जाना है उसकी प्रकृति क्या है एवं उस विषय को पढ़ाने के क्या उद्देश्य हैं? इस विषय के माध्यम से बच्चों में किन कौशलों व क्षमताओं का विकास किया जाना है?' (जिसे हमने सहूलियत के लिए विषयगत उद्देश्य का नाम दिया है), पर विचार करते हैं कि आखिर विषयगत उद्देश्य के तहत शिक्षण की क्या तैयारी की जा सकती है। जैसे गणित पढ़ाने का उद्देश्य हो सकता है बच्चों में तार्किक क्षमता का विकास करना, अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को गणितीय ढंग से सुलझा पाना आदि। भाषा पढ़ाने का उद्देश्य हो सकता है कि बच्चे स्वतंत्र रूप से विचार कर सकें, अपनी बातों को निर्भीकता से दूसरों के समक्ष रख सकें आदि। इसी तरह सामाजिक विज्ञान को पढ़ाने का उद्देश्य हो सकता है कि बच्चे समाज में घट रही विभिन्न घटनाओं के मध्य सम्बन्धों को देख सकें। विज्ञान का उद्देश्य हो सकता है कि बच्चों में वैज्ञानिक सोच पैदा हो। इन्हीं सब उद्देश्यों के आधार पर कक्षागत अभ्यास का नियोजन करना शिक्षण का महत्त्वपूर्ण पहलू हो सकता है, जिसके आधार पर कक्षा में की जाने वाली गतिविधियों को दिशा प्रदान की जा सकती है, शिक्षण सहायक सामग्री का विवेक सम्मत उपयोग सुनिश्चित किया जा सकता है।

सामाजिक विज्ञान में इतिहास, राजनीतिशास्त्र एवं भूगोल जैसे विषयों को समाहित किया जाता है। आगे अपनी बात को बढ़ाने के लिए भूगोल विषय के अनेक उद्देश्यों में से एक बृहद उद्देश्य 'विभिन्न घटनाओं के मध्य आपसी सम्बन्धों को समझना' को एक उदाहरण के रूप में ले सकते हैं– जैसे किसी स्थान की धरातलीय संरचना का वहाँ होने वाली वर्षा की मात्रा के साथ क्या सम्बन्ध होता है और वर्षा का वहाँ होने वाली फसलों के साथ क्या सम्बन्ध होगा अर्थात वहाँ किस तरह की फसलें उगाई जाती हैं? आदि। इसी तरह कुछ कौशलों का विकास करना भी इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण विषयगत उद्देश्य है। उदाहरण के लिए 'नक्शा पठन' का कौशल। यदि हमारा भूगोल पढ़ाने का 'विषयगत' उद्देश्य बच्चों में नक़्शे का पठन कौशल विकसित करना है तो हमें हमारी कक्षा संचालन की तैयारी में विभिन्न देशों (स्तरानुसार) के नक़्शों का मुख्य शिक्षण सामग्री के रूप में चयन करना होगा। यह देखना होगा कि बच्चों के लिए लिखी गई पाठ्यपुस्तकों में मुद्रित नक़्शे का उपयोग किस तरह से हो। नक़्शे पढ़ने के सभी आवश्यक घटकों (दिशा, पैमाने, संकेत चिह्न, रंग आदि) पर बच्चों में समझ विकसित करने सम्बन्धी गतिविधियों का नियोजन करना होगा। यह भी सुनिश्चित करना होगा कि इस पठन कौशल को विकसित करने के लिए बच्चों को व्यक्तिगत कार्य करने का अवसर, जोड़ी में कार्य करने का अवसर एवं समूह में कार्य करने का अवसर कहाँ-कहाँ व किस तरह देना होगा/दिया जा सकता है। इस प्रकार विषयगत उद्देश्य यह तय करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं कि कक्षा संचालन की तैयारी किस तरह की जानी चाहिए।

पाठगत उद्देश्य – विषयवस्तु

अब हम शिक्षण की तैयारी के लिए उठाए गए तीन प्रश्नों में से तीसरे एवं अन्तिम प्रश्न 'विषयगत उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किस विषयवस्तु को माध्यम बनाया गया है? किस विषयवस्तु पर समझ बनाने की कोशिश की गई है?' पर विचार करते हैं। जैसा कि प्रश्न में ही कहा गया है कि विषयगत उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किस 'विषयवस्तु' को माध्यम बनाया गया है? यहाँ हम भूगोल विषय में 'अफ्रीका महाद्वीप' को पाठगत विषयवस्तु (माध्यम) के रूप में लेते हुए अपनी बात को आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं। इस विषयवस्तु में निश्चित ही विषयगत उद्देश्य 'नक़्शे का पठन कौशल' तो है ही पर साथ में यह समझ भी विकसित करना अवश्यम्भावी हो जाता है कि बच्चे अफ्रीका महाद्वीप की भौतिक संरचना को इस आशय के साथ समझें कि यह वहाँ की जलवायु, वर्षा, जनजीवन आदि को किस तरह प्रभावित करती है। इस तरह यह सभी इसके पाठगत उद्देश्य कहे जाएँगे। अतः इन पाठगत उद्देश्यों को ध्यान में रखकर कक्षा की गतिविधियों को दिशा देना होगा। जैसे बच्चों को यह अवसर देना कि सभी बच्चे व्यक्तिगत कार्य के रूप में नक़्शे के पठन कौशल का उपयोग करते हुए अफ्रीका महाद्वीप के भौतिक भागों का वर्णन करें, इसे जोड़ी में या छोटे-छोटे समूहों में कार्य कराने की लिए भी गतिविधियों का नियोजन किया जा सकता है। यहाँ शिक्षक की स्वायत्तता है कि विषयवस्तु पर कार्य करने की तैयारी वह किस प्रकार करता है।

शिक्षण प्रक्रिया

इस लेख के प्रारम्भ में ही हमने 'शिक्षण चक्र' शब्द का उपयोग किया है और इस चक्र के पहले हिस्से के रूप में 'शिक्षण कार्य की पूर्व तैयारी' पर हम काफ़ी बातचीत कर चुके हैं। अब हम इस चक्र के दूसरे हिस्से 'शिक्षण कार्य (प्रक्रिया)' पर बात करते हैं, अर्थात अब हम उपरोक्त तैयारी के बाद कक्षा में शिक्षण कार्य के लिए प्रवेश करते हैं। जब हम कक्षा में प्रवेश करते हैं तो हमें सबसे पहले जिस पर विचार करना श्रेयस्कर हो सकता है वह है– 'कक्षा का वातावरण'। यह सर्वमान्य है कि बच्चों का 'अच्छी तरह सीखना' एक कक्षा के अच्छे वातावरण में

सम्भव होता है। यहाँ अच्छे वातावरण से आशय एक ऐसे स्थल से है जहाँ बच्चों की देखभाल होती हो वह भी लिंग-जाति-धर्म-सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि पर भेदभाव किए बिना। एक ऐसा स्थल जहाँ शिक्षक और बच्चों के मध्य एवं बच्चों व बच्चों के मध्य अन्तर्क्रिया करने का पूरा अवसर उपलब्ध होता हो। जहाँ बच्चे यह उम्मीद करते हों कि शिक्षक उन्हें सीखने की सभी गतिविधियों में शामिल करेंगे। जहाँ बच्चों के अनुभव एवं पूर्व ज्ञान का सम्मान किया जाता हो। जहाँ बच्चे बिना डर-भय के अपनी बात कक्षा में रख सकते हों। जहाँ बच्चों द्वारा त्रुटियों को सीखने की सीढ़ी के रूप में देखा जाता हो। जहाँ बच्चे एक-दूसरे के सहयोग को सीखने की प्रक्रिया में शामिल करते हों।

अब बारी आती है शिक्षक के द्वारा अपने पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अनुसार कक्षा के संचालन की। कक्षा संचालन के दौरान की जाने वाली अनेक गतिविधियों को मुख्य रूप से दो भागों में रखा जा सकता है। एक वह गतिविधियाँ जिन्हें सीधे शैक्षिक प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं और दूसरी वह जिन्हें कक्षा में आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए काम में लाते हैं। बच्चों को गतिविधियों के अनुरूप बिठाना, पुस्तक खोलने के लिए कहना, शार्पनर से पेंसिल में धार करने के लिए कहना, बच्चों से चॉक मँगवाना आदि ऐसे कुछ काम हैं जिन्हें हम शिक्षण की विशिष्ट गतिविधियाँ नहीं कह सकते बल्कि बच्चों द्वारा आपस में किसी मुद्दे पर चर्चा करने, खोज करने, शिक्षक के द्वारा किसी विषय पर व्याख्यान देने जैसी गतिविधियों को विशिष्ट शैक्षिक गतिविधियों के रूप में देखा जा सकता है। कक्षा संचालन की इन गतिविधियों में पढ़ाए जाने वाले विषय के लिए बच्चों के पूर्व ज्ञान को टटोलना, उन्हें उनके पूर्व ज्ञान को व्यक्त करने का अवसर देना भी महत्त्वपूर्ण है।

कक्षा संचालन के दौरान शिक्षण सहायक सामग्री के उपयोग के बारे में बहुत-सी भ्रान्तियाँ शिक्षकों में अभी भी मौजूद हैं। जैसे भूगोल में ग्लोब की समझ पर आधारित पाठ में पूरी कक्षा के लिए सिर्फ 'एक' ग्लोब का उपयोग करते हुए शिक्षक यह मान लेता है कि पूरी कक्षा में एक ग्लोब के उपयोग द्वारा अपेक्षित विषयवस्तु की समझ विकसित हो गई। जबकि केवल उन्हीं बच्चों में थोड़ी बहुत समझ विकसित होती है जिन्हें ग्लोब को छूकर-पास से देखकर समझने का अवसर मिलता है। छोटे-छोटे समूहों में बच्चे ग्लोब लेकर कार्य करें ऐसे अवसर देने के लिए एक कक्षा में एक से ज़्यादा ग्लोब की आवश्यकता होगी। इस प्रकार बच्चों में सीखने के अवसर को लेकर भेदभाव अनजाने में ही शिक्षण के दौरान हो जाता है।

यह सत्य है कि कक्षा में बच्चों को सीखने का अवसर कितना मिलता है यह इस पर निर्भर करता है कि उन्हें पाठ्यक्रम / पाठ्यचर्या द्वारा निर्धारित विषयवस्तुओं की गतिविधियों में भाग लेने का कितना अवसर मिलता है। यहाँ सीखने के अवसर में 'समता' एवं 'समानता' जैसे शब्दों के असल मायने को शिक्षण के दौरान ध्यान में रखना होता है।

कक्षा में शिक्षण के दौरान बच्चों के सीखने की प्रक्रिया और प्रकृति को भी ध्यान में रखना होता है। जब हम कहते हैं कि बच्चा स्वयं सीखता है, अपने साथी से अन्तःक्रिया करते हुए सीखता है, छोटे समूहों में सीखता है, तो सीखने की यह प्रक्रिया कक्षा में हो पाए इसके लिए कक्षा में बच्चों को अवसर देना होगा। इस प्रकार के सहयोगात्मक अध्ययन (को-ऑपरेटिव लर्निंग) से हम प्रभावशाली शिक्षण के साथ सामाजिक अन्तःक्रिया को प्रोत्साहित कर सकते हैं। यह बच्चों की रुचि, विषयगत मूल्य एवं उनकी सकारात्मक अभिवृत्ति को भी बढ़ाता है। चूँकि चर्चा करना को-ऑपरेटिव लर्निंग का मुख्य हिस्सा होता है अतः इसमें संज्ञानात्मक एवं उनकी सह-संज्ञानात्मक क्षमता को पोषित करने, उसे विकसित करने की पूरी गुंजाइश होती है। जबकि परम्परागत शिक्षण प्रक्रिया में पूरी कक्षा को किसी एक ही विषयवस्तु/

पाठ में एक साथ एक ही स्तर का मानकर शिक्षण कराया जाता है, साथ ही जो कार्य बच्चों को दिए जाते हैं उसे सभी बच्चे व्यक्तिगत रूप से करते हैं व एक नियत समय में करते हैं। को-ऑपरेटिव लर्निंग में भी पूरी कक्षा के साथ एक साथ ही काम होता है, लेकिन इसमें बच्चों का जोड़ी में काम करना, छोटे समूहों में भागीदारी करते हुए काम करना इसे विशिष्ट बना देता है। यह सीखने को सार्थक बनाता है जिसे सामाजिक मूल्यों, जिनकी हमने शिक्षा के सामान्य मूल्यों के अन्तर्गत बात की, के साथ भी जोड़कर देखा जा सकता है।

यद्यपि को-ऑपरेटिव लर्निंग में विशेषकर छोटे समूहों में कार्य करने का अवसर देना कक्षा में उपलब्ध शिक्षण सहायक सामग्री पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए बच्चों में ग्लोब की समझ एवं पठन कौशल विकसित करने के लिए छोटे समूहों में 'सीखने' का अवसर देना है तो कक्षा में एकमात्र ग्लोब से काम नहीं चलेगा।

शिक्षण रणनीति में सामान्य सीखने एवं पठन कौशल के अलावा अर्थ निर्माण, गणितीय समस्याओं को सुलझाना और वैज्ञानिक ढंग से तार्किक सोच के लिए शिक्षण करना शिक्षण का मुख्य भाग होना चाहिए। शिक्षण के दौरान सम्पूर्ण रणनीति में कुछ सवाल बच्चों के ज्ञान के सन्दर्भ में किए जा सकते हैं कि किसी ज्ञान/जानकारी को बच्चे कितना जानते हैं, कैसे जानते हैं, और इस समझ या जानकारी को कब, क्यों व किन परिस्थितियों में उपयोग कर सकते हैं। इस तरह की रणनीति से शिक्षण को पुख्ता बनाया जा सकता है।

जैसा कि लेख के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'आकलन' शिक्षण प्रक्रिया में सम्मिलित है जो सतत चलता है तो इसके लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि एक शिक्षक अपनी शिक्षण प्रक्रिया के दौरान सभी बच्चों का यथोचित अवलोकन करता रहे। और अभ्यास और अनुप्रयोग का अवसर बच्चों को आवश्यकतानुसार उपलब्ध कराता रहे। शिक्षक को हमेशा अनेक औपचारिक व अनौपचारिक मूल्यांकन के तरीकों को अपनी शिक्षण प्रक्रिया में स्थान देना चाहिए। मूल्यांकन चाहे जिस तरीके का हो वह लक्ष्य आधारित होना चाहिए। यह भी सत्य है कि अच्छी तरह से विकसित पाठ्यक्रम में मूल्यांकन/आकलन के घटक स्वमेव शामिल होते हैं। समझ आधारित आकलन करते समय यह देखा जाना चाहिए कि बच्चे अपने उत्तरों में अपने तर्क को कितना स्थान देते हैं।

एक अच्छी शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक बच्चों का आकलन केवल ग्रेड देने के लिए नहीं बल्कि बच्चों की उपलब्धि को समग्रता में देखने के लिए करता है। साथ ही वह सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के दौरान ही बच्चों की उपलब्धि व उन्हें सीखने में आने वाली कठिनाइयों का सतत अनुवीक्षण करता रहता है।

जहाँ तक सीखने और आकलन का सम्बन्ध है ज़्यादातर बच्चों को अभ्यास के मौक़े और करके देखने का मौक़ा देने से वह सीखने के लिए उत्साहित नज़र आते हैं। जैसे यदि गुणा सीख लिया तो बार-बार गुणा करने के अभ्यास के लिए बच्चों के द्वारा गुणे के सवालों की माँग करना। वह अपने सीखे हुए को और अच्छा करने के लिए अभ्यास करते हैं, बशर्ते सीखने का वातावरण शिक्षक ने बनाया हो। आकलन की कड़ी में अभ्यास और अनुप्रयोग की दिशा में अवसर उपलब्ध कराने के उद्देश्य से बच्चों को गृहकार्य देना भी एक सार्थक कदम हो सकता है। यद्यपि बच्चों को गृहकार्य देना आदर्श स्थिति में अनुचित समझा जाता है। इसके बावजूद प्रश्नों की प्रकृति और उसके कठिनाई के स्तर को ध्यान में रखकर गृहकार्य देने से अभ्यास के अवसर को बढ़ाया जा सकता है। यह गृहकार्य ऐसा हो सकता है जिसे वह स्वतंत्र रूप से स्वयं कर सके। गृहकार्य देने के बाद यह सावधानी

रखनी पड़ती है कि अगले दिन बच्चे जब शाला आएँ तो उसे जाँचा-परखा जाए, सुधार की आवश्यकता पड़ने पर सुधारने के मौक़े बच्चों को अवश्य दिए जाएँ।

चिन्तनशील सोच

अब हम बात करते हैं शिक्षण चक्र के अन्तिम हिस्से 'चिन्तनशील सोच' (रिफ्लेक्टिव थिंकिंग) की। यह एक कौशल है जो शिक्षक एवं शिक्षण के मध्य का महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है। यह एक तरह का स्व-आकलन/समीक्षा जैसा कुछ है, जिसमें शिक्षक अपने किए गए प्रयास को उद्देश्यपूर्ण उपलब्धि के साथ जोड़कर देखता है और अपने प्रयासों में लगातार सुधार करता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार शिक्षण की तैयारी में शिक्षा के सभी पहलुओं को देखना एक अच्छी शिक्षण प्रक्रिया के लिए महत्त्वपूर्ण है। आखिरकार शिक्षा तंत्र की उपादेयता इसी में है कि बच्चे का सर्वांगीण विकास हो और वह एक ऐसे समाज की रचना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सके जिसे संविधान की प्रस्तावना में संवैधानिक मूल्यों के रूप में परिकल्पित किया गया है।

राधेश्याम थवाईत राजीव गांधी शिक्षा मिशन में अकादमिक सलाहकार रहे हैं। पिछले तीन दशकों से विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों से जुड़कर शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत रहे हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में स्रोत व्यक्ति के रूप में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : radheshyam.thawait@gmail.com

भाषा जो बच्चे घर से लेकर आते हैं...

मदन मोहन पाण्डेय

सभी बच्चे अपने घर में बोली जाने वाली भाषा सहज रूप से सीख जाते हैं। यह घरेलू भाषा ही होती है जो उनको अपने अनुभवों को नाम देने, उनको महसूस करने, उन्हें अभिव्यक्त करने, उन्हें संशोधित करने का ज़रिया बनती है और इस तरह अनुभवों को विस्तार देने का काम भी यही भाषा करती है। बच्चे इसी भाषा के साथ स्कूल में प्रवेश लेते हैं, लेकिन स्कूल में न तो इस भाषा के लिए जगह होती है और न ही बच्चे की इन योग्यताओं के लिए जिन्हें बच्चे ने अपनी इस घरेलू भाषा के माध्यम से अर्जित किया है। लेख बच्चों की अपनी भाषा और उनके द्वारा इसमें अर्जित भाषाई योग्यताओं के विभिन्न उदाहरण देते हुए कहता है कि बच्चे की इन बुनियादी भाषाई योग्यताओं,चाहे ये मौखिक ही क्यों न हों, इन्हें दरकिनार कर, उन्हें भाषा सीखने-सिखाने की बात करना उचित नहीं है। सं.

प्राथमिक कक्षाओं में प्रवेश लेने वाले बच्चे कितनी भाषा जानते हैं? इस सवाल के विभिन्न जवाब आ सकते हैं। लेकिन इस बात को सभी मानते हैं कि उनके पास उनकी मौखिक मातृभाषा तो स्कूल आने से पहले ही मौजूद होती है। अतः स्कूल का यह दावा कि बच्चे स्कूल में ही भाषा सीखते हैं, वह ही उन्हें भाषा सिखाता है कुछ कमज़ोर पड़ जाता है।

सैद्धान्तिक स्तर पर अब यह भी स्वीकार लिया गया है कि हर भाषा खुद में सम्पूर्ण है– चाहे उसे कितने ही कम लोग बोलते हों। प्रत्येक भाषा की अपनी ध्वनि और अर्थ की संरचनाएँ होती हैं और यह किसी व्यापक रूप से बोली जाने वाली भाषा की तरह ही समृद्ध होती है, उससे कम नहीं। विचार और व्याकरण के वह तत्व जो व्यापक रूप से या लिखित व्यवहार में आने वाली किसी भी भाषा में होते हैं– कम प्रसार वाली / मौखिक भाषा में भी होते हैं– जैसे अर्थ की विभिन्न छटाओं के साथ व्याकरण के तत्व– संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, सकारात्मक, नकारात्मक, प्रश्नवाचक वाक्य, उद्देश्य और विधेय आदि। अतः कोई भी बच्चा किसी भी मातृभाषा / परिवेशीय भाषा के साथ स्कूल आया हो तब तक उसे इनकी समझ और मौखिक उपयोग की क्षमता हासिल हो चुकी होती है।

घर की भाषा की समझ के साथ-साथ उनके पास यह हुनर भी होता है कि वह इसे समय और परिस्थिति के अनुसार आसानी से बदल लेते हैं। वह माता-पिता के साथ हों तो अलग, दोस्तों के साथ खेलते हुए अलग और किसी अजनबी के साथ बात करते हुए अलग तरह की भाषा इस्तेमाल करते हैं। ज़ाहिर है कि अलग-अलग स्थितियों में भाषा के तेवर भी अलग-अलग ही होंगे।

घर की भाषा बनाम स्कूल की भाषा

बच्चे के घर और स्कूल की भाषा यदि एक है तो यह स्कूल में पढ़ना-लिखना सीखने के लिए ज़्यादा मददगार स्थिति है। यदि घर की भाषा स्कूल की माध्यम भाषा से अलग है तो भी

घर की भाषा की 'ज्ञात' संरचना उसे स्कूल की भाषा/भाषाओं को सीखने में मदद देगी। यह कुछ अचरज में डालने वाली स्थिति भी है कि कैसे शहरी-कस्बाई स्कूलों के प्रवासी बच्चे (गढ़वाली, कुमाऊँनी, भोजपुरी, ब्रज, बुन्देली, भाषाई पृष्ठभूमि के) पहली दूसरी कक्षाओं में साथ-साथ गतिविधियाँ करते हुए पढ़ लेते हैं। वह आपस में भाषाई 'एडजस्टमेंट' कर लेते हैं और स्कूल की माध्यम भाषा पर भी एक सीमा तक अधिकार पा लेते हैं। यह तथ्य इस बात की पुष्टि करता है कि सभी भाषाओं में कुछ सार्वजनीन तत्व हैं जो किसी अन्य भाषा को अपनाने में मदद करते हैं। आखिर कोई भी स्कूल, घर की भाषा और स्कूल की माध्यम भाषा के बीच अनुवाद करने का अभ्यास तो बच्चों को नहीं ही कराता।

बच्चे के भाषाई अनुभव और कक्षा में इनकी जगह

बच्चों के पास परिवेशीय भाषा के साथ रेशा-रेशा जुड़ा हुआ अनुभवों का एक गोदाम होता है।

यह अनुभव खाने-पीने, खेलने, खुशी, प्रेम, स्वप्न, खेल-खिलौनों, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, हवा-पानी, आग, रंग, स्पर्श, सामाजिक रिश्तों आदि से सम्बन्धित होते हैं। इनमें से अनेक अनुभवों की व्याख्या का उन्हें मौका मिला होता है और अनेक अव्याख्यायित अनुभव उनकी दीर्घकालिक स्मृति में पड़े हो सकते हैं। कोई स्कूल/शिक्षक बच्चों से बातचीत करे और इन अनुभवों की सूची बनाए तो इनकी तादाद सैकड़ों में जा सकती है। यदि इन अनुभवों पर बातचीत की जाए और इन्हें भाषा में बदला जाए तो भाषा, गणित, पर्यावरण, विज्ञान, समाज विज्ञान सीखने के अनेक सहज-साधारण सूत्र इनसे मिल सकते हैं। इनसे बच्चे के व्यक्तित्व को गढ़ने वाले तत्वों का भी खुलासा हो सकता है। शायद कभी ऐसा हो कि स्कूलों का पहला साल शिक्षक-बच्चों की बातचीत, किस्से-कहानियों-कविताओं-अभिनय, कक्षा के बाहर और भीतर के खेलों, सरल चित्रकारी और क्राफ्ट व छोटे-छोटे भ्रमणों आदि से लबरेज़ रहे। इन अनुभवों को नए सिद्धान्तों की रोशनी में भाषा में बदला जाए। बच्चों के तमाम अनुभवों की इबारत स्कूलों की दीवारों पर दर्ज होती रहें। इन्हीं इबारतों से, इन्हीं दीवारों पर वह पढ़ना-लिखना सीखें, इसी से गणित, परिवेशीय अध्ययन आदि के सूत्र निकलें। ऐसी दीवारों को फिर बहुत सजाने की ज़रूरत शायद न पड़े क्योंकि इन दीवारों पर लिखी इबारतें कम या ज़्यादा रोज़ बदलेंगी। उनके साथ बच्चों के विचारों के फूल खिल रहे होंगे। बाद की कक्षाओं में भी सन्तुलित अनुपात में यह चीज़ें जारी रहें, पर थोड़ा तरीके बदलते रहें। किताबें आएँ, पर धीरे-धीरे और बाद में बच्चों के पढ़ने-लिखने में आत्मनिर्भर होने के साथ।

बच्चों की एक और क्षमता है उनकी कल्पनाशीलता। यह स्कूल आने से पहले ही उनमें विकसित हो चुकी होती है। आमतौर पर हमारी स्कूल प्रणाली उनकी इस ताकत का ख़ास उपयोग नहीं कर पाती। यदि उनकी आपसी बातचीत के टुकड़ों को जमा किया जाए तो पता चलेगा कि वह खुद को मिली जानकारियों / तथ्यों के साथ अपनी कल्पना को दौड़ाते हैं और तथ्यों / घटनाओं के कारणों तक पहुँचने की कोशिश करते हैं।

नवीन - 'मेरे पिताजी मिलिटरी में हैं, वह आसाम में हैं। वह उग्रवादी को मारते हैं।'

कमल - 'क्या उग्रवादी भी मिलिटरी जैसे कपड़े पहनते हैं?'

नवीन - 'पता नहीं।'

सौरभ - 'लेकिन तेरे पिताजी ओसम (ओसामा) बिन लादेन को नहीं मार सकते।'

इस संवाद में बच्चों ने 'आसाम', 'उग्रवादी', 'मिलिटरी', 'ओसामा बिन लादेन' जैसे शब्द उपयोग किए हैं, जो उनके स्कूल के पाठ्यक्रम में नहीं थे। यह बच्चे इन अवधारणाओं के पीछे

मौजूद कार्य-कारण सम्बन्धों को भी नहीं समझते होंगे। इसके बावजूद चूँकि यह शब्द एक सहज बातचीत में उन्हें (किसी स्रोत से) मिले हैं, वह अपनी कल्पना इन शब्दों / अवधारणाओं / तथ्यों के साथ दौड़ाते हैं और बातचीत के ज़रिए इन्हें समझने की कोशिश करते हैं।

खेल और भाषा

बच्चे घर से सामान्य बोलचाल के अलावा कुछ साहित्यिक ढाँचे भी लाते हैं। यह खेल-संवादों, खेल-कविताओं आदि के रूप में होते हैं। चाहे इनमें कोई बड़ा अर्थ न हो लेकिन उनके खेलों का संचालन करने वाले अनेक संकेत छिपे होते हैं। नीचे बच्चों के खेल का संचालन करने वाले दो संवाद दिए गए हैं। इनका भाषाई गठन देखने योग्य है।

एक

कई बच्चे मिलकर इस खेल को खेलते हैं। एक बच्चा आँखें मूँदे खड़ा हो जाता है। बाकी बच्चे विभिन्न स्थानों पर छिप जाते हैं। आँखें मूँदने वाला बच्चा कई प्रश्न करता है। बाकी बच्चे छिपे हुए स्थान से ही जवाब देते हैं। अन्त में आँखे मूँदे बच्चा आँखें खोलकर छिपे साथियों को ढूँढ़ता है।

'आएँ?'
'आओ।'
'कै बजे?'
'अढ़ाई बजे।'
'खट्टा-मिट्ठा?'
'लाल-लाल।'
'पानी लेके?'
'दौड़ आओ!'
'चील चिलौड़िया'
'मछली कौड़िया'
'मोटर से, कि गाड़ी से?'

अन्त में छिपे हुए बच्चे पूछने वाले को बताते हैं कि वह 'मोटर से' आवे या 'गाड़ी से' और पूछने वाला छिपे हुए साथियों को ढूँढ़ता है।

दो

(एक लड़की अपनी सहेलियों के साथ बुढ़िया बनने का अभिनय करती है। बाकी बच्चे उससे सवाल करते हैं। वह सवालों का उत्तर देती जाती है। अन्त में बच्चे उससे चिढ़ाने वाली बात करते हैं। 'बुढ़िया' सबको मारने दौड़ती है। हँसते हुए बच्चे इधर-उधर भागते हैं।)

'ए बुढ़िया, ए बुढ़िया, कहाँ जात हऊ?'
'सुई खोजे'
'सुई खोज के का करबू?'
'थईला सीयब'
'थईला सी के का करबू?'
'पईसा रखब'
'पईसा रख के का करबू?'
'भईंस खरीदब'
'भईंस खरीद के का करबू?'
'दूध दुहब'
'दूध दुह के का करबू?'
'पीयब'
'दूध पी के का करबू?'
'मोटाइब'
'ए बुढ़िया, ए बुढ़िया, तोरे पीठी पर खून बहत है।'
'पोंछ दा'

(खून पोंछने के बहाने बच्चे बुढ़िया की पीठ पर चपत लगाकर भागते हैं। 'बुढ़िया' उन्हें पकड़ने दौड़ती है।)

यह तो हुई खेलों के साथ इस्तेमाल होने वाले सामूहिक और सुगठित भाषा-ढाँचों की बात, जिनकी स्कूल में पढ़ना-लिखना सिखाते हुए कोई पूछ ही नहीं होती। स्कूल आने वाले छह साल के बच्चे मौखिक भाषा में साधारण वाक्यों के साथ तर्क वाक्य भी इस्तेमाल करते हैं। साधारण वाक्यों से आशय है वस्तुओं / कामों का सामान्य वर्णन करने वाले वाक्य, जैसे– 'मेरी बहिन स्कूल में पढ़ती है', 'मेरे पिताजी

सड़क पर काम करते है', 'मेरे पास किताब हैं' आदि। तर्क वाक्यों में दो चीज़ों / स्थितियों का अन्तर व सम्बन्ध बताने वाले, किसी ग़लत धारणा को नकारने और सच को स्पष्ट करने वाले वाक्य आते हैं, जैसे– 'तवा ज़मीन पर है, चूल्हे पर नहीं', 'पेंसिल मेरी है, राजू की नहीं', 'दीदी मुझसे दो साल बड़ी हैं'। बच्चों के पास इन वाक्यों का होना उनके पास कुछ उन्नत मौखिक भाषा स्तर होने का संकेत है। व्याकरण की क्षमताओं की बात पहले ही हो चुकी है, जिसे लेकर घोर चिन्ताएँ व्यक्त की जाती हैं। कोई स्कूल बच्चों की खुद से, घर-परिवेश से अर्जित इस भाषा क्षमता की थाह ले तो उसका आगे का काम आसान ही होगा।

संक्षेप में

बच्चों की मौखिक भाषा क्षमताएँ जो उन्हें परिवेश से मिलती हैं हमें स्कूली भाषा शिक्षण के बारे में निम्नलिखित संकेत देती हैं–

एक

बच्चों की परिवेशीय भाषा और उनके स्कूल से बाहर के अनुभवों को स्कूल एक अनिवार्य टीएलएम के रूप में स्वीकार करे। इसे शुरुआती पढ़ने-लिखने का एक आधार बनाए।

दो

सोचना-विचारना और विचार का उन्नत होना मौखिक भाषा में भी उतना ही सम्भव है, जितना लिखित भाषा के साथ।

तीन

इस आग्रह से भी बाहर निकला जाना चाहिए कि मौखिक भाषा जानने वाला साक्षर नहीं होता (यदि कहीं ऐसा आग्रह है)। स्कूल पढ़ना-लिखना सिखाकर इस साक्षरता का विस्तार भर करता है या यों कहें बच्चे को साक्षरता के एक नए आयाम में दीक्षित करता है।

बच्चों की मौखिक भाषाई क्षमता और स्कूल के बाहर के जीवन अनुभवों को किताबों के ढेर के नीचे दबाकर कोई स्कूल शायद ही उन्हें अच्छा पढ़ना-लिखना सिखा पाए।

मदन मोहन पाण्डेय को स्कूली शिक्षा और शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने का लगभग साढ़े तीन दशकों का अनुभव है। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन देहरादून में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : madan.pandey@azimpremjifoundation.org

क्या पढ़ने में चूक को गलतियाँ कहना जायज़ है ?

भारती पंडित

यह लेख, पढ़ना क्या है और पढ़ने की प्रक्रिया कैसी होती है इसपर अपने विचार प्रस्तुत करता है। कक्षा चार के बच्चों के साथ पढ़ने को लेकर किए गए काम के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लेखिका चर्चा करती हैं कि 'पढ़ने में चूक' को ग़लतियाँ नहीं कह सकते। इस सन्दर्भ में वे विभिन्न शिक्षाविदों व शोधकर्ताओं द्वारा किए गए काम का हवाला भी देती हैं कि ये ग़लतियाँ नहीं बल्कि बच्चों द्वारा उपयोग किए गए अपसंकेत हैं, जो उनके पास उपलब्ध पूर्वज्ञान पर आधारित होते हैं। सं.

पढ़ना क्या है– इसके बारे में एक आम मान्यता है कि पढ़ना एक सरल और सुस्पष्ट प्रक्रिया है, जिसमें अक्षरों, शब्दों, वर्तनी संरचना और भाषा की बड़ी इकाईयों का कुछ विस्तृत, अनुक्रमिक ज्ञान और पहचान शामिल है। पढ़ना सिखाने के लिए कई पद्धतियाँ व्यवहार में लाई जाती रही हैं। पढ़ने की वर्णमाला पद्धति या फॉनिक पद्धति में अक्षरों की पहचान करना प्रमुख होता है। इसी तरह शब्द केन्द्रित पद्धतियों में शब्दों की पहचान पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। किन्हीं शब्दों को बार-बार देखने और उनके अर्थ को समझने से उन्हें किसी भी सन्दर्भ में प्रयोग किए जाने पर भी पहचाना जा सकता है।

स्पाशे (1964) ने पढ़ने के प्रति इस सामान्य समझ को प्रस्तुत करते हुए कहा है, "पढ़ना, यानी शब्दों की शृंखलाओं की पहचान करना है।"

इसी तरह, लिपिनकॅट और वॉलकॅट अक्षर प्रति अक्षर पढ़ने की प्रक्रिया का समर्थन करते हुए कहते हैं, "अक्षर-शब्दों की पहचान करने की प्रक्रियाओं को अपनाते हुए आरम्भ से ही बच्चा शब्दों को उसी तरह से देखना सीख जाता है, जैसे कोई कुशल पाठक एक शब्द को सभी अक्षरों के साथ सम्पूर्णता में पढ़ता है।"

वास्तव में पढ़ने के बारे में प्रचलित पारम्परिक समझ के अनुसार पढ़ने को अब तक सरल रेखीय एकल कौशल के रूप में ही परिभाषित किया जाता रहा है। इसके पीछे का आधार वह सोच है जिसके अनुसार ज्ञान कहीं बाहर ही निहित है, जिसे हासिल किया जाना है। इसे पढ़ने के सन्दर्भ में देखा जाए तो यह माना जाता रहा है कि लिखित सामग्री का समस्त अर्थ पाठ्य में ही निहित है, और इसे समझने के लिए पाठक को पाठ्य को ठीक से पढ़ना होगा; अर्थात लेखक ने अपने विचारों को एक पाठ्य में बुन डाला है और अब पाठक को उस अर्थ को डीकोड करना है या खोलना है। सामान्य शब्दों में कहा जाए तो पढ़ने को एक सरल रेखीय (लीनियर) प्रक्रिया समझा जाता रहा है, जिसके अन्तर्गत पाठक पहले लिखे गए शब्दों के सही हिज्जे करके उनका सही उच्चारण (डीकोडिंग) करता है और उसकी सहायता से अर्थ समझता है। पढ़ने की प्रक्रिया में शब्दों के हिज्जों को समझना और सही उच्चारण कर पाना बहुत आवश्यक है और यह सब करने के लिए पाठक

को सबसे पहले अक्षरों/शब्दों की पहचान करना व उन्हें उच्चरित कर पाना आना चाहिए। शब्दों के अर्थ से उपवाक्य व वाक्यों के अर्थ बनते हैं और वाक्यों के अर्थों को जोड़कर पूरे संवाद का अर्थ समझ में आ जाता है।

मगर सही अर्थों में पढ़ना केवल यहीं तक सीमित नहीं है। ऐसे पाठक जो पढ़ने में कुछ हद तक निपुणता प्राप्त कर चुके होते हैं, उनके लिए पढ़ने की प्रक्रिया में अक्षर, शब्दों आदि की पहचान तो प्रक्रिया का बहुत ही छोटा सा अंश होता है। वास्तव में, पढ़ने की प्रक्रिया में पाठक के समक्ष प्रस्तुत पाठ्य और उसके विचारों में सतत अन्तः क्रिया चलती रहती है जिसमें पाठ्य की वाक्य संरचना की समझ और अर्थ निर्माण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह एक चयनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें पाठक किसी लिखित सामग्री को पढ़ते समय लगातार अनुमान लगाता चलता है और इसके अनुरूप अपनी अपेक्षाओं के आधार पर प्रत्यक्ष सामग्री में से बहुत थोड़े भाषाई संकेत चुनता है। पढ़ने की प्रक्रिया में जैसे-जैसे जानकारी का दायरा विस्तृत होता जाता है, पाठक पाठ्य के बारे में कई ऐसे अस्थाई निर्णय लेता जाता है जिन्हें वह प्रमाणित करता है, नकारता है या बदलता रहता है– अर्थात पढ़ने की समस्त प्रक्रिया के दौरान पाठक आगे आने वाले शब्दों, वाक्यों का अनुमान लगाता चलता है जो कभी सही साबित होते हैं, कभी ग़लत भी। इस सारी प्रक्रिया में वह अपनी अल्पकालिक और दीर्घकालिक स्मृति को टटोलता जाता है।

वास्तव में, पढ़ने की प्रक्रिया में पाठक के समक्ष प्रस्तुत पाठ्य और उसके विचारों में सतत अन्तः क्रिया चलती रहती है जिसमें पाठ्य की वाक्य संरचना की समझ और अर्थ निर्माण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह एक चयनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें पाठक किसी लिखित सामग्री को पढ़ते समय लगातार अनुमान लगाता चलता है।

उदाहरण के लिए चौथी कक्षा के बच्चे असीम को एक कहानी दी गई, जिसे उसने पहले कभी नहीं पढ़ा था–

"जल्दी जाओ, इस मदद को वहाँ जल्द से जल्द पहुँचाना होगा तुम्हें। उसके कानों में उस अजनबी के शब्द गूँज रहे थे और वह तेज़-तेज़ क़दम बढ़ाता हुआ चला जा रहा था। मारे उत्तेजना के उसके हाथ-पाँव थर-थर काँप रहे थे...कौन होगा वह अजनबी?"

उसे इस कहानी को एक बार मन में पढ़ने और दूसरी बार मुखर वाचन के लिए दिया गया। उसने इस कहानी को इस तरह से पढ़ा–

"जल्दी जाओ, इस मदद को जल्दी ही वहाँ पहुँचाना होगा तुम्हें। उसके दिमाग़ में उस अजनबी के शब्द गूँज रहे थे और वह तेज़ क़दमों से भागता हुआ चला जा रहा था। मारे उत्तेजना के उसके हाथ-पाँव थरथरा रहे थे। कौन होगा वो आदमी?"

ज़ाहिर है कि सामान्यतः इस तरह से पढ़ने को हम उसके द्वारा पढ़ने में की गई ग़लतियों के रूप में देखेंगे और शिक्षक ऐसा मानेंगे कि असीम को या तो पाठ में लिखे कुछ शब्द मालूम नहीं हैं या वह पढ़ते समय लापरवाही बरत रहा है। जैसे, यदि पहली बार उसने 'अजनबी' शब्द को सही पढ़ा और दूसरी बार उसी के स्थान पर 'आदमी' पढ़ा, तो शिक्षक उसे कहेंगे कि 'पढ़ते समय अधिक ध्यान दें'– मगर वास्तव में यह ग़लतियाँ न होकर बच्चे द्वारा उपयोग किए गए अपसंकेत या miscue हैं, जो कि पढ़ने की प्रक्रिया का अभिन्न अंग हैं। ये अपसंकेत ही बताते हैं कि बच्चा पढ़ते समय कुछ शब्दों का अनुमान लगा रहा है, अर्थात वह उस लिखित सामग्री के अर्थ को समझते हुए आगे क्या होगा यह तय करता जा रहा है।

यदि हम अपनी पढ़ने की प्रक्रिया पर ग़ौर करें (जैसे, अख़बार में कोई ख़बर पढ़ना या किसी

पत्रिका में कोई आलेख पढ़ना) तो हम इसी तरह आने वाले शब्दों का अनुमान लगाते चलते हैं और अर्थ निर्माण करते चलते हैं। (अनुमान लगाने की इस प्रक्रिया में उस भाषा की वाक्य संरचना की समझ हमारी सहायता करती है, जिसके चलते कई बार तो हम ग़लत लिखे गए शब्द को भी अनुमान के आधार पर सही पढ़ डालते हैं।) यदि अर्थ निर्माण में हमारे अनुमान की वजह से कोई व्यवधान आता है तो हम उस पंक्ति या शब्द को दुबारा पढ़कर अपने अनुमान को सही करते हैं, या आगे आने वाले शब्द संकेतों का आधार लेते हुए अनुमान को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।

इसका निष्कर्ष यही है कि यह बच्चा पढ़ते समय किसी अस्थाई निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए संज्ञा और क्रिया सूचक शब्दों का प्रयोग अपसंकेतों के रूप में करता है, मगर वह जो भी पढ़ रहा है उसके अर्थ पर इन अपसंकेतों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी तरह यदि बार-बार इन शब्दों को ठीक से पहचान कर पढ़ने पर ज़ोर दिया जाए तो भी बच्चे के पढ़ने की प्रक्रिया में उल्लेखनीय सुधार नहीं होगा। हाँ, हो सकता है कि इससे उसके अर्थ निर्माण की प्रक्रिया बाधित हो और वह केवल ग्राफ़िक सूचनाओं पर ही ध्यान देता रह जाए, यानी हर शब्द को सही पढ़ने के दबाव के चलते अर्थ समझ ही न सके।

यदि ऊपर दिए गए उदाहरण को ध्यान से देखा जाए तो हम समझ सकते हैं कि किस तरह बच्चे पढ़ते समय अपसंकेतों का उपयोग करते हैं। जब बच्चे ने 'अजनबी' के स्थान पर 'आदमी' पढ़ा, तो पहली बार में यह लगना स्वाभाविक है कि इन दोनों शब्दों की बनावट में तो कोई समानता नहीं है। मगर ध्यान से देखा जाए तो दोनों के बीच ग़ैर-ग्राफ़िक समानता है और वह यह कि दोनों ही संज्ञा सूचक शब्द हैं। या तो बच्चे ने इन शब्दों का पहले ही अनुमान लगा लिया होगा, या उसने लिखित रूपाकार को अनदेखा करते हुए अर्थ पर ध्यान केन्द्रित किया होगा चूँकि इसके प्रयोग से अर्थ निर्माण में किसी तरह का व्यवधान नहीं आ रहा है। इसी तरह से अगले वाक्य में जब उसने 'तेज़-तेज़ क़दम बढ़ाता' के स्थान पर 'तेज़ क़दमों से भागता' पढ़ा, तो यहाँ उसने क्रिया सूचक शब्दों में बदलाव किए। चूँकि अर्थ में व्यवधान नहीं था, अतः उन शब्दों को अस्वीकार करने या सुधारने की आवश्यकता उसे महसूस नहीं हुई।

बच्चा पढ़ते समय किसी अस्थाई निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए संज्ञा और क्रिया सूचक शब्दों का प्रयोग अपसंकेतों के रूप में करता है, मगर वह जो भी पढ़ रहा है उसके अर्थ पर इन अपसंकेतों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी तरह यदि बार-बार इन शब्दों को ठीक से पहचान कर पढ़ने पर ज़ोर दिया जाए तो भी बच्चे के पढ़ने की प्रक्रिया में उल्लेखनीय सुधार नहीं होगा।

आइए, अब एक ऐसा उदाहरण देखते हैं जहाँ बच्चा अपरिचित शब्दों पर काम कर रहा है। उसे नीचे दिए गए वाक्य पढ़ने हैं, और इन्हें पढ़ने के दौरान प्रयोग किए गए अपसंकेतों में वह अपनी रणनीतियों और योग्यताओं की एक स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करता है। वह यहाँ दिखाता है कि वह जब चाहे अक्षर-ध्वनि संयोजनों का उपयोग कर सकता है–

"मनुष्य और समाज आपस में जुड़े होते हैं। मनुष्य समाज का अभिन्न अंग है और इस समाज में कार्य-व्यवहार करने के लिए उसे समाज के साथ सामंजस्य निर्माण करते हुए चलना होता है।"

बच्चे द्वारा पढ़ा गया वाक्य

"मनुष्य और समाज आपस में जुड़े हैं। मनुष्य इस समाज का अनभिज्ञ अंग है और इसमें क्रिया-व्यवहार करने के लिए उसे समाज के साथ सामाजिक निर्माण करते हुए चलना होता है।"

यहाँ बच्चे के लिए 'अभिन्न' शब्द पहले पढ़ा

हुआ नहीं था, अतः उसने ध्वनि-अक्षर संयोजन के आधार पर इसे अनभिज्ञ पढ़ा। इसी तरह 'सामंजस्य' को इसी संयोजन के आधार पर उसने सामाजिक पढ़ा चूँकि बात समाज की चल रही थी। मगर आगे पढ़ने पर जैसे ही वाक्य रचना ('सामाजिक निर्माण करते हुए...') और अर्थ में व्यवधान आया, वह रुका और उसने उन्हीं शब्दों को दोबारा पढ़कर समझने का प्रयास किया।

ज़रा सोचिए– यदि पढ़ना यानी अर्थ ग्रहण करना है तो क्या ये बच्चे वास्तव में पढ़ने की प्रक्रिया का अनुसरण नहीं कर रहे हैं?

आइए, अब बात करते हैं कि अनुमान लगाना कब सम्भव है। अनुमान तभी लगाया जा सकता है जब हम पढ़ते समय, पढ़े गए का अर्थ भी समझते हुए चल रहे हों और आगे क्या आने वाला है इसका ख़ाका अपने दिमाग़ में बनाते हुए चल रहे हों। अर्थ समझने के लिए कही जा रही बात के बारे में पूर्व ज्ञान होना भी आवश्यक है। जैसे नदी या समुद्र के क़रीब रहने वाले बच्चों के लिए ज्वार, भाटा, नाव, मछुआरे, जाल आदि शब्द बहुत ही सामान्य होंगे, जिनकी अवधारणाएँ उनके दिमाग़ में एकदम स्पष्ट होंगी। ऐसे में, इस तरह की किसी भी सामग्री को पढ़ते ही उनका पूर्व ज्ञान सक्रिय हो जाएगा और वे आगे आने वाले शब्दों या क्या होने वाला है इसका अनुमान आसानी से लगा पाएँगे। इसके विपरीत रेतीले मैदानी क्षेत्र में रहने वाले बच्चों के लिए, जो नदी तट की दुनिया से बिलकुल अनभिज्ञ हों, इस तरह की सामग्री के बारे में कोई भी अनुमान लगाना सम्भव नहीं होगा। हम बड़ों के साथ भी ऐसा कई बार होता है जब किसी ख़बर को हम ज्यों का त्यों पढ़ तो जाते हैं (जैसे ग्रीस की राजनीतिक उथल-पुथल या सीरिया की घटना), मगर उसके बारे में किसी अतिरिक्त जानकारी के न होने, अर्थात उसका सन्दर्भ पता न होने से हम बात को न तो पूरी तरह से समझ पाते हैं, न ही किसी तरह का कोई अनुमान लगा पाते हैं। अतः, यदि बच्चों को पढ़ने की प्रक्रिया में प्रवीण बनाना है तो उन्हें किसी सामग्री को शब्दशः पढ़ने के लिए न कहकर अपसंकेतों के द्वारा अनुमान लगाते हुए पढ़ने के अवसर दिए जाने चाहिए, साथ ही उस विषय विशेष के बारे में उनके शब्द भण्डार व जानकारी को बातचीत के माध्यम से इतना समृद्ध किया जाना चाहिए कि उनके लिए पढ़ने की यह प्रक्रिया सचमुच मज़ेदार हो जाए।

इसके लिए शिक्षकों को क्या करना होगा?

- सबसे पहले तो शिक्षकों को यह समझना होगा कि पढ़ना शब्दशः अक्षरों/शब्दों को पहचानना नहीं है वरन पढ़ना अर्थ ग्रहण की वृहद प्रक्रिया है, जिसमें अनुमान लगाकर अर्थ तक पहुँचना शामिल है।

- शुरुआती पाठकों के लिए भी ऐसे अवसर उपलब्ध करवाने होंगे जहाँ बच्चे अनुमान लगाकर पढ़ सकें। इसके लिए ध्यान रखना होगा कि उन्हें दी जाने वाली पठन सामग्री अर्थपूर्ण हो, उसकी भाषा सुगठित हो और उनके सन्दर्भ से जुड़ने वाली हो।

- शिक्षकों को यह भी समझना होगा कि अनुमान लगाकर पढ़ने के लिए उस विषय के बारे में पूर्व ज्ञान होना आवश्यक है और इस पूर्व ज्ञान को समृद्ध करने के लिए कक्षा में बातचीत के अवसर दिए जाने चाहिए। साथ ही प्रारम्भिक कक्षाओं में बच्चों की पसन्द की पुस्तकें दी जानी चाहिए ताकि उनके लिए अर्थ निर्माण की प्रक्रिया सहज बन सके।

- हो सकता है, बच्चे द्वारा प्रयोग में लाए गए सभी अपसंकेत वास्तव में अपसंकेत न होकर पढ़ने में आ रही किसी परेशानी को इंगित कर रहे हों। ऐसे में शिक्षकों को बच्चों द्वारा प्रयोग किए जा रहे अपसंकेतों को समझना होगा, उनका विश्लेषण करना होगा कि वे वास्तव में बच्चे द्वारा पढ़ने की प्रक्रिया में आगे बढ़ने के संकेत हैं या उसके साथ

आ रही किन्हीं दिक़्क़तों को दिखाते हैं। यह दिक़्क़तें पूर्व ज्ञान में कमी की, ध्वनि-अक्षर-शब्दों के सम्बन्ध में समझ की कमी, वाक्य संरचना की समझ की कमी आदि की हो सकती हैं, जिन पर शिक्षक को काम करना होगा।

टिप्पणी : 'मिसक्यू एनालिसिस' (अपसंकेतों/चूकों का विश्लेषण) का विचार केनेथ गुडमैन द्वारा दिया गया है। इसके पीछे मूल धारणा यह है कि पढ़ते समय पाठक द्वारा की जाने वाली चूकें न तो संयोगवश होती हैं और न ही बेतरतीब (रैण्डम), बल्कि यह पाठक की भाषा और व्यक्तिगत अनुभवों से मिले संकेतों पर आधारित होती हैं।

सन्दर्भ

गुडमैन, कैनेथ एस, *रीडिंग इज़ अ साइको लिंग्विस्टिक गैसिंग गेम*

सिन्हा, शोभा, *शुरुआती पढ़ाई का एक वैकल्पिक रास्ता*

भारती पंडित दो दशक से स्कूली शिक्षा में अध्यापन करती रही हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन भोपाल (मध्यप्रदेश) में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : bharti.pandit@azimpremjifoundation.org

बच्चों को प्रश्न पूछने से रोकिए !

सुन्दर नौटियाल

आमतौर पर कक्षा में उन्हीं बच्चों को अच्छा माना जाता है जो बिना कुछ पूछे-कहे शिक्षक के निर्देशों का पालन करते हैं। बच्चों को प्रश्न करने की आज़ादी उनके अध्यापक से जुड़ने, सहज होने और सीखने के मौक़ों का तो विस्तार करती ही है, साथ ही अध्यापक को भी अपने ज्ञान को विस्तार देने के लिए प्रेरित करती है। लेखक का कहना है कि चुनना आपको ही है : आप एक रूढ़िबद्ध शिक्षक की तरह साल-दर-साल एक ही पुस्तक को पढ़ाते हुए अपनी शिक्षकीय यात्रा को बस पूरा कर लेना चाहते हैं या आप इस यात्रा का मज़ा लेना चाहते हैं, उसके हर पल को जीना चाहते हैं? सं.

आप सोच रहे होंगे कि मैं कैसा अध्यापक हूँ? यह कैसा बेतुका तर्क है। जहाँ पूरी शिक्षा व्यवस्था तर्क करने, प्रश्न करने, समस्या के समाधान के लिए बच्चों को प्रेरित करने की बात करती है, वहीं मैं...? ज़रा ध्यान से पढ़िएगा कि आख़िर बच्चों के प्रश्न करने से क्या हर्ज है– हम शिक्षकों का?

अपने विद्यालयी जीवन से ही मैं जिज्ञासु प्रवृत्ति का रहा हूँ, परन्तु प्रश्नकर्ता नहीं रहा। शायद ऐसा माहौल ही नहीं मिला जहाँ प्रश्न करने को प्रोत्साहन मिले। शिक्षक बनने की प्रक्रिया में कहीं से 'अब्राहम लिंकन का पत्र अपने पुत्र के शिक्षक के नाम'* पढ़ लिया। पत्र के कुछ अंश देखिए तो सही–

प्रिय गुरुजी,

मैं अपने पुत्र को शिक्षा के लिए आपके हाथों सौंप रहा हूँ। आपसे मेरी अपेक्षा यह है कि इसे ऐसी शिक्षा दें जिससे वह सच्चा इंसान बन सके।

...उसे हारना सिखाएँ और जीत में ख़ुश होना भी सिखाएँ, हो सके तो उसे राग-द्वेष से दूर रखें और उसे अपनी मुसीबतों को हँसकर टालना सिखाएँ।

...अगर सम्भव हो तो उसे किताबों की मनमोहक दुनिया में अवश्य ले जाएँ, साथ-साथ उसे प्रकृति की सुन्दरता, नीले आसमान पर उड़ते आज़ाद पक्षी, सुनहरी धुप में गुनगुनाती मधुमक्खियाँ और पहाड़ के ढलानों पर खिलखिलाते जंगली फूलों की हँसी को भी निहारने दें।

चाहे सभी लोग उसे ग़लत कहें, परन्तु वह अपने विचारों में पक्का विश्वास रखे और उन पर अडिग रहे...।

जब सब लोग भेड़ों की तरह एक ही रास्ते पर चल रहे हों, तो उसमें भीड़ से अलग होकर अपना रास्ता बनाने की हिम्मत हो।

उसे सिखाएँ कि वह हरेक बात को धैर्यपूर्वक सुने, फिर उसे सत्य की कसौटी पर कसे, और केवल अच्छाई को ही ग्रहण करे।

* 'अब्राहम लिंकन का पत्र अपने पुत्र के शिक्षक के नाम' शीर्षक से यह रचना विगत लम्बे समय से इण्टरनैट की दुनिया में घूम रही है— यद्यपि इसकी प्रमाणिकता सिद्ध नहीं है कि अब्राहम लिंकन ने ऐसा कोई पत्र लिखा हो, तथापि एक बच्चे के शिक्षण के लिहाज़ से इसमें लिखी बातें विचारणीय हैं।

मैंने अपने पत्र में बहुत कुछ लिखा है, देखें इसमें से क्या करना सम्भव है...।

चलो, वह तो अमेरिकन हुए। गिजू भाई– गुजराती आदमी। गिजू भाई का बाल-दर्शन देख लिया, ज़रा पढ़िए तो–

1– जवाब दीजिए

मैं खेलूँ कहाँ?
मैं कूदूँ कहाँ?
मैं गाऊँ कहाँ?
मैं किसके साथ बात करूँ?
बोलता हूँ, तो माँ को बुरा लगता है।
खेलता हूँ, तो पिता खीजते हैं।
कूदता हूँ, तो बैठ जाने को कहते हैं।
गाता हूँ, तो चुप रहने को कहते हैं।
अब आप ही कहिए कि मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ?

2– दुश्मन

'सो जा, नहीं तो बाबा पकड़कर ले जाएगा।'
'खा ले, नहीं तो चोर उठाकर ले भागेगा।'
'बाघ आया!'
'बाबा आया!'
'सिपाही आया!'
'चुप रह, नहीं तो कमरे में बन्द कर दूँगी।'
'पढ़ने बैठ नहीं तो पिटाई करूँगी।'
जो इस तरह अपने बालकों को डराते हैं, वे बालकों के दुश्मन हैं।

अब्दुल कलाम की शिक्षकों से अपेक्षाएँ पढ़ लीं–

1- "One of the very important characteristic of a student is to question; let the student ask questions."

2- "The best brains of the nation may be found on the last benches of the classrooms."

कुछ नई सोच रखने वाले शिक्षकों से मिल लिया और कुछ शिक्षाविदों के बारे में सुन लिया। कुछ बाल मनोविज्ञान पर आधारित फ़िल्में (तारे ज़मीन पर, थ्री ईडियट्स आदि) देख लीं। फ़िल्मी बातें थीं साहब, पर अच्छी लगीं : तारे ज़मीन पर का मन्दबुद्धि दर्शील हो या उसका नौटंकी टीचर आमिर ख़ान-अन्दर से झकझोर देते हैं, सोचने के लिए विवश कर देते हैं कि बच्चे जैसे भी हों, उनके लिए शिक्षक का संवेदनशील होना ज़रूरी है। थ्री ईडियट्स तो जैसे गला फाड़-फाड़कर रटन्त शिक्षा प्रणाली को धत्ता बताती है; भला बिना याद करे कोई क्या पढ़ेगा? पर फ़िल्म थी, भाई! रणछोड़ दास चांचड़ ने तो जैसे रट्टू चतुर के छक्के ही छुड़ा डाले थे फ़िल्म में। बहुत बाद में पता चला कि फ़ुन्सुक वांगडू एक वास्तविक किरदार हैं– सोनम वांगचुक, जो लेह जैसी दुरूह जगह पर भी शिक्षा की एक बिलकुल अलग अलख जगाए हैं। बस फिर क्या था, एक क़सम ले ली कि जब भी शिक्षक बनेंगे, नए ढंग का बनेंगे– 'नवाचारी शिक्षक'– ऐसा शिक्षक जो अपने छात्रों को पढ़ाने की बजाय सीखने के अवसर दे, जिसके छात्र उससे खुलकर प्रश्न पूछें; वे तथ्यों को रटने की बजाय उन्हें समझने का प्रयास करें; वह छात्रों को बच्चा समझने की बजाय उन्हें अपना मित्र समझे।

अध्यापन का अवसर मिला; गाँव के बच्चे थे, झिझकते, सहमते, शरमाते। आख़िर यह तो उनकी गुरुभक्ति थी ना-भला गुरु से प्रश्न पूछें, उसकी बातों पर प्रश्न उठाएँ, यह तो उद्दण्ड बालक ही करते हैं ना! पर न जाने क्यों वे सकुचाते बच्चे अच्छे नहीं लग रहे थे। उनसे दोस्ती करने का मन हो रहा था। पहले ही दिन घोषणा कर दी, "मैं तुम्हारा शिक्षक नहीं, तुम्हारा दोस्त हूँ। तुम्हें ग़लतियों पर भी पीटूँगा नहीं। विषय सम्बन्धी कोई भी प्रश्न हो तो बेझिझक पूछ लेना।" कुछ दिनों में ही बच्चों के साथ आत्मीयता बढ़ने लगी, उनकी इच्छा-अनिच्छा पता लगने लगी, उनका प्रेम भी मिलने लगा। बस, प्रण लिया कि मैं अपने शिष्यों को ख़ूब प्रश्न करने के लिए प्रेरित करूँगा। उनसे व्यक्तिगत

संवाद स्थापित करूँगा। प्रण था, तो प्रयास करना पड़ा। शुरुआती दिनों में लगता था कि जिन बच्चों को मैं पढ़ाऊँगा उनके लायक़ तो मेरे पास ज्ञान का भण्डार पूरा है ही, कुछ भी पूछेंगे– किसी तरह उन्हें उत्तर तो दे ही दूँगा।

अब शुरू हुआ मेरा अध्यापन– 'पूछो बच्चो! ख़ूब प्रश्न पूछो! सम्बोध आधारित, सम्बोध से इतर!' पर यह क्या, बच्चे तो प्रश्न पूछ ही नहीं रहे! कहीं इन्हें मेरे गुरुजी होने का डर तो नहीं? चोला बदला, गुरु से बन गया दोस्त। ऐसा दोस्त जिससे ग़ुस्सा करने, रूठने, भयरहित प्रश्न पूछने का उन्हें हक़ था; जिसकी बातों को सुनना सामने वाले दोस्त की मजबूरी नहीं थी। बहुत दिनों बाद कक्षा 10 के बच्चे का प्रश्न आया, "सर,जुड़वाँ बच्चे कैसे पैदा होते हैं?" मैं निरुत्तर। क्या इस सह्कक्षा में मैं यौन विषयों के उत्तर बता सकता हूँ? क्या यह बच्चे उत्तर सुनने को तैयार हैं? क्या मेरा उत्तर पूरी तरह बताने लायक़ है? बच्चे का एक प्रश्न और मेरे कई! ख़ैर, बच्चे को मिली शाबासी और मुझे गृहकार्य। अगले दिन अपने ज्ञान को जाँच-परखकर कक्षा में उत्तर देना पड़ा। उसके बाद तो प्रश्नकर्ता बढ़ने लगे और मैं उनके बीच अकेला पड़ने लगा। एक बच्चे का प्रश्न आया, "सर, क्या पीपल का पेड़ सच में रात को भी ऑक्सीजन देता है?" "क्या-क्या! फिर से पूछिए। अरे, किसने कह दिया, भाई? मैंने तो कभी ऐसा नहीं पढ़ा, यार," मैं (एक ग्रेजुएट शिक्षक) बोल पड़ा। बच्चे ने पूरी निष्ठा के साथ अपना प्रश्न दोहराया और प्रश्न की सच्चाई पर विश्वास दिखाया। अब क्या था, मिल गया गृहकार्य। जिस इण्टरनैट का प्रयोग मैं facebook और अन्य समय बिताऊ मज़ेदार गतिविधियों के लिए करता था, जो मेरा नितान्त व्यक्तिगत मनोरंजन इन्वैस्टमैण्ट था, उसी इण्टरनैट का प्रयोग मुझे आज बच्चे के प्रश्न ढूँढ़ने के लिए करना पड़ रहा था। फिर भी, विश्वास था कि मेरा पूर्वज्ञान जीत ही जाएगा कि पेड़-पौधे केवल दिन के समय ही भोजन निर्माण की क्रिया में ऑक्सीजन बनाते हैं। जब गूगल करके देखा तो पता लगा कि कुछ रेगिस्तानी पौधे और एपिफाइट्स (जो पोषण के लिए दूसरे पौधों पर निर्भर रहते हैं) रात को भी एक विशेष प्रकार की क्रिया द्वारा भोजन बनाते हैं और रात को भी कार्बन डाईऑक्साइड गैस नहीं निकालते। हालाँकि, पीपल के पेड़ को लेकर जानकारी स्पष्ट नहीं थी। मतलब साफ़ था, बच्चों को प्रश्न करने की आज़ादी, अपने आप को अध्ययन करने की सज़ा। आख़िर है ना 'आ बैल मुझे मार' वाली बात।

> नया शिक्षक बनने की धुन ने मुझे कुछ ऐसे अवसर दिलाए जिन्होंने मुझे अवधारणात्मक शिक्षण की गर्त में पूरी तरह धकेलने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। ऐसी कई कार्यशालाओं में भी भाग लिया जहाँ पर पुस्तकीय ज्ञान की जाँच करने की भी प्रेरणा दी जाती है। अब बताइए, भला पुस्तकों के ज्ञान को परखना ? क्यों, भाई ? कहाँ वक़्त है एक शिक्षक को कि वह अपना सिलेबस पूरा करा पाए, कहाँ हैं उसके पास इतने संसाधन ?

ख़ैर, प्रण था, भई! इतनी जल्दी हार नहीं मान सकता था। यह सिलसिला चलता रहा। दिन प्रतिदिन नया शिक्षक बनने की धुन अपने अन्दर किसी शराबी की शराब वाली लत की तरह बढ़ती ही गई। बच्चों से दोस्ती ने अब प्रेम का रूप ले लिया। उनसे भावनात्मक जुड़ाव बढ़ता गया। वह मेरे अपने बच्चों की तरह ही मेरी बातों से ख़ुश होते, मेरे ग़ुस्से से नाराज़ हो जाते, रह-रहकर अपने प्रेम, अपने समर्पण का प्रदर्शन करते। मुझे शिक्षक कम, अपना दोस्त ज़्यादा समझते। अब बताइए, क्या यह एक शिक्षक के लिए सही है कि उसके शिष्य उससे दोस्त की तरह व्यवहार करें? उन्हें क्या हक़ है कि वे मेरे अपने बच्चों की तरह मुझसे अपेक्षा रखें? क्या यह मेरी व्यक्तिगत ज़िन्दगी में दख़ल नहीं है?

आगे सुनिए– नया शिक्षक बनने की धुन ने मुझे कुछ ऐसे अवसर दिलाए जिन्होंने मुझे अवधारणात्मक शिक्षण की गर्त में पूरी तरह

धकेलने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। ऐसी कई कार्यशालाओं में भी भाग लिया जहाँ पर पुस्तकीय ज्ञान की जाँच करने की भी प्रेरणा दी जाती है। अब बताइए, भला पुस्तकों के ज्ञान को परखना? क्यों, भाई? कहाँ वक़्त है एक शिक्षक को कि वह अपना सिलेबस पूरा करा पाए, कहाँ हैं उसके पास इतने संसाधन? वर्कशॉप में ऐसे भी प्रयोग किए जो आसपास के कबाड़ को जुगाड़ कर पहले से ही तैयार किए हुए होते और लगता है कि यह तो किया जा सकता है। तो क्या अब कबाड़ बीनते रहें हम? अब घर पर भी चैन से नहीं बैठने दोगे? फ़िल्में-सीरियल, ख़बरें न देखें! यही वीडियो ढूँढ़ते रहें?

इन कार्यशालाओं में कुछ ऐसे जुनूनी लोग मिले जो ऐसे ही न जाने कितने कार्य अपने विद्यालयों में कर भी रहे हैं, जैसे कि उन्हें कोई काम-धाम ही न हो। चलो, उनकी भेड़चाल में मैं भी शामिल हो जाता हूँ। अब तो व्हाट्सएप ग्रुप भी बन गया है, जिसमें मेरे जैसे कई और जुनूनी शिक्षक जुड़े हुए हैं। शिक्षकों की एक स्वैच्छिक कार्यशाला के बाद कार्यशाला के कुछ सदस्यों ने जनपद के कर्मठ शिक्षकों को एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। कई जुनूनी शिक्षक हैं इस 'इनोवेटिव साइंस' ग्रुप में। वे निरन्तर अपने कार्यों को ग्रुप में साझा कर रहे हैं और एक-दूसरे के कार्यों से सीख भी रहे हैं और उनकी सराहना भी कर रहे हैं। पर मैं क्यों उनसे प्रेरित हो रहा हूँ? भला इस सोशल मीडिया की आत्ममुग्धता में किसके पास समय है दूसरे के कार्यों को देखने-सुनने का? और फिर उसकी सराहना भी करो? फिर कौन होगा जो सोशल मीडिया के इस मोहजाल से बच सकेगा? अब अपने कार्यों को साझा करना है तो कार्य तो दिखाना पड़ेगा ना! तो करो अतिरिक्त कार्य। नया कार्य ओवरटाइम मिलेगा क्या?

> अन्य कार्यशालाओं की तरह इस कार्यशाला में भी वही बात, बच्चों को प्रश्न निर्माण के लिए प्रेरित करिए। उनके प्रश्नों को सुनिए, उनके हल ढूँढ़कर उन तक पहुँचाइए। उनके पढ़ने-लिखने के लिए पुस्तकालय खोलिए, किताबें उपलब्ध करवाइए। शिक्षक न हुए Trouble Shooter हो गए। अब ख़रीदो या किसी तरह एकत्र करो उनके लिए किताबें।

अब स्वैच्छिक समूह और कार्यशालाओं का हिस्सा बनूँगा तो मित्रों की संख्या में इज़ाफ़ा होना लाज़मी है। पर ऐसे मित्रों का क्या, जो घरेलू ख़ुशख़बर से पहले विद्यालयी गतिविधियों, नई शिक्षण तकनीकों और नए शिक्षण विचारों के बारे में बतियाने लगते हैं। जब देखो तब– "और सुनाइए, क्या चल रहा है आजकल? कुछ लिखा-विखा नहीं क्या? आजकल ग्रुप में भी कुछ साझा नहीं हो रहा? सब ख़ैरियत है ना?" लो जी, इन मित्रों की ही कमी थी! मतलब, अब जो कर रहे हैं उसका लेखा-जोखा भी रखें और उसकी रिपोर्टिंग भी करें। अरे, हम से हमारा डिपार्टमैण्ट कभी हिसाब नहीं माँगता हमारी विद्यालयी गतिविधियों का, और आपको सब कुछ चाहिए! क्या ये हमारी स्वतन्त्रता पर आक्रमण नहीं?

न जाने कौन घड़ी में ऐसी ही एक कार्यशाला में अपनी जून की छुट्टियाँ ख़राब करने चला गया; कार्यशाला का विषय था– 'पढ़ने-लिखने की संस्कृति की ओर'। ऐसे-ऐसे शिक्षक थे, जो शिक्षक कम शिक्षाविद ज़्यादा लगते थे। कितना अध्ययन कर रहे हैं यह लोग? यह अध्ययन ही करते हैं या अध्यापन भी करते हैं? जब यह इतने अधिक ज्ञान-मनोविज्ञान के साथ बच्चों के पास जाते होंगे तो क्या इनका शिक्षण मेरे शिक्षण जितना साधारण रहता होगा? नहीं यार! किसी विषय विशेष में अधिक ज्ञान अधिक सन्तुष्टि भी तो देता है। मतलब शिक्षक ने ठेका ले लिया है जीवनभर पढ़ते रहने का? अन्य कार्यशालाओं की तरह इस कार्यशाला में भी वही बात, बच्चों को प्रश्न निर्माण के लिए प्रेरित करिए। उनके प्रश्नों को सुनिए, उनके हल ढूँढकर उन तक पहुँचाइए। उनके पढ़ने-लिखने के लिए पुस्तकालय खोलिए, किताबें उपलब्ध

करवाइए। शिक्षक न हुए Trouble shooter हो गए। अब ख़रीदो या किसी तरह एकत्र करो उनके लिए किताबें।

अब बच्चों के प्रश्नों को नोट कर रहे हैं और उन्हें ग्रुप में साझा करके ग्रुप डिस्कशन चल रहा है। देवेन्द्र मेवाड़ी जैसे व्यक्तित्व को प्रश्न पूछ-पूछकर परेशान कर रहे हैं। टीएलसी से उनके लिए किताबें ले जाकर पढ़ा रहे हैं, कुछ किताबें इण्टरनैट से डाउनलोड करके कम्प्यूटर में डाल दी हैं। विद्यालय के बच्चे दिन-ब-दिन सिरपर चढ़ते जा रहे हैं। किताबें उन्हें नई-नई चाहिए, सबके लिए किताबें चाहिए। कक्षा में पहुँचो नहीं कि उन्होंने प्रश्नों के गोले दाग़े नहीं– अब तो कक्षा में घुसने में भी डर लगने लगा है।

सोचिए, अगर मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठकर अपने सिलेबस के पाठों को पाठ्यपुस्तक के सहारे पढ़ा रहा होता तो क्या मेरे पास अपने लिए वक़्त नहीं होता? मज़े से दो-चार घण्टे अपने यारों के साथ देश-दुनिया की चिन्ता कर रहा होता। राजनीति, भ्रष्टाचार, सामाजिक बुराइयाँ– क्या कुछ नहीं था देखने के लिए, पर इस पढ़ने-पढ़ाने से फ़ुर्सत मिले तब ना!

आज कक्षा में बच्चों को बोला,"अरे सयानों! मेरे वैज्ञानिक दोस्तों! अगर तुम यूँ ही प्रश्न-उत्तर खेलते रहोगे और मैं तुम्हें धातु-अधातु पढ़ाना छोड़कर घर्षण, उत्प्लावन जैसी अवधारणाओं तक ले जाता रहूँगा, तुम्हारा कम्प्यूटरवाला पाठ छोड़ तुम्हें– जुगनू कैसे चमकता है? फल काटने पर भूरे क्यों हो जाते हैं? साबुन का झाग कैसे बनता है? वस्तु पानी पर कैसे तैरती है? आदि-आदि प्रश्नों के उत्तर देता रहूँगा तो मेरे सिलेबस का क्या होगा? तुम्हारी किताब तो आधी भी नहीं पढ़ा पाऊँगा।" कक्षा के बच्चे एक सुर में बोल पड़ते हैं, "सर, उसकी चिन्ता मत करो। किताब तो हम दो-चार दिनों में ही पढ़ लेंगे। हमको विज्ञान समझने में मज़ा आ रहा है।" अब बताइए, इस मासूम जवाब से बच्चे मुझे ब्लैकमेल नहीं कर रहे क्या? और तो और, पिछले साल जिस अमित, जगत और नारायण को मैंने विशिष्ट कक्षा में इसलिए बुलाया कि उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं आता, वे ही आज कक्षा में सबसे ज़्यादा प्रश्न करते हैं। वे शुद्ध-अशुद्ध, जिस भी रूप में, अपना गृहकार्य दिखाने को उतावले दिखते हैं। अब उनकी कॉपियाँ भी चेक करो।

ऐसी ही न जाने कितनी समस्याएँ झेल रहा हूँ मैं। किस वजह से? अजी साहब, उसी धुन की वजह से। बच्चों को प्रश्न पूछने के लिए भड़काने की वजह से। सोचिए, अगर मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठकर अपने सिलेबस के पाठों को पाठ्यपुस्तक के सहारे पढ़ा रहा होता तो क्या मेरे पास अपने लिए वक़्त नहीं होता? मज़े से दो-चार घण्टे अपने यारों के साथ देश-दुनिया की चिन्ता कर रहा होता। राजनीति, भ्रष्टाचार, सामाजिक बुराइयाँ– क्या कुछ नहीं था देखने के लिए, पर इस पढ़ने-पढ़ाने से फ़ुर्सत मिले तब ना!

इसलिए कह रहा था, मत करिए यह बेवक़ूफ़ी! रोकिए बच्चों को प्रश्न करने से। यह कई बार आपकी पूर्व अवधारणा को चकनाचूर कर देंगे, आपके ज्ञान को चुनौती देंगे, आपको अतिरिक्त कार्य और अतिरिक्त अध्ययन के लिए प्रेरित करेंगे, आपको समयाभाव की स्थिति में ला देंगे और पृथक कर देंगे आपको एक बड़े पारम्परिक शिक्षक समुदाय से। आपको अपने जैसे और कर्मठ शिक्षकों के समुदाय से जुड़ने को विवश कर देंगे।

और हाँ, अगर फिर भी आप मेरी तरह ही इस दलदल से निकलना नहीं चाहते, तो लीजिए मज़ा : आत्मसन्तुष्टि का, तार्किकता का, खोजपरकता का, ज्ञान के निर्माण का, अनुभवों के संकलन का, सृजनशीलता का, बच्चों के आनन्द का, उनके निश्छल प्रेम का और एक शिक्षक होने का। बन जाइए हिस्सा वर्तमान शिक्षा की वास्तविक ज़रूरत का, बनाइए सीढ़ियाँ शिक्षा के लक्ष्य प्राप्ति की। क्या नई

शिक्षा पद्धति शिक्षकों से यह अपेक्षा नहीं करती कि वे सच्चे मार्गदर्शक बन अपने छात्रों को ज्ञान का सृजन करना सिखाएँ? क्या वह रटन्त प्रणाली की बजाय समझ-आधारित प्रणाली की बात नहीं करती? क्या विज्ञान में स्वयं करके सीखने पर ज़ोर नहीं दिया जाना चाहिए? क्या भाषा केवल विद्यालयी पाठ्यपुस्तक से ही सम्पन्न होगी? क्या गणित केवल किताबों में बसती है? क्या अंग्रेज़ी को निर्धारित पाठ्यपुस्तक में समेट दिया जाना चाहिए? क्या सामाजिक विज्ञान की शुरुआत बच्चे के परिवार, उसके गाँव से नहीं की जा सकती?

यक़ीन मानिए, यह सब करने के बाद आपको गर्व होगा कि आपने भी शिक्षा के मूल उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर अपना पहला क़दम बढ़ा दिया है...।

सुन्दर नौटियाल एक दशक से अध्यापन के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में उत्तरकाशी जिले में बतौर विज्ञान शिक्षक कार्यरत हैं।
सम्पर्क : alice.myprince@gmail.com

अण्डे की मापजोख

अण्डे एक जैसे, पर थोड़े ऐसे – वैसे

मुकेश मालवीय

बच्चे स्वभाव से जिज्ञासु होते हैं और यह जिज्ञासा उनके द्वारा पूछे जाने वाले और कभी ख़त्म न होने वाले सवालों से प्रकट होती हैं। तरह-तरह की चीजों और घटनाओं के प्रति बच्चों की यह स्वाभाविक उत्कण्ठा तभी बनी रह पाती हैं जब स्कूल और समाज इसे पोषित करने के लिए उपयुक्त वातावरण और अवसर दे। प्रस्तुत लेख में इसी मसले को उठाया गया है और यह बताने की कोशिश की गई है कि सवाल पूछने की इस नैसर्गिक व स्वाभाविक प्रवृत्ति को कैसे तार्किक चिन्तन के रियाज़ से मजबूती मिलती है। लेख में इसकी बानगी, विज्ञान के एक सवाल, क्या मुर्गियों के अण्डे वजन में बराबर होते हैं? को प्रयोगधर्मिता के ज़रिए सम्बोधित करने के तौर-तरीकों में ज़ाहिर होती है| जिसमें विज्ञान के तमाम कौशल और तर्कपूर्ण विचारशीलता की विकास प्रक्रिया समाई हुई है। सं.

बाज़ार में दुकानों पर कलात्मक ढंग से जमे मुर्ग़ियों के अण्डों को देखकर मेरे मन में सवाल उठा कि क्या एक जैसे दिखने वाले यह हर एक अण्डे समान हैं? क्या इन अण्डों का आकार और वज़न एक जैसा होता है? कक्षा में मैंने बच्चों से भी पूछा, "आपके अन्दाज़ से एक तन्दुरुस्त अण्डे का वज़न कितना होना चाहिए?"

यह, और ऐसे बहुत से सवाल हमारे मन में उठना लाज़िमी है? हमारे आसपास ऐसे कितने ही सवाल हैं, जिन्हें हम देखकर नज़रन्दाज कर देते हैं और धीरे-धीरे यह सवाल हमें दिखाई देने कम होते जाते हैं। असल में यह ख़ालिस सवाल के रूप-रंग में रहते भी नहीं हैं। यह, एक तरह से, दृश्यों से उभरते हैं, जो हमें मात्र चन्द सूचनाएँ देते हैं। सूचनाओं पर सवाल पैदा करना दिमाग़ी क्षमता है– यह एक ऐसी नैसर्गिक कला है जो स्वाभाविक तो है, किन्तु जो तार्किक चिन्तन के रियाज़ से मज़बूत होती है और उपयोग के अभाव में ग़ायब ही हो जाती है। अगर यह रियाज़ हमारे बचपन की शिक्षा या बड़े होने तक भी हमने नहीं सीखा, तो अण्डे और मुर्ग़ियाँ हमसे कोई सवाल नहीं पूछेंगे। इनपर बातचीत, खोज व सोच-विचार के माहौल के अभाव में धीरे-धीरे यह सवाल मरने लग जाते हैं। बचपन में जो सवाल हमारे सामने थे, वे सभी अब हम भूल गए हैं; अब वैसे सवाल मन में आते भी नहीं।

पर यह मसला तो है ही कि यदि कभी ऐसा सवाल मन में आए या कोई बच्चा ही पूछे तो क्या करें? इस लेख में हम इस तरह के एक प्रयास को प्रस्तुत करेंगे और देखने की कोशिश करेंगे कि यह कैसे बढ़ेगा। जैसे, यही सवाल है :

मुर्ग़ियों के अण्डे क्या वज़न में बराबर होते हैं, और एक अण्डे का वज़न लगभग कितना होता है? इस पर कैसे आगे बढ़ें?

हमारे मन में इसके के लिए उत्तर यह हो सकते हैं :

1. अण्डे का वज़न कितना भी हो, इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? या
2. चलो, किसी अण्डेवाले से पूछ लेंगे? या फिर, गूगल कर लेंगे या किसी विशेषज्ञ से पूछ लेंगे।

और यह भी कि इस सवाल पर सोचने का क्या फ़ायदा? इससे क्या लाभ होगा? इसपर बच्चे बात करें या नहीं, इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है?

हमारा मानना है कि इसका फ़र्क़ तो पड़ता है। जैसा कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) के 'सवालीराम' में निहित था, या फिर हृदयकान्तजी के लेख 'क्यों करें प्रयोग' में और कमला मुकुन्दा की पुस्तक *'आज तुमने स्कूल में क्या पूछा'* में झलकता है– सवालों पर सोचना व खोजना शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। ऐसा नहीं होगा तो धीरे-धीरे हमारा मन सवाल पूछना व उनके उत्तर खोजने का प्रयास करना बन्द कर देता है। स्कूलों का माहौल बच्चों के प्रयास, खोजी प्रवृत्ति व जिज्ञासा बढ़ाने के स्थान पर उत्तर बताने, दिए गए उत्तर स्वीकार करने व उन्हें याद करने का हो जाता है। एनसीएफ 2005 जैसे दस्तावेज़ों और पूरे व्यापक विमर्श के बावजूद आज भी स्कूलों व समाज में बच्चों के साथ अभी भी ऐसा ही हो रहा है। व्यवस्था यह भी चाहती है कि स्कूल के शिक्षकों के मन में कोई सवाल ही न उठें।

सवालों पर सोचना व खोजना शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। ऐसा नहीं होगा तो धीरे-धीरे हमारा मन सवाल पूछना व उनके उत्तर खोजने का प्रयास करना बन्द कर देता है। स्कूलों का माहौल बच्चों के प्रयास, खोजी प्रवृत्ति व जिज्ञासा बढ़ाने के स्थान पर उत्तर बताने, दिए गए उत्तर स्वीकार करने व उन्हें याद करने का हो जाता है।

दूसरे जवाब के बारे में सोचें : यह जवाब था, किसी अण्डेवाले से पूछ लेंगे अथवा गूगल कर लेंगे– सवाल का उत्तर पाने का यह सहज तरीक़ा है। परन्तु क्या यह काम करेगा? एक अण्डेवाले ने मुझे बताया कि एक अण्डे का वज़न 150 ग्राम के आसपास होता होगा। क्या हमें इस जानकारी पर भरोसा कर लेना चाहिए? क्या हमें इसे जाँचना नहीं चाहिए? फिर गूगल पर भी कई उत्तर मिलते हैं, उनमें से कैसे छाँटें? क्या हम इन पर विश्वास कर सकते हैं? अभी तो हम ज़्यादातर ऐसी जानकारियों पर भरोसा कर ही लेते हैं जो हमें सहजता से मिल जाती हैं या फिर किसी के द्वारा बतला दी जाती हैं। पर क्या यह सही है? हमारे अनुभव में कई बार ऐसे उत्तर बिल्कुल ही ग़लत व भटकाने वाले मिले हैं। प्रश्न यह है कि यदि इन उत्तरों पर हम अपने विवेक से सही-ग़लत को नहीं आँक सकते, तो क्या करें? यदि यह उत्तर हममें भरोसा पैदा नहीं करते तो उन्हें सन्देह के दायरे में ही देखा जाना चाहिए।

मैं आपसे एक ऐसे प्रशिक्षण के अनुभव बाँटना चाहता हूँ, जहाँ इन सवालों के जवाब वैज्ञानिक विधियों से ढूँढ़ने की कोशिश की जाती थी। यह बात पुरानी है, पर विचार में हमेशा नई रहेगी।

हर वर्ष की तरह, मैं 2016 की गर्मियों में एकलव्य, होशंगाबाद में विज्ञान के प्रशिक्षण में शामिल हुआ। प्रशिक्षण में इस वर्ष भी खोजबीन का सत्र था। इस सत्र में प्रतिभागियों से कहा जाता है कि उनके पास जो जिज्ञासा या सवाल हैं, उन्हें बताएँ। सभी के सवालों की सूची बनाई जाती है। इस सूची के सवालों पर चर्चा-विमर्श होता है। इन सवालों की तीन कैटेगरी बनती हैं : पहली, वे सवाल जिनके जबाव पाने के लिए प्रशिक्षण व कक्षा के दौरान प्रयोग किए जा सकते हैं, जैसे– क्या शुद्ध ऑक्सीजन में प्राणी जीवित रह सकता है और क्या ऑक्सीजन अपने आपमें जीवन को सपोर्ट कर सकती है? प्रतिभागियों के एक समूह ने चींटे को ऑक्सीजन से भरी परखनली में रखकर अवलोकन लिए और इसे परखने का प्रयास किया। इसमें अवलोकन करने के बाद यह सोचना होता है कि इन अवलोकनों से निष्कर्ष क्या निकल सकते हैं।

दूसरी कैटेगरी में ऐसे सवाल आते थे, जिनके जबाव के लिए पुस्तकालय की किताबें, इण्टरनैट व विशेषज्ञ से मदद लेनी होती, जैसे यह सवाल– क्या जन्मान्ध व्यक्तियों को सपने आते हैं, और अगर हाँ तो कैसे सपने आते हैं? ज़ाहिर है कि इसे वहाँ प्रयोग अथवा अवलोकन करके नहीं देखा जा सकता, इसके लिए अन्य तरह के स्रोत होंगे। एक समूह चार दिनों तक इसकी खोजबीन करता रहा, जिसमें ऐसे व्यक्तियों से बातचीत भी शामिल थी। ख़ैर, शायद उनको बहुत कुछ समझ आया, पर बहुत नहीं ही आया।

तीसरी तरह के वे सवाल होते हैं जिनके उत्तर के बारे में कुछ अनुभव सबके पास होते हैं, जैसे– बिल्ली का रास्ता काटना क्यों अशुभ होता है? या क्या माहवारी में पापड़ को बनाते देखने या बनते पापड़ पर इस समय वाली महिला की छाया पड़ जाने पर पापड़ टूटने या काले पड़ने लगते हैं? इनपर कुछ काम कर भी सकते हैं, पर इनमें अक्सर विश्वास जुड़े होते हैं, जिन्हें बदलना मुश्किल होता है।

सवाल अण्डे के वज़न का

अण्डे का वज़न कितना होता है? क्या सभी का एक ही वज़न होता है? : यह एक सरल दिखने वाला सवाल है। इसके बारे में कुछ काम स्कूल की कक्षा में भी किया जा सकता है। यह सवाल भी ऐसा है कि जिसे विशेषज्ञ से अथवा वैब पर उत्तर ढूँढ़कर सन्तुष्ट होना सरल नहीं है। यह सवाल कुछ-कुछ उस मोमबत्ती वाले प्रयोग में पानी चढ़ने की मात्रा व कारण जैसा है।

हमने इस सवाल के लिए नापजोख शुरू की। सवाल था, क्या सभी अण्डों का आकार और वज़न एक जैसा होता है? सवाल मेरे मन में उठा था इसलिए मैंने और इस सवाल से आकर्षित हुए दो और प्रशिक्षणार्थियों ने समूह बनाकर प्रयोग, अवलोकन व निष्कर्ष की रूपरेखा तैयार की।

प्रयोग व अवलोकन की रूपरेखा यह थी

1. दुकान से 6 अण्डे लाने होंगे।
2. अण्डों का वज़न मापने के लिए तराज़ू नहीं डिजिटल वज़नमापी चाहिए।
3. अण्डों की लम्बाई, गोलाई मापने के लिए सुझाव आया कि वर्नियर कैलिपर्स होना ज़रूरी है।
4. एक सुझाव यह भी था कि अण्डों का आयतन मापना चाहिए। इसके लिए नपनाघट लगेगा।

अण्डों को छोड़कर सभी उपकरण एकलव्य की प्रयोगशाला में उपलब्ध थे। बाज़ार से 6 कच्चे अण्डे लाए गए। अण्डे, देखने पर लगभग एक जैसे ही दिख रहे थे। हमने नापजोख प्रारम्भ की।

मापने में क्या हुआ?

सबसे पहले हमने अण्डों का वज़न लेना शुरू किया। इस दौरान हमें दो बातें समझ आईं–

1. ऊपर चल रहे पंखे को बन्द करना चाहिए क्योंकि हमारा वज़न मापी बहुत सुग्राही था।
2. अण्डों का नामकरण करना होगा ताकि हर अण्डा अलग पहचाना जा सके। हमने अण्डों के नाम– 1, 2, 3, 4, 5, 6– उनके ऊपर लिख दिए। वज़न की रीडिंग नोट कर ली गई।

अब अण्डों की लम्बाई और गोलाई को नापना था। इसके लिए चार हाथों की ज़रूरत पड़ी। लम्बाई नापना थोड़ा आसान था, पर गोलाई लेने के लिए यह 'अण्डानीति' बनानी पड़ी कि अण्डे को आड़ा रखकर, वर्नियर के दोनों जबड़ों के बीच से गुज़ारा जाए, अण्डे को किसी एक जगह पर वर्नियर के दोनों जबड़ों को छूकर आरपार निकलना था। इस तरह लम्बे, मोटे अण्डों के आँकड़े हमारे पास आ गए।

अवलोकन :

चलिए, अब देख ही लीजिए कि नतीजे क्या मिले !

दिनांक 8/5/2016, समय 3 बजे दोपहर :

अण्डों का नाम	अण्डे का वज़न	अण्डे की मोटाई	अण्डे की लम्बाई	अण्डे का आयतन
1	67.10 ग्राम	4.3 सेंमी	5.9 सेंमी	50 मिली
2	61.76 ग्राम	4.19 सेंमी	5.6 सेंमी	45 मिली
3	66.30 ग्राम	4.2 सेंमी	5.9 सेंमी	50 मिली
4	66.35 ग्राम	4.25 सेंमी	5.8 सेंमी	50 मिली
5	65.83 ग्राम	4.22 सेंमी	5.8 सेंमी	50 मिली
6	66.29 ग्राम	4.35 सेंमी	5.6 सेंमी	50 मिली

अब आयतन लेने की बारी थी। विचार-विमर्श से यह तय हुआ कि पहले नपनाघट में पानी निश्चित माप तक भर लेते हैं, फिर इसमें अण्डा महाशय को डुबो देंगे– जितना पानी ऊपर उठेगा, उसे माप लेंगे। हरेक अण्डे को डुबकी लगवाकर आयतन लिख लिए गए।

हमारे पास अण्डों से निकली नवजात जानकारियाँ थीं। इन आँकड़ों से हम कुछ साक्ष्य आधारित निष्कर्ष पर पहुँचें इसके पहले हमारे एक साथी को शंका हुई, और शंका ने सवाल उठाया कि क्या यह सारे अण्डे एक ही तारीख़ में पैदा हुए हैं?

हमें यह पता नहीं है। दुकान से लाए अण्डों पर यह दावा नहीं किया जा सकता। पर इस सन्देह के पीछे का तर्क यह था कि अण्डों का वज़न उनकी उम्र बढ़ने के साथ कम हो सकता है? इसे जाँचने के लिए अगले तीन दिन तक नियत समय पर उनका वज़न लिया।

स्वीकारोक्ति

1. हमें अण्डों का आयतन लेने के लिए छह सेंमी व्यास का नापनाघट लेना पड़ा। इसकी अल्पतम माप पाँच मिली की थी। इसलिए एक अण्डे को छोड़कर बाक़ी का आयतन हर बार 50 मिली ही आया।

2. अण्डों की लम्बाई और मोटाई की माप में कोई परिवर्तन नज़र नहीं आया:

अण्डों का नाम	8/5/16 अण्डे का वज़न (ग्राम)	9/5/16 अण्डे का वज़न (ग्राम)	वज़न में आया अन्तर (ग्राम)	10/5/16 अण्डे का वज़न (ग्राम)	वज़न में आया अन्तर (ग्राम)	11/5/16 अण्डे का वज़न (ग्राम)	वज़न में आया अन्तर (ग्राम)	प्रतिदिन औसत अन्तर (ग्राम)
1	67.10	66.88	0.22	66.56	0.32	66.40	0.16	0.23
2	61.76	61.56	0.2	61.16	0.4	61.01	0.15	0.25
3	66.30	66.12	0.18	65.86	0.26	65.66	0.2	0.22
4	66.35	66.15	0.2	65.92	0.23	65.69	0.23	0.22
5	65.83	65.63	0.2	65.33	0.3	65.20	0.13	0.21
6	66.29	66.12	0.17	65.95	0.17	65.78	0.17	0.17

अब यह तो स्पष्ट है कि पुराने होते जाने पर अण्डों की सेहत गिर रही थी। औसत निकालने पर एक अण्डे का वज़न प्रतिदिन लगभग 216 मिलीग्राम कम हो रहा था।

हमारे मूल सवाल के लिए यह एक स्पष्ट निष्कर्ष था कि अण्डों की क़दकाठी एक जैसी होने पर भी यदि उनकी जन्मतिथि में अन्तर है, तो उनके वज़न में अन्तर होगा।

परन्तु हमारे इन छह अण्डों में कोई भी दो अण्डे क़दकाठी में एक जैसे नहीं थे। तब हमने एक और सुझाव पर अमल किया। सुझाव था– हमारा सैम्पल कम अण्डों का है, इसे थोड़ा बड़ा होना चाहिए। तब हमने छह अण्डे और बुलवाए, और उनकी पहले की तरह ही नापजोख की। पुराने अण्डों की 8 तारीख़ की माप और नए अण्डों की 10 तारीख़ की माप को साथ रखकर एक तालिका बनाई।

सभी अण्डों का आयतन लगभग 50 मिली ही था इसलिए इसे तालिका में नोट नहीं किया गया :

अण्डों का नाम	अण्डे का वज़न (ग्राम)	अण्डे की मोटाई (सेंमी)	अण्डे की लम्बाई (सेंमी)
1	61.10	4.3	5.9
2	61.76	4.19	5.6
3	66.30	4.2	5.9
4	66.35	4.25	5.8
5	65.83	4.22	5.8
6	66.29	4.35	5.6
7	62.52	4.2	5.6
8	65.77	4.3	5.6
9	67.16	4.3	5.5
10	70.10	4.3	5.9
11	66.36	4.4	5.5
12	64.86	4.2	5.7

इस तालिका को देखकर सीधे कोई क्रमिक सहसम्बन्ध निकालना मुश्किल हो रहा था। तब एक विचार आया कि अण्डों के वज़न के बढ़ते क्रम में तालिका बनाई जाए। हमने विज्ञान की शिक्षा में अवलोकन लेने और रिकॉर्ड रखने के महत्त्व को जाना था; पर रिकॉर्ड को व्यवस्थित करने से ही किसी निष्कर्ष की ओर बढ़ा जा सकता है, यह इस प्रयोग को करने के दौरान ही समझ आया।

अण्डों को वज़न के बढ़ते क्रम में रखने पर बनी तालिका :

अण्डे का वज़न (ग्राम)	अण्डे की मोटाई (सेंमी)	अण्डे की लम्बाई (सेंमी)
61.76	4.19	5.6
62.52	4.2	5.6
64.86	4.2	5.7
65.77	4.3	5.6
65.83	4.2	5.8
66.29	4.3	5.6
66.30	4.2	5.9
66.35	4.25	5.8
66.36	4.4	5.5
67.10	4.3	5.9
67.16	4.3	5.5
70.10	4.3	5.9

इस तालिका को देखकर क्या कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं?

यह तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि अण्डों के वज़न पर उनकी मोटाई और लम्बाई का असर पड़ता है। इसे थोड़ा और नज़दीक से समझने के लिए अगर हम तालिका को मोटाई के बढ़ते क्रम में जमाएँ :

(तालिका अगले पेज पर देखें)

अण्डे की मोटाई (सेंमी)	अण्डे की लम्बाई (सेंमी)	अण्डे का वज़न (ग्राम)
4.19	5.6	61.76
4.2	5.6	62.52
4.2	5.7	64.86
4.2	5.8	65.83
4.2	5.9	66.30
4.25	5.8	66.35
4.3	5.6	65.77
4.3	5.6	66.29
4.3	5.8	67.10
4.3	5.5	67.16
4.3	5.9	70.19
4.4	5.5	66.36

हम देख सकते हैं अण्डों की मोटाई (अधिकतम व्यास) में ज़्यादा भिन्नता नहीं है। हमारे छह अण्डे लगभग 4.2 सेंमी के हैं, पाँच अण्डे 4.3 सेंमी के और एक अण्डा 4.4 सेंमी का। इस तरह अण्डों की औसत मोटाई 4.25 सेंमी आती है।

एक निष्कर्ष और निकलता है। समान मोटाई वाले अण्डों की लम्बाई में यदि 1 मिमी का अन्तर है, तो उनके वज़न में लगभग 1 ग्राम का अन्तर आ जाएगा।

अब यदि हम तालिका को अण्डों की लम्बाई के बढ़ते क्रम में बनाएँ :

अण्डे की लम्बाई (सेंमी)	अण्डे की मोटाई (सेंमी)	अण्डे का वज़न (ग्राम)
5.5	4.3	67.16
5.5	4.4	66.36
5.6	4.19	61.76
5.6	4.2	62.52
5.6	4.3	65.77
5.6	4.3	66.29
5.7	4.2	64.86
5.8	4.2	65.83
5.8	4.25	66.35
5.8	4.3	67.10
5.9	4.2	66.30
5.9	4.3	70.10

तालिका हमें बताती है कि अण्डों की लम्बाई 5.5 सेंमी से 5.8 सेंमी तक है। अगर हम इनकी लम्बाई का औसत निकालें तो यह लगभग 5.7 सेंमी आता है।

एक और नतीजा दिखता है कि यदि समान लम्बाई के अण्डों की मोटाई में 1 मिमी का अन्तर है, तो यह अण्डों के वज़न में लगभग 3 ग्राम का अन्तर ला सकता है।

अण्डों का औसत वज़न 65.87 ग्राम है और हमारे चार अण्डे लगभग 66.3 ग्राम के हैं। अतः, हम कह सकते हैं कि अण्डों का वज़न लगभग 66 ग्राम होता है। हमारे प्रयोग के निष्कर्ष की प्रस्तुति के समय हमने प्रशिक्षण में उपस्थित प्रतिभागियों को अण्डे के वज़न का अनुमान लगाने को कहा। उनका अनुमान 100 ग्राम से 200 ग्राम तक था। हमने जब उनके सामने हमारे नापजोख के निष्कर्ष प्रस्तुत किए, तो यह सभी के लिए नई जानकारी से ज़्यादा कुछ था। इसमें केवल अनुमान के ग़लत हो जाने का सन्ताप किसी को नहीं था, बल्कि एक उपलब्धि का सन्तोष था क्योंकि इन निष्कर्षों को हासिल करने में सभी अपने को भागीदार मान रहे थे।

इस तरह, हमशक्ल दिखने वाले अण्डों को अब हम थोड़ा ज़्यादा जानते हैं, न केवल उनके वज़न के बारे में, बल्कि उनकी ऊँचाई और व्यास के बारे में भी। हमने अण्डों के वज़न के बारे में इण्टरनैट पर खोजबीन की। यहाँ के स्रोत से जानकारी मिली कि सामान्य अण्डों का वज़न 63 से 73 ग्राम तक होता है।

अपने ख़ुद के सवाल के लिए उत्तर की इस तरह पड़ताल करना विज्ञान सीखने-सिखाने के बारे में हमें छोटा ही सही, एक रास्ता दिखाता तो है। विज्ञान की कक्षाओं में हम मन में उठने वाले सवालों के लिए थोड़ी जगह बना पाएँ, तो खोजबीन के लिए बड़ी जगह बनने लग जाएगी।

मुकेश मालवीय पिछले दो दशक से भी ज़्यादा समय से स्रोत शिक्षक के रूप में सरकारी और गैर सरकारी भूमिकाओं में सक्रिय हैं। कक्षा अनुभवों को लेकर सतत लिखते रहते हैं। वर्तमान में अनुसूचित जाति विकास विभाग के शासकीय आवासीय ज्ञानोदय विद्यालय होशंगाबाद (मध्यप्रदेश) में शिक्षक पद पर कार्यरत हैं।
सम्पर्क : mukeshmalviya15@gmail.com

दोस्ती चिट्ठी से ...

अक्षय कुमार दीक्षित

अपनी कक्षा में बच्चों को पत्र लिखना सिखाने का काम कैसे किया– इसका विस्तार से ज़िक्र है इस लेख में। आमतौर पर यह समझा जाता है कि पत्र के प्रारूप को बता देने भर से बच्चे पत्र लिखना सीख जाएँगे। बच्चे इस प्रारूप को तो समझ जाते हैं, लेकिन फिर भी पत्र नहीं लिख पाते। वे यह समझ नहीं पाते कि वे पत्र लिख ही क्यों रहे हैं? लेख और इसमें दिए गए क्रियाकलाप यह बताते हैं कि पत्र अभिव्यक्ति का सहज माध्यम हैं और इस सहजता को बरक़रार रखते हुए बच्चे इसे आसानी से सीख सकते हैं। सं.

पत्र हमारे जीवन का अभिन्न अंग हैं। प्रत्येक मानव को पत्र किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं। अपनी बात को दूसरों तक पहुँचाना प्रत्येक मानव की नैसर्गिक आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति करने का एक ज़रिया हैं– पत्र। इस दृष्टिकोण से पत्र लेखन, भाषा शिक्षण का महत्त्वपूर्ण अंग है।

सवाल यह उठता है कि बच्चों को पत्र लेखन की शुरुआत किस तरह करवाई जाए? अगर उन्हें सीधे-सीधे श्यामपट्ट या किसी पुस्तक से पत्र नक़ल करवा दिए जाएँ तो वे परीक्षा में भले ही कोई पत्र रटकर लिख लें, लेकिन असल ज़िन्दगी में शायद ही कभी पत्र लिखने के लिए क़लम उठाएँ। फिर ऐसे पत्र लिखवाने का क्या फ़ायदा? आप समझ गए होंगे कि पत्रलेखन इतना सीधा-सादा मामला नहीं है, जितना नज़र आता है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मैंने अपनी कक्षा के बच्चों को पत्र लिखना सिखाने के लिए विशेष योजना बनाकर कार्य करने का निश्चय किया।

यह विचार किया कि तीसरी कक्षा में बच्चों को व्यक्तिगत पत्र लिखवाना प्रारम्भ करने से पहले पत्र क्या होता है और कैसे लिखा जाता है, कैसा दिखता है और कैसे भेजा जाता है, ऐसी सभी प्रकार की छोटी से छोटी बातों को समझना अच्छा रहेगा। समझने-समझाने का यह काम पूरी तरह से क्रियाकलापों और खेलों द्वारा करवाया। नीचे कुछ क्रियाकलाप दिए गए हैं, जिन्हें अलग-अलग समय पर अपनी कक्षाओं में करवाया था।

टेलीफ़ोन बनाने की विधि

1. माचिस के केस के ठीक बीच में एक छेद कर लें।
2. उसमें एक धागा डाल दें।
3. धागे के सिरे पर एक तीली बाँध दें, ताकि धागा केस में से निकल न जाए।
4. धागे का दूसरा सिरा दूसरे केस में इसी तरह बाँध दें।
5. टेलीफ़ोन तैयार है। दो बच्चे, दोनों केस लेकर इस तरह दूर-दूर खड़े हो जाएँ कि धागा सीधा तन जाए।
6. एक बच्चा केस को कान से लगा ले। दूसरा बच्चा अपनी तरफ वाले केस को मुँह से सटाकर कुछ बोले। वह बात दूर खड़े बच्चे तक पहुँच जाएगी।
7. अब पहला बच्चा बोले और दूसरा बच्चा कान से केस लगाकर सुने।

क्रियाकलाप 1 : टेलीफ़ोन बनाना

सबसे पहले बच्चों को जाने-पहचाने माध्यम द्वारा बातचीत यानी सम्प्रेषण का अनुभव करवाने की योजना बनाई। वह माध्यम है टेलीफ़ोन!

एक दिन बच्चों से धागा, माचिस की ख़ाली डिब्बियाँ और टीन के ख़ाली डिब्बे मँगवा लिए। स्वयं भी कक्षा में माचिस से बना फ़ोन का मॉडल लेकर गया। उस मॉडल का प्रयोग करके एक बच्चे से बात की : धीमे से कुछ बोला और फिर उस बच्चे से पूछा, "बताओ, मैंने क्या कहा था?"

उस बच्चे ने बताया, "आपने कहा था कि मेरा फ़ोन अनोखा है।" मैंने कहा, "बिल्कुल सही। है न सचमुच अनोखा यह फ़ोन?" सभी बच्चे दंग रह गए यह देखकर कि यह अजीब-सी दिखने वाली चीज़ सचमुच फ़ोन का काम कर सकती है!

उसके बाद बच्चों को बताया, "आप भी अपना-अपना फ़ोन बना सकते हैं। इसे बनाना बहुत आसान है। इसके लिए दो ख़ाली टीन के डिब्बे या माचिस के अन्दर का केस और एक धागा चाहिए।"

इसके बाद, चरणबद्ध तरीक़े से बच्चों से माचिस का टेलीफ़ोन बनवाया। कुछ बच्चों को यह फ़ोन बनाना पहले से आता था, इसलिए उन्होंने फ़ोन बनाने में दूसरे बच्चों की सहायता की।

क्रियाकलाप 2 : फ़ोन पर बातचीत

अब कक्षा के कुछ बच्चों को अपने बनाए या उनके बनाए टेलीफ़ोन द्वारा बातचीत करने के लिए बुलाया। बच्चों का चयन पर्ची पर नाम लिखकर किया गया। यह स्पष्ट किया कि एक बार में दो बच्चे आपस में बातचीत करेंगे। एक कुर्सी और मँगवा ली और कक्षा के सामने दोनों बच्चों के बैठने का प्रबन्ध कर दिया, ताकि उन्हें बातचीत करते हुए सभी बच्चे देख सकें। बच्चों से सलाह करके प्रत्येक जोड़े के बात करने के लिए 2 मिनट का समय निर्धारित कर दिया, ताकि ज़्यादा से ज़्यादा बच्चों को आगे आने का मौक़ा मिल सके। बच्चों को बताया कि टेलीफ़ोन पर जिस तरह बात करते हैं, उसी प्रकार बात करनी है। चाहता तो था कि टेलीफ़ोन की घण्टी बजाने का प्रबन्ध भी हो जाए, लेकिन वह नहीं हो सका। हाँ, एक अनोखा काम यह किया कि दोनों बच्चों के बीच में एक पर्दा लगा दिया।

क्रियाकलाप 3 : बातचीत एकतरफ़ा

बच्चों के सामने दो कुर्सियाँ/स्टूल रख दिए और उनके बीच में पर्दा लगा दिया। बच्चों के नामों की पर्चियाँ बनवा लीं। दो-दो पर्ची निकालकर दो-दो बच्चों को आमन्त्रित किया। दोनों बच्चे कुर्सियों पर बैठ गए। एक पर्दा बीच में था, इसलिए वे एक दूसरे को देख नहीं सकते थे।

मैंने कहा, "बारी-बारी से प्रत्येक बच्चा दूसरे बच्चे से बात करेगा, लेकिन शर्त यह है कि दूसरा बच्चा बीच में जवाब नहीं देगा। प्रत्येक बच्चे को दूसरे बच्चे से 2 मिनट तक बात करनी है और बीच में कम से कम रुकना है। दूसरा बच्चा आपको देख नहीं सकता, इसलिए बातचीत शुरू करने से पहले उसका नाम लेकर पुकारें और बातचीत ख़त्म हो तो उसे अपना नाम बताएँ।"

खेल शुरू हो गया।

एक बच्चे ने कहा, "सुन्दर, क्या हाल है? तू क्या कर रहा है? मैं तुझे देख नहीं सकता और तेरी बातें सुन भी नहीं सकता, लेकिन अपनी बातें तो बोल सकता हूँ। बोल, क्या तू स्कूल के बाद मेरे साथ मेरे घर चलेगा? हम मिलकर ख़ूब खेलेंगे और टीवी देखेंगे..."

जब भी बच्चे बीच में अटक रहे थे, मैं उनकी सहायता कर रहा था। यह भी किया जा सकता है कि जो बच्चे पिछली गतिविधि में भाग ले चुके हैं, उन्हें इस गतिविधि में दर्शक रहने दिया जाए।

क्रियाकलाप 4 : क्या कहा ?

जब सब बच्चों की बारी पूरी हो गई तो बच्चों से कहा कि उन्होंने टेलीफ़ोन पर जो भी बातें कही थीं, वे अपनी-अपनी कॉपी में लिख लें। अगर वे कुछ भूल गए हों तो भी घबराने की बात नहीं है; वे चाहें तो लिखते-लिखते नई बातें भी जोड़ सकते हैं। ध्यान रखें कि अपनी बात के शुरू में और अन्त में उचित स्थान पर अपना और अपने दोस्त का नाम ज़रूर लिखना है।

बच्चों ने पिछले क्रियाकलाप में जो बातें परदे के पीछे बैठे अपने साथी से कही थीं, वे उन्होंने अपनी कॉपी में लिख लीं।

क्रियाकलाप 5 : पत्र क्या है ?

अब मैंने बच्चों को बताया, "बहुत समय पहले जब टेलीफ़ोन नहीं थे, तब लोग दूर रहने वाले दोस्तों और रिश्तेदारों से इसी तरह लिखकर बातचीत किया करते थे। इसी लिखी हुई 'बातचीत' को चिट्ठी या पत्र कहते हैं। आज के समय में भी लोग एक दूसरे को ख़ूब पत्र लिखते हैं।"

इसके बाद बच्चों को अलग-अलग तरह के पत्र दिखाए। पत्रों का प्रबन्ध पहले से ही कर लिया था। यह वे पत्र थे, जो समय-समय पर दूसरी कक्षाओं में लिखवाए थे। कुछ पत्र अपने घर में भी ढूँढ लिए थे। पोस्टकार्ड, अन्तर्देशीय, लिफ़ाफ़ों आदि पर लिखे पत्र देखकर बच्चे काफ़ी उत्साहित हो गए। बच्चों के समूह बनाकर प्रत्येक समूह को एक-एक पत्र दे दिया। श्यामपट्ट पर एक तालिका बना दी और बच्चों से कहा, "आपके समूह के पास जो पत्र हैं, उनके बारे में चर्चा करके यह तालिका भरिए।

पत्र किसने लिखा	पत्र किसे लिखा गया	पत्र कब लिखा गया	पत्र कहाँ लिखा गया	पत्र किस जगह पर भेजा गया	पत्र पर छपा मूल्य

बच्चों ने आपस में चर्चा करके तालिका को आसानी से भर लिया। इस गतिविधि का उद्देश्य पत्र के विभिन्न अंगों की ओर बच्चों का ध्यान आकर्षित करना था।

क्रियाकलाप 6 : लिखें पत्र

अब बच्चों को पत्र लिखने के लिए कहा। पत्र किसे लिखना है, किस बारे में लिखना है– इस बारे में बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया। मेरा विचार था कि बच्चे स्वयं निर्धारित करेंगे कि वे किसे पत्र लिखना चाहते हैं और पत्र में क्या कहना चाहते हैं।

पत्र लिखने के लिए 5 से 10 मिनट का समय निर्धारित कर दिया, लेकिन यह अवधि केवल सांकेतिक थी। जब आप कोई रचनात्मक कार्य करवाते हैं तो उसमें समय की सीमा को लचीला बना लेना बेहतर रहता है। जब बच्चों ने पत्र लिख लिया तो उनसे कहा, "अब आप अपने-अपने पत्र को पढ़कर सुनाइए।"

कुछ बच्चों ने पत्र पढ़कर सुनाने में काफी उत्साह दिखाया। चूँकि वे जानते थे कि उन्होंने पत्र में क्या लिखा है इसलिए पढ़ने में उन्हें दिक़्क़त नहीं हो रही थी। एक-दो बच्चे अपना पत्र पढ़ने में झिझक रहे थे। जो बच्चे अपना पत्र पढ़कर सुनाना नहीं चाहते थे, उन्हें विवश नहीं किया; बल्कि उनके पास जाकर उनकी अनुमति से पत्र को चुपचाप देख भर लिया।

क्रियाकलाप 7 : डाकिया डाक लाया

अगले दिन एक बार फिर पत्र लिखवाने की गतिविधि का आयोजन किया। इस बार बच्चों को एक-दूसरे को पत्र लिखना था। कक्षा के सभी बच्चों के नामों की पर्चियाँ बनवा लीं और उन्हें अच्छी तरह मिला लिया। अब प्रत्येक बच्चे को एक पर्ची उठाने के लिए कहा। उन्हें पहले ही बता दिया था कि जिस बच्चे के पास जिसके नाम की पर्ची आएगी, वह उसी को पत्र लिखेगा। जब सभी बच्चों ने पत्र लिख लिए, तो उन्हें एक डाकपेटी में डाल दिया गया। फिर एक बच्चा डाकिया बन गया और उसने सभी पत्र

पेटी से निकालकर सही बच्चे तक पहुँचा दिए। अपने नाम का पत्र देखकर-पढ़कर प्रत्येक बच्चे को जो ख़ुशी मिली, उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। डाकिया पत्र बाँटते हुए नाटकीय अन्दाज़ में बोल रहा था– "सुनीता के नाम की चिट्ठी आई है..." "डाकिया डाक लाया..."आदि।

इस क्रियाकलाप में यह भी कर सकते हैं :

पत्र पढ़ने के बाद बच्चे उसे अपनी-अपनी कॉपी में चिपका सकते हैं। डाकिया, किसी अन्य कक्षा के बच्चे को भी बनाया जा सकता है। यदि आप किसी अन्य कक्षा के बच्चे को डाकिया बनाते हैं, तो उस कक्षा के शिक्षक से अनुमति ले लें और अपनी कक्षा के बच्चों को डाकिया की भनक तक न लगने दें। डाकिया देखकर उन्हें जो प्रसन्नता मिश्रित हैरानी होगी, वह आपके प्रयास को सार्थक कर देगी। आप स्वयं भी डाकिया की भूमिका निभा सकते हैं।

डाकपेटी और डाक-थैले का प्रबन्ध पहले से कर लें। डाकपेटी कक्षा के दरवाज़े के बाहर रखी जा सकती है, ताकि बच्चों को इस बात का अहसास हो कि डाकपेटी कहीं दूर होती है। डाक-थैला प्लास्टिक का ना हो तो अच्छा रहेगा।

इस गतिविधि को और बड़े पैमाने पर करने के लिए इसमें अन्य कक्षाओं/वर्गों को भी शामिल किया जा सकता है। अब आप एक निर्धारित स्थान पर 'डाक घर' की स्थापना भी कर सकते हैं, जहाँ अलग-अलग कक्षाओं के बच्चों के पत्रों की छंटनी होगी और उन्हें अलग-अलग थैलों में डालकर सही कक्षा तक पहुँचाया जाएगा। ऐसी स्थिति में डाकपेटी को थोड़ा अधिक दूर स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार बच्चे पूरी डाक प्रक्रिया को समझ सकेंगे। बच्चों से ही काग़ज़ के डाक टिकट बनवाकर पत्रों पर चिपकवाए जा सकते हैं। बच्चे टिकट/कार्ड आदि डाकघर से ख़रीदने का अभिनय भी कर सकते हैं।

क्रियाकलाप 8 : जवाबी चिट्ठी

जब सब बच्चे अपने-अपने पत्र (जो उन्हें किसी और ने लिखे हैं) पढ़ चुके, तो बच्चों को उन पत्रों के जवाब में पत्र लिखने के लिए प्रेरित किया। जिन बच्चों को लिखने में कुछ दिक़्क़त थी, उनके साथ बैठकर उनकी सहायता की। बोर्ड पर पत्र का एक प्रारूप भी नमूने के रूप में बना दिया।

क्रियाकलाप 9 : घर पर चिट्ठी

एक दिन मैंने बच्चों से एक-एक पोस्टकार्ड लाने के लिए कहा। मुझे अहसास था कि सभी बच्चे पोस्टकार्ड नहीं ला सकेंगे इसलिए स्वयं भी पोस्टकार्डों का प्रबन्ध कर लिया था। बच्चों को बताया, "आज हम अपने-अपने घर को चिट्ठी लिखेंगे।"

एक बच्चे ने पूछा, "अपने घरवालों से तो हम रोज़ मिलते हैं, उनके साथ रहते हैं; उन्हें चिट्ठी लिखकर क्या फायदा?"

मैंने कहा, "चिट्ठी लिखने का एक फ़ायदा यह है कि हम मन की वे बातें अच्छी तरह सोच समझकर बता सकते हैं, जो आमने-सामने या टेलीफ़ोन पर झिझक के कारण नहीं कह पाते। दूसरा फ़ायदा यह है कि पत्र पढ़कर, पढ़नेवाले को बहुत सुकून मिलता है। तीसरा फ़ायदा यह है कि पत्र को बार-बार पढ़ा जा सकता है और सहेजकर रखा जा सकता है। अब आप अपने घर के किसी व्यक्ति को चिट्ठी लिखिए और उसे बताइए कि वह व्यक्ति आपको अच्छा क्यों लगता है।"

यह बात समझाने के बाद बच्चों को पत्र लिखने के लिए समय दिया। जब बच्चों ने पत्र लिख लिया, तो उन्हें पत्र पर निर्धारित जगह उनका अपना पता लिखने के लिए कहा। यह अन्दाज़ा था कि बहुत से बच्चों को अपना पूरा पता (पिन कोड सहित) मालूम नहीं होगा। अत: इस गतिविधि से पहले सभी बच्चों से कॉपी या

काग़ज़ की पर्ची पर उनका पता, घर के बड़ों से पूछकर, लिख लाने के लिए कह दिया था।

जब बच्चों ने पता लिख लिया, तो उनसे कहा, "स्कूल के बाद आप इस पत्र को डाकपेटी में डाल दें। जब डाकिया इसे आपके घर पर पहुँचा दे, तब आप इसे कक्षा में लाकर दिखाइए। जिन बच्चों को नहीं पता था कि डाकपेटी कहाँ है, उन्हें बता दिया और जिन बच्चों को पता था, उन्हें दूसरों की सहायता करने के लिए तैयार किया।

इस क्रियाकलाप में यह भी करें :

बच्चों को यह भी बताइए कि आपके विद्यालय के निकट डाकपेटी कहाँ है। सम्भव हो तो इलाक़े के डाकघर के पोस्टमास्टर से मिलकर उन्हें अपने विद्यालय के इस क्रियाकलाप की सूचना अवश्य दें और उनका सहयोग लें। उन्हें यह जानकार बहुत प्रसन्नता होगी कि आप बच्चों को पत्र लिखने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रकार आप सुनिश्चित कर सकेंगे कि बच्चों द्वारा पोस्ट किए गए सभी पत्र उनके घरों में पहुँच जाएँ।

धीरे-धीरे सभी बच्चे सूचना देने लगे कि उनका पत्र घर पर पहुँच गया है। एक दिन निर्धारित किया गया, जब सभी बच्चे अपना-अपना पत्र कक्षा में लेकर आएँगे। उस रोज़ कक्षा में उन्हें पत्र को ध्यान से देखने के लिए कहा। फिर पूछा, "जब आपने इस पत्र को डाकपेटी में डाला था, उस समय से आपके हाथों में आने तक आपके पत्र में कौन-कौन से बदलाव आ गए हैं?"

इस प्रश्न का मक़सद बच्चों का ध्यान पोस्टकार्ड पर छपी मोहर पर आकर्षित करवाना था। एक-दो बच्चों ने तुरन्त बता दिया– "मेरी चिट्ठी पर काला-काला कुछ बना हुआ है/छपा हुआ है/लगा हुआ है!"

तब उन्हें बताया, "इसे मोहर कहते हैं। जब हमारी चिट्ठी डाकघर पहुँचती है, तो वहाँ पर इसे लगाया जाता है।"

बच्चों से कहा कि वे ध्यान से देखें कि मोहर से कौन-कौन सी सूचनाएँ मिल पाती हैं। लेकिन इस कार्य में एक दिक़्क़त थी– सभी पोस्टकार्डों की मोहरें पठनीय नहीं थीं। जिन बच्चों के पत्रों की मोहरें पढ़ी नहीं जा रही थीं, उन बच्चों को एक दूसरे के पोस्टकार्डों की मोहरें देखने के लिए प्रोत्साहित किया।

इसके बाद बच्चों से चर्चा की : जब उनके घर पोस्टकार्ड पहुँचा और उसे पढ़ा गया, तब क्या-क्या हुआ? बच्चों ने बड़े उत्साह से अपने मधुर अनुभव साझा किए।

इस गतिविधि का उद्देश्य बच्चों को उस आनन्द का अनुभव देना था, जो आनन्द घर पर पत्र पाने और उसे पढ़ने से मिलता है। एक बार इस आनन्द का अनुभव करने के बाद वे जीवन भर इसे भूल नहीं सकेंगे।

गर्मी की छुट्टियों के लिए इस गतिविधि को एक अन्य तरीक़े से करवाया। बच्चों से कहा,"अब तो हम सब एक दूसरे से डेढ़ महीने बाद मिलेंगे। मुझे तो तुम सबकी बहुत याद आएगी। क्या तुम्हें मेरी याद आएगी?"

सब बच्चों ने एक स्वर में कहा– "हाँ सर!!!"

मैंने कहा, "तो जिस-जिस को मेरी याद आए, वह मुझे पत्र लिखे। आप पत्र में अपने मन की बातें लिखना।"

मैंने श्यामपट्ट पर अपना पता लिख दिया। उन छुट्टियों में काफ़ी बच्चों ने मुझे पत्र लिखे। कुछ के पत्र तो पहुँच नहीं सके, लेकिन काफ़ी पत्र मेरे घर पर पहुँच गए। छुट्टियाँ समाप्त होने के बाद जब विद्यालय खुला, तो मैं वे पत्र कक्षा में ले गया और बच्चों को दिखाए। उन्हें बताया कि उनके पत्र पाकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई। उस समय कक्षा में ऐसा कोई चेहरा न था जिस पर मुस्कान न हो!

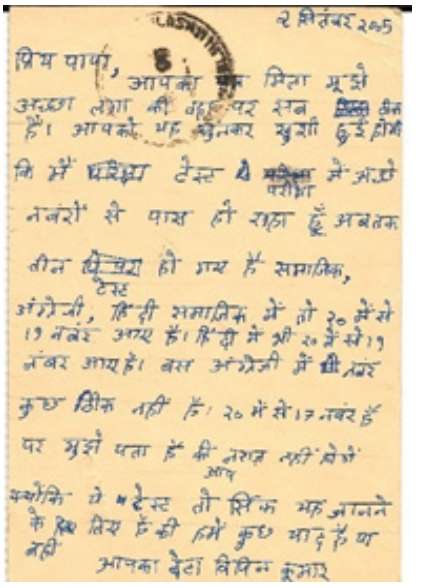

२ सितंबर २००५

प्रिय पापा,

आपको यह मिला मुझे अच्छा लेगा की वहां पर सब ठीक हैं। आपको यह सुनकर खुशी हुई होगी कि मैं घरेलू टेस्ट में अच्छे नंबरों से पास हो रहा हूँ अबतक तीन टेस्ट हो गए हैं सामाजिक, अंग्रेजी, हिन्दी सामाजिक में तो २० में से १७ नंबर आए हैं। हिन्दी में भी २० में से १७ नंबर आए हैं। बस अंग्रेजी में थोड़ा कुछ ठीक नहीं हैं। २० में से १७ नंबर हैं पर मुझे पता है की नतीजा नहीं बेहतर आए क्योंकि ये "टेस्ट तो सिर्फ यह जानने के लिए लिए हैं की हमें कुछ आता है या नहीं

आपका बेटा विवेक कुमार

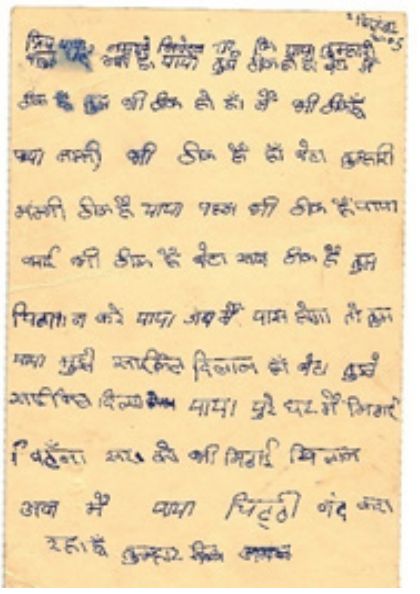

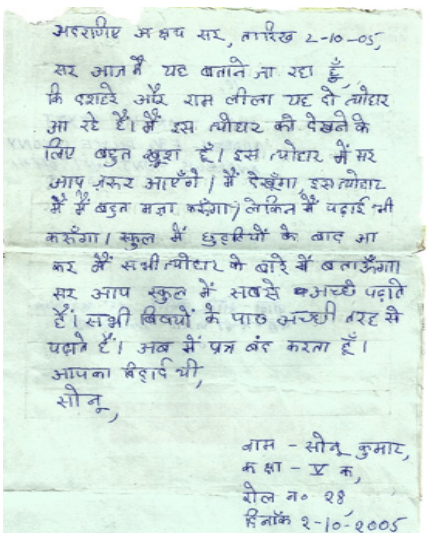

अदरणीय अक्षय सर, तारीख २-१०-०५

सर आज मैं यह बताने जा रहा हूँ कि दशहरे और रास लीला यह दो त्योहार आ रहे हैं। मैं इस त्योहार को देखने के लिए बहुत खुश हूँ। इस त्योहार में सर आप जरूर आएँगे। मैं देखूँगा, इस त्योहार में मैं बहुत मजा करूँगा। लेकिन मैं पढ़ाई भी करूँगा। स्कूल में छुट्टियों के बाद आ कर मैं सभी त्योहार के बारे में बताऊँगा। सर आप स्कूल में सबसे अच्छे पढ़ाते हैं। सभी विषयों के पाठ अच्छी तरह से पढ़ाते हैं। अब मैं पत्र बंद करता हूँ।

आपका विद्यार्थी,
सौनू,

नाम - सौनू कुमार,
कक्षा - ५ क,
रोल नं० २१
दिनांक २-१०-२००५

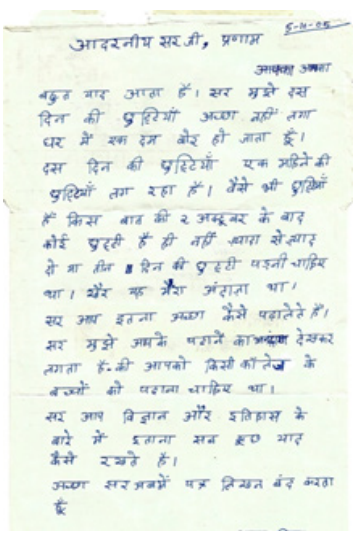

आदरनीय सर जी, प्रणाम

आपका अमना

बहुत याद आता है। सर मुझे दस दिन की छुट्टियाँ अच्छा नहीं लगा घर में एक दम बोर हो जाता हूँ। दस दिन की छुट्टियाँ एक महीने की छुट्टियों लग रहा है। वैसे भी छुट्टियाँ हैं किस बात की २ अक्टूबर के बाद कोई छुट्टी है ही नहीं क्या सेटअप हो या तीन ४ दिन की छुट्टी पड़नी चाहिए था। और यह वैसा अंदाजा था।

सर आप इतना अच्छा कैसे पढ़ाते हैं। सर मुझे आपके पढ़ाने का अंदाज देखकर लगता है की आपको किसी कॉलेज के बच्चों को पढ़ाना चाहिए था।

सर आप विज्ञान और इतिहास के बारे में इतना सब कुछ याद कैसे रखते हैं।

अच्छा सर अब मैं पत्र लिखना बंद करता हूँ

चिट्ठियों के नमूने

अक्षय कुमार दीक्षित शिक्षा सलाहकार और लेखक हैं। पिछले दो दशक से बच्चों की शिक्षा के बारे में लिखते रहे है। बच्चों और शिक्षकों के लिए पाठ्य-सामग्री के विकास के साथ-साथ शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों से जुड़ रहे हैं। वर्तमान में दिल्ली में हिन्दी शिक्षण के साथ-साथ शिक्षक विकास समन्वयक के रूप में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : akshaydixitdelhi@gmail.com

कक्षा में बातचीत होने तो दीजिए!

सुनीता

आमतौर पर कक्षाओं में बच्चों को बातचीत करने की अनुमति नहीं होती। बातचीत को शोर समझा जाता है या शिक्षक की बात की अवहेलना और दोनों ही आमतौर पर अनुशासनहीनता माने जाते हैं। अतः बच्चों की इस स्वाभाविक प्रवृति को पोषित न करते हुए, उन्हें बार-बार चुप रहने को कहा जाता है। अनुभव आधारित यह लेख, भाषा सीखने में बातचीत की अहमियत को दर्शाता है। बच्चों के साथ बातचीत करना क्यों जरूरी है, कक्षा में बच्चों के साथ किन किन मौकों पर, किस किस माध्यम से बातचीत की शुरुआत की जा सकती है, और किस तरह की बातचीत की जा सकती है और बच्चे इस दौरान क्या-क्या सीख सकते हैं इन सभी के बारे में लेख विस्तार से चर्चा करता है। सं.

प्राथमिक स्तर पर भाषा सिखाने के लिए यह अति आवश्यक है कि बच्चों के साथ ज़्यादा से ज़्यादा बातचीत हो। बच्चों के साथ जितनी अधिक और विविध मुद्दों पर बातचीत होगी, उस विषयवस्तु पर उनकी अवधारणाएँ उतनी ही स्पष्ट और पुख़्ता होंगी। बच्चों के साथ बातचीत से ही उनके सन्दर्भों और अनुभवों को कक्षा तक लाया जा सकता है, जो बच्चे की समझ को जानने के लिए शिक्षक को आधार देते हैं। जब बच्चों की भाषा को कक्षा में स्थान और सम्मान मिलता है तो उनका आत्मविश्वास भी बढ़ता है। ऐसा तब अनुभव हुआ जब कक्षा 1 में बच्चों के साथ 'मछली जल की रानी है' कविता पर काम कर रही थी। उस कक्षा की सबसे छोटी लड़की ने कहा कि उसकी थाली से मछली को बिल्ली खा गयी थी। इस बात पर सभी बच्चे हँसने लगे। परन्तु जब बच्चों से इसपर विस्तार से बात हुई, और उस लड़की को विश्वास दिलाया कि वह जो कह रही है वह बिल्कुल ठीक है, तो उसने उस घटना के बारे में विस्तार से बताया कि उस दिन उसके साथ क्या हुआ था। यह अनुभव इस बात की ओर भी इशारा करते हैं कि विद्यालय और कक्षा में बच्चों को खुली बातचीत के लिए अधिक से अधिक अवसर देने पर बच्चों की बातचीत को विस्तार मिलता है और उनमें खुलापन भी आता है।

बच्चों को जब भी बातचीत के मौक़े मिलते हैं तो वे अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं, स्वयं अपनी बातचीत का विश्लेषण करते हैं और उसके पक्ष और विपक्ष में अपने विचार रखते हैं। इससे उनमें तर्क करने, विश्लेषण करने की क्षमताएँ भी विकसित होती हैं और सोचने-समझने का नया आयाम मिलता है। इसलिए ज़रूरी है कि बच्चों की बातचीत को अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण शिक्षण सामग्री के तौर पर कक्षा में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इसकी शुरुआत इस बात से भी हो सकती है कि वे पिछले दिन स्कूल क्यों नहीं आए थे, स्कूल आते समय रास्ते में क्या-क्या देखा, आदि। यह गतिविधि कक्षा में बच्चों के साथ बातचीत के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करती है और कक्षा की बातचीत में सभी बच्चों की भागीदारी भी सुनिश्चित करती है। इसके साथ-साथ यह बच्चों के व्यक्तिगत अनुभव और स्कूल की पढ़ाई के बीच सम्बन्ध को भी जोड़ती है, जिसकी पैरवी एनसीएफ, 2005 भी करता है

: कक्षाई ज्ञान को बाहरी ज्ञान से जोड़ना।

पिछले तीन वर्षों में कुछ एक प्राथमिक विद्यालयों में काम करने के दौरान हिन्दी भाषा की कक्षाओं में बच्चों और शिक्षकों के साथ जुड़ना हुआ। इस दौरान ख़ासकर यह देखने को मिला कि बच्चों की बातचीत और शामिलियत को कक्षा में बहुत कम तवज्जो दी जाती है। शायद इसके पीछे यह मान्यता होगी कि इतने छोटे बच्चों के साथ क्या बातचीत करेंगे क्योंकि वे तो दिन भर बात ही करते हैं, अगर कक्षा में भी बात ही करेंगे तो पढ़ेंगे कब? किन्तु जब बच्चों के साथ घुलना-मिलना हुआ, तब मैंने पाया कि दरअसल बच्चे अधिकांश समय अक्षर, मात्राओं, शब्दों और पाठ में दिए प्रश्न-उत्तरों में ही व्यस्त रहते हैं। इस प्रक्रिया में उनसे जो पूछा जाता है, वे उसी का जवाब देते हैं।

बच्चों से बातचीत के महत्त्व और उपयोगिता को और गहराई से जानने-समझने के लिए अगर पिछले कुछ वर्षों के सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण के मॉड्यूलों पर नज़र डाली जाए, तो यह देखने को मिलेगा कि उनमें भी बच्चों के साथ बातचीत का महत्त्व, उपयोगिता और कक्षा में बरतने के तरीक़ों को लेकर ख़ूब चर्चा हुई है। पर आज भी यदा कदा ही देखने को मिलता है कि बातचीत को कक्षा में एक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी शिक्षणशास्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा हो।

'बच्चे की भाषा और अध्यापक' किताब में प्रो. कृष्ण कुमार लिखते हैं, "जो अध्यापक बच्चों को बातचीत करने से रोकते हैं, उन्हें शिक्षण सामग्री की कमी की शिकायत करने का कोई हक़ नहीं है। वे पहले ही ऐसे बेशक़ीमती साधन को बेकार जाने दे रहे हैं, जिसके लिए कोई पैसा ख़र्च नहीं करना पड़ता। इसलिए ऐसा स्कूल जहाँ छोटे बच्चे बात करने को स्वतन्त्र नहीं, बड़ा फ़िज़ूलख़र्च स्कूल कहलाएगा।" प्रो. कृष्ण कुमार की यह बात बच्चों की बातचीत को एक महत्त्वपूर्ण शिक्षण सामग्री के रूप में इस्तेमाल करने की सलाह देती है, जो बिना किसी अतिरिक्त व्यय के एक उपयोगी 'शिक्षण सहायक सामग्री' है।

बच्चों के साथ बातचीत रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के हल तलाशने में भी हमारी सहायता करती है। इस बात की पुष्टि गैरथ बी. मैथ्यूज़ के उस विचार से होती है जिसे उन्होंने अपनी किताब बच्चों से बातचीत में लिखा है। मैथ्यूज़ के अनुसार बच्चों के साथ सार्थक बातचीत की जाए तो वे स्वयं चीज़ों की पड़ताल करेंगे और सही व ग़लत के निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। वे यह भी लिखते हैं कि वयस्क कभी बच्चों से उन विषयों पर बातचीत नहीं करते हैं जो उन्हें स्वयं कठिन और समस्याग्रस्त लगते हैं। बच्चों को ज्ञान की तलाश है और इसके लिए वे समझदारी भरे और प्रेरक प्रश्न पूछते हैं। जब तक उनकी ज्ञान की भूख शान्त नहीं हो जाती तब तक वे इन प्रश्नों को लगातार पूछते हैं; परन्तु जब उन्हें लगता है कि उनके चारों ओर के वयस्कों को उनकी बात सुनने की या उनके विचार जानने की कोई इच्छा नहीं है, तो वे प्रश्न पूछना बन्द कर देते हैं।

> बच्चे अपने अलग-अलग उद्देश्यों के लिए अलग-अलग प्रकार की बातचीत करते हैं, और यह ज़रूरी नहीं कि सभी उद्देश्य शिक्षक के लिए आवश्यक ही हों। परन्तु बच्चों की इस बातचीत को विस्तार देने और वातावरण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कक्षा में हर बच्चे को यह विश्वास दिलाया जाए कि जब वह बोलेगा तो उसे सुना जाएगा। बच्चे यह भी महसूस करें कि उनका बोलना अध्यापक को अच्छा लगता है।

मेरी समझ में बच्चों को प्रश्न पूछने से रोकना या उनकी बात की अवहेलना करना बहुत बड़ी क्षति है, जो बच्चों को जिज्ञासु होने से रोकती है और उनके सीखने की प्रक्रिया में नीरसता पैदा करती है। इससे बच्चों और अध्यापक के बीच एक गहरी खाई पैदा हो जाती

है। बच्चों को बोलने की मना ही करने से और बातचीत के मौक़े न देने से वे सीखना कम कर देते हैं। इस बात की पैरवी गिजुभाई बधेका और जॉन हॉल्ट ने भी की है।

बच्चों के साथ काम करने के दौरान मुझे यह अनुभव हुआ कि बच्चे अपने अलग-अलग उद्देश्यों के लिए अलग-अलग प्रकार की बातचीत करते हैं, और यह ज़रूरी नहीं कि सभी उद्देश्य शिक्षक के लिए आवश्यक ही हों। परन्तु बच्चों की इस बातचीत को विस्तार देने और वातावरण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कक्षा में हर बच्चे को यह विश्वास दिलाया जाए कि जब वह बोलेगा तो उसे सुना जायेगा। बच्चे यह भी महसूस करें कि उनका बोलना अध्यापक को अच्छा लगता है। इससे बच्चे अपनी बात को खुलकर रख सकेंगे। इसके अलावा, यह बातचीत बच्चों को कक्षा से जोड़ने एवं पाठ के सन्दर्भ पर लाने और उनके पूर्व ज्ञान को कक्षा में शामिल करने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

पहली बार जब कक्षा 1 व 2 में बच्चों के साथ बातचीत पर काम शुरू करने की योजना बनाई तो इसकी शुरूआत बच्चों को जानने-समझने से हुई। कक्षा में जाने के बाद बच्चों से कहा, "आज हम अपने बारे में बातचीत करेंगे कि कौन कहाँ से आता है? आपके घर में कौन-कौन रहते हैं? आपके माता-पिता क्या काम करते हैं? आपको क्या अच्छा लगता है? आप लोग कौन-कौन से खेल खेलते हो?" इत्यादि। इन बातों को सुनकर बच्चों ने ऐसे देखा कि जैसे मैंने कोई अनोखी बात कह दी हो। कक्षा में बातचीत को एक महत्त्वपूर्ण शिक्षण पद्धति के रूप में इस्तेमाल किए जाने से सम्बन्धित इस गतिविधि की शुरुआत में तो बच्चे बातचीत में बहुत ज़्यादा शामिल नहीं हुए, और बातचीत एक स्तर तक जाने के बाद बन्द हो जाती थी।

बातचीत बन्द होने के कारणों पर लगातार काम करना पड़ा। जब बच्चों के जवाबों को ही प्रश्न बनाना शुरू किया, तो धीरे-धीरे बच्चों ने भी बातचीत को कक्षा शिक्षण का हिस्सा मान लिया। इस काम के द्वारा बच्चों को गहराई से जानना-समझना हो पाया। इससे यह भी पता चला कि कुछ बच्चे तो ऐसे हैं जिनके माता-पिता उन्हें सोता हुआ छोड़कर काम पर चले जाते हैं—ऐसे में अगर उनकी नींद समय से खुल गई तो, और स्कूल आने का मन हो गया तो, वे आ गए और नहीं हुआ तो नहीं आए। जिन बच्चों के साथ यह समस्या थी, उनकी कक्षा में उपस्थिति भी अच्छी नहीं थी। कक्षा 2 में पढ़ने वाली लड़कियों ने बताया कि उन्हें सुबह खाना बनाकर स्कूल आना होता है, क्योंकि माता-पिता दोनों काम पर जाते हैं और इस कारण स्कूल आने में देर हो जाती है; देर से आने पर डाँट या मार पड़ने के डर से वे स्कूल नहीं आती हैं। कुछ बच्चों की माताएँ झाड़ू-पोछा का काम करके घर सम्भालती हैं, वे कहाँ से रोज़ कॉपी-पेन्सिल लेकर आएँ। बच्चों के सन्दर्भों को जानने-समझने के बाद इस पर बच्चों और शिक्षिका से बातचीत हुई कि अगर उन्हें स्कूल आने में थोड़ी देर हो जाए तो उन्हें इसकी अनुमति दे दें। इससे बच्चों का पोर्टफ़ोलियो बनाने में काफ़ी मदद मिली, जैसे—उनकी पारिवारिक एवं आर्थिक स्थिति कैसी है, उनकी रुचि किस चीज़ में है और उनके साथ घर में कैसा बर्ताव किया जाता है। इससे कक्षा के बच्चों के प्रति संवेदना उत्पन्न हुई और इसके बाद बच्चों के साथ काम करने का नज़रिया ही बदल गया।

कविता के माध्यम से बातचीत के अवसर

बच्चों के साथ कविताओं पर काम करने के दौरान यह देखने को मिला कि बच्चों के अनुभवों को जोड़ा जाए तो वे सक्रिय प्रतिभागिता करते हैं और कविता से जुड़ पाते हैं। इसके लिए कुछ के कविताओं के अनुभव इस प्रकार रहे—कविता 'बारिश आई छम-छम-छम' पर काम करने से पहले बच्चों के साथ बारिश, बादल, छाता, लड़की आदि पर बातचीत हुई कि यह हमने कहाँ-कहाँ देखे हैं। बच्चों ने बताया कि उन्हें बारिश में भीगने में मज़ा आता है; बारिश में नाव चलाना अच्छा लगता है; विशाल को बारिश

में साइकिल चलाना अच्छा लगता है; कुछ और बच्चों को भी बारिश में साइकिल चलाना अच्छा लगता है; अंजलि को बारिश पसन्द नहीं है, आदि। उन्होंने यह भी बताया कि बारिश के दौरान स्कूल में पानी भर जाता है तो अच्छा नहीं लगता है क्योंकि कीचड़ हो जाता है तो खेलने को नहीं मिल पाता है।

कुछ बच्चों ने बारिश से जुड़े अपने अनुभव भी साझा किए। राहुल ने बताया कि वह एक बार मैदान में पानी में गिर गया था और उसके कपड़े ख़राब हो गए थे। दिव्या ने बताया कि उसे बारिश में नहाना अच्छा लगता है। हेमपुष्पा ने बताया कि उसके घर में पानी आ जाता है तो उसे अच्छा नहीं लगता है। ऐसे ही अन्य शब्दों बादल, छाता, लड़की आदि पर भी बच्चों से बात हुई। बातचीत के बाद कविता को हावभाव से गाना, कविता पर बच्चों से बात करना, चित्र बनाना, चित्रों में रंग भरना और ध्वनियों पर काम करना, आदि आगे के काम हुए।

ऐसे ही एक अन्य कविता पर काम करने के दौरान भी अनुभव हुआ। कविता थी 'एक छोटी सी किश्ती मेरे पास'। इस पर काम करने से पहले बच्चों को नाव का चित्र दिखाया। बच्चे 'नाव' शब्द से तो परिचित थे, परन्तु कविता में 'किश्ती' शब्द से परिचित नहीं थे। कविता पर बच्चों के साथ काम करने के बाद लगभग सभी बच्चे 'किश्ती' से परिचित हो पाए। बच्चों ने यह भी बताया कि 'किश्ती' को नाव, बोट और नौका भी कहते हैं। साथ ही उन्होंने नाव से जुड़े अपने अनुभव भी साझा किए। कुछ बच्चों ने बताया कि जब वे नैनीताल घूमने गए थे, तब वहाँ उन्होंने नाव देखी थी; कुछ बच्चों ने बताया कि उन्होंने गूलरभोज डैम में नाव देखी है। लोग नाव में बैठकर सैर भी करते हैं और मछली भी पकड़ते हैं। बच्चों के अनुभवों को श्यामपट्ट पर लिखने से फ़ायदा हुआ: बच्चे समझ पाए कि जो बात वे बताते हैं, वह भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी किताब में लिखी बात महत्त्वपूर्ण होती है।

कहानी के माध्यम से बातचीत के अवसर

कक्षा 1 में बच्चों के साथ इल्ली और तितली की कहानी पर काम किया। छोटे बच्चों के हिसाब से यह बहुत बड़ी अवधारणा है कि इल्ली से तितली कैसे बनी, पर जब बच्चों के साथ चित्र-कहानी के माध्यम से इस पर बातचीत करना शुरू किया तो लगभग सभी बच्चे यह समझ रहे थे कि इल्ली से तितली कैसे बनती है। बच्चों को इल्ली का चित्र दिखाया, तो कुछ बच्चों ने बताया, "मैडम, यह तो वही कीड़ा है जो घास में रहता है और पत्ता खाता है।" इसके बाद दूसरी कहानी 'घर' पर काम करने के दौरान बच्चों ने कहा, "मैडम, इल्ली का घर भी घास में होता है और वह घास खा-खाकर हरी हो जाती है।" फिर, कुछ दिनों के बाद विद्यालय के प्रांगण में खूब सारी इल्लियाँ आ गईं, तो बच्चे एक दूसरे को खींच-खींचकर क्यारियों के पास ले जा रहे थे और कह रहे थे, "देखो... हमने इल्ली की कहानी सुनी थी वैसी ही इल्ली है..." यहाँ तक कि हर बच्चा मुझे आकर यह बता रहा था, "मैडम, हमने सचमुच की इल्ली देखी है!" बच्चों की बातचीत से समझ आया कि वे अगर किसी बात को ठीक तरह से समझते हैं तो उसको अपने आगे की बातचीत में भी शामिल करते हैं, और ऐसे ही कहानियों के तार आगे की कहानियों से जुड़ते हैं।

चित्रों के माध्यम से बातचीत के अवसर

बातचीत के लिए चित्र, एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके लिए कक्षा 1 की पाठ्यपुस्तक हँसी-ख़ुशी से 'घर' चित्र-पाठ चुना गया और उस पर पाठ योजना तैयार की गई। बच्चों से पाठ में दिए चित्रों पर बातचीत हुई। बच्चों को पूछा कि उन्हें चित्र में क्या-क्या दिख रहा है? बच्चों ने बताया कि जानवर, घर, आदमी, बच्चे, पेड़, चिड़िया, घोसला, चिड़िया के बच्चे, पहाड़, फूल, नदी आदि दिखाई दे रहे हैं। इसके बाद बच्चों के साथ 'घर' को लेकर बात हुई कि 'घर क्या होता है?' इस पर बच्चों ने

बहुत ज़्यादा जवाब तो नहीं दिए– वे केवल यही बता पाए कि जहाँ हम और मम्मी पापा रहते हैं, घर में खेलते भी हैं, आदि। बच्चों के अनुभवों को सुनने के बाद उनसे पाठ में बने चित्रों के बारे में बातचीत हुई– इनमें किस-किसके घर के चित्र बने हुए हैं? चिड़िया का घर कहाँ है– सभी ने कहा, "पेड़ पर!" फिर, चर्चा हुई कि अगर कोई चिड़िया मकान में या आले या कहीं और रहती है तो उसको क्या कहेंगे, और वह वहाँ क्यों रहती है। कुछ बच्चों को समझ में आ गया कि जैसे हमारा घर मकान है वैसे ही चिड़िया का घर उसका घोसला होता है, गाय का घर गौशाला होता है और ऐसे ही मछली का घर पानी में होगा। चित्रों पर बात करने के बाद बच्चों ने घर और पेड़ पर चिड़िया के घोसले का चित्र बनाया। सभी बच्चों को यह भी समझ में आ गया था कि जो जहाँ रहते हैं, वह उनका घर होता है। जैसा चित्र में भी दिखाई दे रहा था। इस बातचीत के बाद मुझे महसूस हुआ कि बच्चों को यह अवधारणा समझ में आ गई थी कि घर क्या होता है।

छुट्टियों के अनुभवों के माध्यम से बातचीत के अवसर

बच्चों के साथ उनके अवकाश के दिनों के बारे में भी बात करना ज़रूरी है क्योंकि वे जब लम्बी छुट्टियाँ बिताकर स्कूल आते हैं, तो बहुत उत्सुक रहते हैं कि शिक्षक उनसे पूछे कि उन्होंने अपनी छुट्टियाँ कैसे बिताईं। यह एक अच्छी गतिविधि रहती है, जिसमें बच्चों से उनकी छुट्टियों पर बात की जाए। गर्मियों की छुट्टियों के बाद जब स्कूल खुला तो सभी को यह काम दिया गया कि वे छुट्टियों के अपने-अपने समय के बारे में लिखेंगे– गर्मी की छुट्टी कैसे बीती? किसने क्या-क्या किया? कहाँ-कहाँ घूमने गए? इत्यादि। बच्चों ने अपने अनुभवों को लिखकर दर्ज किया। जिन्हें लिखना नहीं आता था, उन्होंने चित्र बनाकर और मौखिक तौर पर बताया।

रोहित दिल्ली गया था तो उसने दिल्ली में कमल मन्दिर देखा और बहुत जगह घूमने गया और रेस्टोरेण्ट में खाना भी खाया–यह सभी को बताया और फिर उसको लिखा। मनीषा कोलकाता गई थी तो उसने कोलकाता के बारे में और अपनी मौसी की बेटी की शादी के बारे में बताया। नीरज कक्षा 2 में पढ़ती है। वह जब भी कुछ लिखती है तो उसमें घर का काम और घर में अक्सर मार पड़ने का ज़िक्र ज़रूर होता है। राजकुमार और कुछ बच्चों ने एक सड़क दुर्घटना के बारे में बताया, जिसमें एक बस और बोलेरो की टक्कर हो गई थी और बसवाला बस छोड़कर भाग गया। बोलेरोवाला लगभग एक घण्टे तक तड़पता रहा, पर उसे कोई अस्पताल नहीं ले गया और उसने वहीं पर दम तोड़ दिया।

इसके बाद, बच्चों से बात की गई कि सड़क पर सतर्क होकर चलना चाहिए। अगर किसी भी तरह की सड़क दुर्घटना देखें, तो तुरन्त 108 को फ़ोन करना चाहिए। बच्चों से इन सारे विषयों पर बातचीत की जानी चाहिए, जिससे वे समाज के संवेदनशील, जागरूक और ज़िम्मेदार नागरिक बन सकें। सर्दियों की छुट्टियों के बाद भी बच्चों ने अपने अनुभव बताए। इस बार छुट्टियों को लेकर बच्चों का कहना था कि इतने दिन की छुट्टियाँ नहीं होनी चाहिए, वे घर पर बोर हो जाते हैं और इतनी ठण्ड में घर का काम भी करना पड़ता है।

मान्यताओं के माध्यम से बातचीत के अवसर

बच्चों के साथ बातचीत में उन्हें यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि वे जो भी जानते हैं, उसमें सही और ग़लत दोनों ही बातें हो सकती हैं। कई बार बच्चे सुनी-सुनाई बातों पर बहुत अधिक विश्वास कर बैठते हैं– उन्हें लगता है कि वे जो कह रहे हैं वह बिल्कुल सही है। दिसम्बर 2016 में, क्रिसमस के आसपास सभी कक्षाओं के बच्चे मेरे पास आए और एक काग़ज़ दिखाकर कहने लगे, "मैडमजी, इसमें हस्ताक्षर कर दो!" जब मैंने उनकी कॉपी देखी तो उसमें बच्चों ने अपने सहपाठियों, अपने आसपास के लोगों और कुछ शिक्षकों के हस्ताक्षर करवाए थे। जब बच्चों

से पूछा कि तुम्हें यह हस्ताक्षर क्यों चाहिए, तो बच्चों ने बताया कि वे इन्हें क्रिसमस की रात तकिये के नीचे रखेंगे, जिससे सैण्टाक्लॉज़ आएगा और उनकी जो भी इच्छा होगी वह पूरी कर देगा; इसलिए जितने ज़्यादा हस्ताक्षर होंगे उतना अच्छा है।

यह बात सुनने में तो बहुत सामान्य सी लगती है कि बच्चे तो ऐसा करते ही हैं, परन्तु बच्चों से इस तरह की मान्यताओं पर बात करना ज़रूरी हो जाता है। उस समय तो मैंने बच्चों को मना कर दिया और कहा कि जब मैं कक्षा में आऊँगी तब हम इस पर बात करेंगे और तब मैं हस्ताक्षर भी कर दूँगी। यह कक्षा 3 के बच्चे थे। जब उनकी कक्षा में जाना हुआ तो मैंने सैण्टाक्लॉज़ पर बात से कक्षा की शुरुआत की। बच्चों से पूछा, "जो आपने कहा, क्या वह सचमुच होता है? कौन-कौन मानता है कि सैण्टाक्लॉज़ होता है? अभी तक कितने बच्चों के साथ ऐसा हुआ कि आप क्रिसमस की सुबह उठे और आपको गिफ़्ट मिले हों? या आपकी कोई इच्छा पूरी हुई हो?" इस पर बच्चों ने बताया कि उनके दोस्त कह रहे थे कि उन्हें मिला है। जब यह बात हुई कि उनमें से किसी को मिला होतो बताएँ, तब ज़्यादातर दूसरों का ज़िक्र करने लगे कि यह कह रहा था, वह कह रहा था। जब मैंने उनसे पूछा कि क्या गिफ़्ट मिलता है, तो बच्चों ने कहा कि चॉकलेट, टॉफ़ी, खिलौने आदि। फिर दूसरा सवाल किया कि सैण्टाक्लॉज़ कहाँ से यह सबकुछ लेकर आता है, तो कुछ बच्चों का कहना था कि फ़ैक्ट्री से लेकर आता है और आसमान से नीचे फेंकता है, आदि। कभी-कभी तो बच्चे मनगढ़न्त बातें भी बताने लगते थे। फिर, आपस में ही कुछ बच्चों का कहना था कि ऐसा कुछ नहीं होता है, सैण्टाक्लॉज़ के वेश में कोई इंसान ही होता है। अगर वो आसमान से गिफ़्ट फेंकेगा तो गिफ़्ट टूट भी सकता है।

इसके बाद, हमने त्यौहारों पर बातचीत करते हुए यह चर्चा की कि जैसे हम दीपावली या कोई और त्यौहार मनाते हैं, वैसे ही इसाई समुदाय के लोग क्रिसमस मनाते हैं। वे जिनसे प्यार करते हैं उन्हें गिफ़्ट देते हैं, ख़ुशियाँ मनाते हैं, आदि। हमारे मम्मी-पापा भी हमसे प्यार करते हैं और हमें कुछ गिफ़्ट करते हैं, तो क्या वे भी हमें ऐसा कहते हैं कि पहले 100 लोगों के हस्ताक्षर करके लाओ, फिर आपको गिफ़्ट मिलेगा। फिर बच्चों से बात हुई कि हमने जो भी सुना है उसका मतलब यह क़तई नहीं है वह सब सही हो। जो भी आपसे इस बारे में बात करता है उससे पूछो, बात करो और फिर वही करो जो आपको सही लगता है। इस बात पर सभी बच्चे सहमत थे।

> बच्चों के साथ बातचीत के लिए ज़रूरी है कि हमारी पूर्व-योजना हो : हमें बच्चों के साथ क्या बात करनी है, सवालों की प्रकृति कैसी हो, सवालों में खुलापन हो और बच्चों के जवाबों को सवाल में बदला जाए ताकि बातचीत को विस्तार दिया जा सके। इससे बातचीत को दिशा देने में मदद मिलती है।

बच्चों के साथ बातचीत के बाद मैंने महसूस किया कि अगर उनकी इन मान्यताओं को चुनौती दी जाए तो उन्हें सोचने का नया नज़रिया मिलता है। बातचीत को कक्षा शिक्षण का माध्यम बनाने से बच्चों को कक्षा शिक्षण से जोड़ने में काफ़ी मदद मिल पाई और सीखना सार्थक हो सका। छोटी कक्षाओं के बच्चों के मामले में यह भी ज़रूरी हो जाता है कि वे कक्षा में जो भी करते हैं उसमें उन्हें सीखने के साथ-साथ ख़ुशी भी मिले।

कक्षा में बच्चों के साथ बातचीत के लिए सम्भावित रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है–

- बच्चों के साथ बातचीत के लिए ज़रूरी है कि हमारी पूर्व-योजना हो : हमें बच्चों के साथ क्या बात करनी है, सवालों की प्रकृति कैसी हो, सवालों में खुलापन हो और बच्चों के जवाबों को सवाल में बदला जाए ताकि

बातचीत को विस्तार दिया जा सके। इससे बातचीत को दिशा देने में मदद मिलती है।

- बच्चों के साथ उनके अनुभवों, सन्दर्भों पर बातचीत करनी चाहिए। इससे बच्चे संवाद के साथ जुड़ते हैं और अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। जब बच्चों को सन्तोषजनक जवाब नहीं मिल पाता तो वे चर्चा में शामिल नहीं होते हैं।
- बच्चों के साथ रिश्ता भी बातचीत की एक प्रमुख आधारशिला हो सकती है। जब बच्चों के साथ रिश्ता गहरा होता है तो बच्चे बिना झिझक शिक्षक के पास अपनी समस्याओं के समाधान के लिए आते हैं, जिससे आगे की बातचीत शुरू की जा सकती है।
- कक्षा में बच्चों के परिवेश पर बातचीत करने से उनकी भाषा समृद्ध होती है और उन्हें एक दूसरे के अनुभवों से सीखने के मौक़े मिलते हैं। जब एक दिन बच्चों ने काग़ज़ बनने की प्रक्रिया पर कक्षा में चर्चा की, तो उनसे इस बारे में अपने आसपास से पता करके आने को कहा गया। काग़ज़ कैसे बनता है– इससे जुड़ी सभी जानकारी बच्चे स्वयं ही जुटा कर लाए थे। अतः, कक्षा में परिवेश पर बातचीत भी एक महत्त्वपूर्ण औज़ार हो सकता है।
- बच्चे जब किसी भी समस्या के विभिन्न पहलुओं से परिचित होते हैं तो उनमें अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने व दूसरों की बात सुनने की क्षमता बढ़ती है और साथ ही उनका शब्द भण्डार भी बढ़ता है। यानी किसी भी समस्या के विभिन्न पहलुओं से भी बातचीत की शुरुआत की जा सकती है।

अतः, कक्षा शिक्षण के अनुभव से यह समझ बनी कि बच्चों के साथ बातचीत एक प्रभावकारी 'शिक्षण सहायक सामग्री' है, जिसे कक्षा में भरपूर उपयोग किया जाना चाहिए। वैसे तो हर कक्षा, भाषाई दृष्टि से, मौखिक भाषा से हमेशा ही लबरेज़ होती है, किन्तु हम उसका सार्थक उपयोग कैसे करें यह समझने की ज़रूरत है– यानी मौखिक भाषा को बातचीत के रूप में बदलते हुए, कक्षा में बच्चों के सीखने की चुनौतियों को कम करने की दिशा में प्रयास किया जाए। कक्षा में बातचीत के द्वारा बच्चों को किसी विषय पर तर्क-वितर्क करने के पूरे मौक़े भी देने चाहिए, जिससे उनकी मान्यताओं को चुनौती मिले, वे सही-ग़लत का निर्णय करने में सक्षम हो पाएँ और संवैधानिक मूल्यों को समझने की कोशिश कर पाएँ।

सन्दर्भ

हॉल्ट, जॉन (2006), *असफल स्कूल* (हिन्दी रूपान्तरण), एकलव्य प्रकाशन।

बधेका, गिजू भाई, *दिवास्वप्न*, बाल कल्याण समिति।

मैथ्यूज़, गैरथ बी. (1996), *बच्चों से बातचीत,* ग्रन्थ शिल्पी प्रा.लि.।

कृष्ण कुमार (2008), *बच्चे की भाषा और अध्यापक*, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।

सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण मॉड्यूल 2012-13, सरोकार।

सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण मॉड्यूल 2014-15, मंथन।

सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण मॉड्यूल 2016-17, अर्जन।

एनसीएफ, 2005।

रिमझिम : भाग 2 (2010), कैसे पढ़ाएँ, शिक्षक संदर्शिका, एनसीईआरटी।

सुनीता दो दशक से भाषा शिक्षण के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में उत्तराखण्ड के उधम सिंह नगर में भाषा स्रोत व्यक्ति के रूप में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : sunita1@azimpremjifoundation.org

‘मैं शिक्षक रहा हूँ’ इस बात का मुझे फ़ख्र है

फूलचन्द्र जैन से गुरबचन सिंह की बातचीत

यह साक्षात्कार बुन्देलखण्ड के कस्बाई सरकारी विद्यालयों में तक़रीबन तीन दशक तक अध्यापक और प्रधान अध्यापक के रूप में कार्य करने वाले शिक्षक फूलचन्द्र जैन के शैक्षिक अनुभवों का विवरण प्रस्तुत करता है। इस बातचीत में हम शिक्षक की दृष्टि से बचपन, सीखने-पढ़ने के तरीक़ों और प्रभावी शिक्षक-प्रशिक्षण की समस्याओं व सुझावों और अच्छे शिक्षक की जवाबदेही जैसे मसलों को देख-समझ पाते हैं। सं.

सवाल : आपने तक़रीबन 40 साल सरकारी स्कूलों में छोटे बच्चों को सिखाने-पढ़ाने का काम किया है। लेकिन जब आप बच्चे थे, यानी पचास के दशक के शुरुआती वर्षों में, आपके अपने बचपन और पढ़ाई-लिखाई के अनुभव क्या रहे, इसके बारे में कुछ बताएँ?

फूलचन्द्र : मुझे याद है कि मेरा पूरा बचपन अपने और मामा के गाँव में ही बीता है। उस समय माँ-बाप पर हमारी पढ़ाई-लिखाई को लेकर कोई तनाव नहीं था, इसलिए उस ज़माने के बच्चे आज की तुलना में बहुत ज़्यादा आज़ाद रहते थे। परिवार साझा थे, फिर भी रोका-टोकी बहुत कम थी। ननिहाल में माँ के साथ आना-जाना लगा रहता था। वहाँ भी दिनभर खेलना-कूदना, ऊधम मचाना था। दोनों जगह, जगह की भरमार थी। गली में खेलो, चबूतरों पर खेलो, आँगन में खेलो, घर में छुपो या बाहर मैदान में, कहीं कोई कुछ कहने वाला नहीं था। माँ-बाप को सुबह से शाम तक घर के और रोज़गार के कामों से फ़ुर्सत ही नहीं थी।

सवाल : आपने अपने बचपन का जो विवरण दिया है वह ग्रामीण जीवन के बहुत ही उन्मुक्त और आज़ाद बचपन का दृश्य प्रस्तुत करता है। आपकी आज के बचपन के बारे में क्या राय है और यह किस मायने में आपके ज़माने के बचपन से फ़र्क़ है?

फूलचन्द्र : आज तो बचपन रह ही नहीं गया है। हमारे बचपन में संयुक्त परिवार थे, इस कारण बच्चे की परवरिश के लिए परिवार के अन्य सदस्य उपलब्ध होते थे। वे उन्हें भरपूर प्यार देते थे। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बच्चों की देखभाल करते थे और उन्हें स्वतंत्र भी छोड़ देते थे। बच्चे अपने मन से बहुत सारे काम कर लेते थे, चीज़ें उठाकर इधर-उधर रख सकते थे, अपने हम उम्र साथियों के साथ बाहर पूरी आज़ादी से खेलकूद सकते थे। किसी तरह की बन्दिशें नहीं थीं। पारिवारिक व्यस्तता के चलते बच्चों पर ध्यान भी कम रहता था कि वे क्या कर रहे हैं और क्या नहीं?

आज मोबाइल फ़ोन और टेलीविज़न माता-पिता के रास्ते बचपन में घुस आए हैं। आउटडोर गेम अधिकांश बच्चों के जीवन से विदा हो गए हैं। आज तीन साल का बच्चा होमवर्क के तनाव में बड़ा हो रहा है। बच्चे माँ-बाप से प्रोजेक्ट कार्य कराने की चिन्ता में घुले जा रहे हैं। पढ़ाई में परिवार और मुहल्ले के दूसरे हमउम्र बच्चों से तुलना ने उनसे बचपन की खुशियाँ छीन ली हैं।

आज बचपन की अवस्था और बाल समुदाय एक बड़े बाज़ार के रूप में उभर रहा है। आज माता-पिता बच्चों के माध्यम से अपनी महत्त्वकांक्षाएँ पूरी करना चाहते हैं और उन्हें ज़िम्मेदारी निभाने के लिए समय से पहले तैयार होते देखना चाहते हैं। यही वजह है आज के बचपन में स्वतंत्र रूप से खेलने, कुछ बनाने, गढ़ने, तोड़ने और रचने की जगह लगभग ख़त्म हो गई है, और इनकी जगह दबाव, तनाव, डर और असुरक्षा ने ली है।

सवाल : यह तो हुई बचपन की बात, अपने शुरुआती स्कूली जीवन, पढ़ाई-लिखाई के बारे में कुछ ऐसा बताएँ जिससे उस ज़माने की शिक्षा की एक झलक मिल सके ?

फूलचन्द्र : मैं 1954 में आठ साल की उमर में अपने गाँव के सरकारी स्कूल में पहली कक्षा में भरती हुआ। उस ज़माने में स्कूल के बस्ते में स्लेट-बत्ती और आठ पन्ने की पहाड़े की किताब हुआ करती थी। स्कूल जाने से पहले और बाद में सिर्फ़ खेलना होता था, पूरी पढ़ाई स्कूल में ही हो जाती थी।

जब मैं स्कूल में भरती हुआ उस समय वहाँ मात्र एक शिक्षक थे जिनकी उम्र तक़रीबन बीस-इक्कीस साल थी। वे कक्षा आठ पास थे और उनको लगभग 55-60 रुपए पगार मिलती थी। वे गाँव में ही रहते थे, एक कमरे के कच्चे मकान में। अपनी दाल-रोटी ख़ुद बनाते थे। कुछ माता-पिता अपने बच्चे का नाम पहली बार स्कूल में लिखवाने पर मास्साब को 'सिद्धा' यानी आटा, दाल, नमक, मिर्च, हल्दी, धनिया एक थाली में रखकर घर पर दे आते थे। यह एक तरह का शाला में बच्चे के प्रवेश का संस्कार हुआ करता था।

उस समय स्कूल में कक्षा एक से पाँच तक कुल 15 से 20 बच्चे रहे होंगे। हर कक्षा में चार या पाँच बच्चे। ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य और किसानों के बच्चे एक लाइन में और हरिजन बच्चे दूसरी लाइन में ज़मीन पर बैठते थे।

हम सब बच्चों के पास काले पत्थर की स्लेटें थीं। उसपर बत्ती से लिखा जाता था। कक्षा- एक में 'पहाड़िया' की आठ पन्नों की एक किताब, स्लेट और बत्ती बस्ते में होती थी। 'पहाड़िया' में वर्णमाला, गिनती, पौउआ, अद्दा, पौना, सवैया, डेवढ़िया के पहाड़े और इकाई, दहाई, सैकड़ा छपे रहते थे, जिसकी नक़ल हम छात्र अपनी स्लेट पर सबक़ अनुसार उतारा करते थे। कुछ बच्चों की स्लेटें इतनी चिकनी और काली हुआ करती थीं कि उस पर लिखे वर्ण और अंक चिरौंजी जैसे दिखते थे। ऐसी लिखी हुई सारी स्लेटें मास्साब की एकमात्र टेबल पर एक के ऊपर एक कक्षावार रख दी जाती थीं। जाँचते समय मास्साब किसी एक कक्षा के सारे बच्चों को अपने पास बुलाते, सभी मास्साब की टेबल घेरकर खड़े हो जाते। बच्चा, मास्साब के कहने पर स्लेट से पढ़ता या मौखिक सुनाता। सही होने पर स्लेट पर सही का निशान लगाकर बच्चे को लौटा दी जाती। ग़लत होने पर कान उमेठा जाता या पीठ पर मुक्का पड़ता। कभी-कभी 'बुद्धि प्रकाश' यानी डण्डे का प्रयोग भी होता।

हम बच्चों में से कुछ की पत्थर की स्लेटें इतनी पुरानी थीं कि उनका इस्तेमाल उनके परिवार के अन्य बच्चे भी पहले कर चुके थे। अब बिना लकड़ी वाली चौखट की स्लेट को सम्भालकर रखना एक सांस्कृतिक काम था।

इण्टरवल में बच्चे अपने घर खाना खाने आते थे। खाना खाने की छुट्टी में मास्साब स्कूल में रहते थे। कभी स्कूल की पट्टी पर लेट जाते थे। बच्चों के शोरगुल से उनकी आँख खुलती थी। इण्टरवल के बाद कोई एक लड़का चिल्लाकर बारहखड़ी, गिनती या पहाड़े बोलता, शेष दोहराते और यह सिलसिला पूरी छुट्टी होने तक चलता था।

मास्साब की टेबल पर 'बुद्धि प्रकाश' यानी डण्डा विद्यालय की क्यारियों में लगे कपास के पौधों में से पतली सटक तुड़वाकर रखा जाता था। सटक हथेली पर पड़ती तो आह निकलकर

रह जाती। कितनी सटक पड़नी हैं, मास्साब ही जानते थे। पीटने का सिलसिला रोज़ाना का था। जो पिटाई से बच जाता उसका घमण्ड देखने लायक होता था। कुछ लड़के जिनका पिटना आज निश्चित होता था वे स्कूल आने से पहले अपनी हथेलियों पर नीबू का रस मलकर आते थे। मास्साब द्वारा मारी गई सटक का असर नीबू के लेप से कुछ बढ़ जाता था जिसे घर पर दिखाकर सहानुभूति बटोरने की जुगत रहती थी। परन्तु कोई भी अभिभावक अपने बच्चे के पिटने की शिकायत मास्साब से नहीं करता था। घर के बड़े लोग मास्साब से यह कहकर ज़रूर आते थे, "ऐसो करियो मास्साब के बच्चा दो आखर सीख ले, इसके लिए मार भी लगाना पड़े तो लगाइयो", "मांस-मांस तुमाओ, हड्डी हमाई।" मतलब मास्साब बच्चों को इतना पीट सकते हैं कि उनकी हड्डी भर न टूट जाए, मांस पर चोट सहन की जा सकती है। एक प्रकार से पढ़ाई की ख़ातिर बच्चों की पिटाई को सामाजिक स्वीकृति मिली हुई थी।

छठवीं में पढ़ने के लिए मुझे बड़ागाँव धसान नामक कस्बे की पूर्व माध्यमिक शाला में प्रवेश लेना था जो उस समय इस इलाक़े की एकमात्र पूर्व माध्यमिक शाला थी। मैंने बड़ागाँव में छठवीं में प्रवेश लिया। यह हमारे गाँव से पगडण्डी के रास्ते 6 किलोमीटर से ज़्यादा ही था। जुलाई और अप्रैल में स्कूल सुबह 7 से 12 बजे तक लगता था। आप ही सोच लीजिए कि सुबह 6 किलोमीटर पैदल चलकर, वह भी नंगे पाँव 7 बजे विद्यालय पहुँचना और 12 बजे छुट्टी होने पर पैदल घर वापिस आना कितनी मेहनत का काम रहा होगा। कल्पना कीजिए अप्रैल माह में 12 बजे की धूप में नंगे पाँव ततुरी यानी गरम पगडण्डी से घर आना! खाने के लिए रोटी-अचार, रोटी-गुड़ कपड़े में बाँधकर घर से ले जाते थे।

सवाल : आपने पचास के दशक के अपने छात्र जीवन का जो विवरण दिया है वह एक तरह से ग्रामीण समाज— जिसमें बच्चे और शिक्षक भी शामिल हैं— के अभाव और संघर्ष का जीवन प्रस्तुत करता है। आप आज पचास साल बाद भी ग्रामीण समाज और शिक्षा में क्या बदलाव देखते हैं ?

फूलचन्द्र : बीते पचास सालों में प्रारम्भिक शिक्षा में बहुत सारे बदलाव हुए हैं। विशेष रूप से 1986 की नई शिक्षा नीति और ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड के माध्यम से स्कूलों में भौतिक सुविधाएँ और शिक्षकों की संख्या बढ़ी है। ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम और सर्व शिक्षा अभियान की परियोजनाएँ लागू होने से भी शिक्षकों की सोच में परिवर्तन आया है। निशुल्क गणवेश, निशुल्क पाठ्यपुस्तकें, मध्याह्न भोजन और वजीफ़ा मिलने से भी ग्रामीण बच्चों की शिक्षा में सुधार हुआ है, ख़ासकर नामांकन और उपस्थिति बढ़ी है। कुछ व्यवस्थाएँ भी सुधरी हैं।

लेकिन कुछ दुष्परिणाम भी सामने आए हैं। संविदा शिक्षकों की नियुक्ति से पहले के नियमित शिक्षकों के वेतन बढ़ने से उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। जिससे उन्होंने अपने आवास से ग्रामीण पदांकित शाला तक आने-जाने के लिए निजी वाहन की सुविधा जुटा ली है या उन्हें अन्य साधन उपलब्ध होने लगे हैं। इससे शिक्षकों ने पदांकित स्कूल के गाँव में रहना बन्द कर दिया है और अप-डाउन करने लगे हैं, जिससे शाला में पढ़ाई के घण्टे कम होने लगे हैं। गाँव में स्थाई रूप से न रहने से उनका लगाव भी बच्चों और स्थानीय समुदाय से धीरे-धीरे ख़त्म-सा होता जा रहा है। ग्रामवासियों के लिए शिक्षक अब एक तरह से बाहरी व्यक्ति हो गया है। सुदूर ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षक जैसे सम्माननीय और पढ़े-लिखे व्यक्ति के न रहने से गाँव में होने वाले बदलाव पर भी नकारात्मक असर हुआ है। शिक्षक और अभिभावकों के अपनेपन रिश्ते भी प्रभावित हुए हैं।

कक्षाओं में बच्चों की संख्या बढ़ने के साथ ही शिक्षक का बच्चों से मेल-मिलाप और घनिष्ठता भी कम हुई है। कक्षा और स्कूल के वातावरण में जो एक तरह की तसल्ली थी और शिक्षक व बच्चे अपने मन से काम करते थे उसकी जगह भी छीजती जा रही है।

सवाल : यह तो हुई सीखने–पढ़ने की बात। शिक्षकों की तैयारी में शिक्षक–प्रशिक्षण की महती भूमिका है। सत्तर के दशक में आपको जो सेवापूर्व प्रशिक्षण दिया गया उसका स्वरूप कैसा था? वह कितना उपयोगी था?

फूलचन्द्र : 1974 में मेरा चयन छात्र-अध्यापक के रूप में बीएड प्रशिक्षण के लिए किया गया था। यह हमारा सेवा पूर्व प्रशिक्षण था। उस ज़माने में अप्रशिक्षित सहायक शिक्षक, शिक्षक और व्याख्याता प्रशिक्षण लेने के लिए सरकारी खर्च पर भेजे जाते थे। मैं भी भेजा गया। प्रशिक्षण में सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों पक्ष थे। दोनों पक्षों में पढ़ाने वाले प्रशिक्षक थके हुए व समय काटने वाले लगे। उस समय उन्होंने कोई भी उपयुक्त शिक्षाशास्त्रीय रचना पढ़ने को प्रोत्साहित नहीं किया, न ही पाठ योजना में कोई नवाचार करने या नवाचार को प्रोत्साहित करने के लिए प्रेरित किया। इसलिए हम सभी शिक्षक अपने चुने हुए विषय अनुसार पिछले साल के प्रशिक्षणार्थियों की पाठ योजना की कॉपियाँ लेकर उनसे नक़ल कर पाठ योजना उतार लेते थे, जिन्हें हमारे विषय प्रशिक्षक सही का निशान लगाकर वापिस सौंप देते थे। इनसे हम प्रायोगिक पाठों के दौरान कक्षाओं में पढ़ाते थे। इस तरह प्रशिक्षण की औपचारिकता पूरी करके और परीक्षा पास करने के बाद फिर से नए विद्यालय में पदांकन कर दिया जाता था।

सवाल : आजकल भी शिक्षक–प्रशिक्षण को लेकर हमेशा बहुत सवाल उठाए जाते हैं, ख़ासकर प्रशिक्षण की प्रासंगिकता और गुणवत्ता को लेकर। यदि शिक्षण–प्रशिक्षण की प्रक्रिया में बदलाव करने का कोई मौक़ा आपको मिले, तो आप क्या बदलाव करना चाहेंगे?

फूलचन्द्र : मुझे शिक्षक-प्रशिक्षण की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह लगती है कि यह परीक्षा केन्द्रित प्रशिक्षण पर ज़ोर देता है। जो दिया जाता है उसे प्रशिक्षण भी नहीं कहा जा सकता। वह एक प्रकार का शिक्षण ही होता है। जैसे स्कूल में शिक्षक बच्चों को पढ़ाता है बिलकुल वैसा ही। उसमें मुझे कभी भी बौद्धिक सन्तुष्टि नहीं मिली। 27-28 साल का नौजवान कुछ जानना चाहता हो और उसकी जिज्ञासा को शान्त करने के स्थान पर झिड़की मिले तो प्रतिभा कुन्द होगी ही। आज भी शिक्षक-प्रशिक्षण की भूमिका इतनी पुरानी और कमज़ोर है कि अन्य विज्ञानों से तुलना ही नहीं की जा सकती। नवाचारों के लिए न तो स्थान है, न समय, और न ही धैर्य।

अगर शिक्षक-प्रशिक्षण की प्रक्रिया में कोई बदलाव करने का मौक़ा मुझे मिले तो मैं इसके पहले शिक्षक चयन की प्रक्रिया में ही बदलाव लाना चाहूँगा। प्रशिक्षण को पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तक और केन्द्रीकृत परीक्षा प्रणाली के त्रिभुज से निकलना होगा। पाठ्यचर्या को पूरा करने के लिए पाठ्यपुस्तक की अनिवार्यता से निकलना होगा। पाठ्यपुस्तक की परिधि से बाहर आकर शिक्षकों में ज्ञान विकसित करने का सामर्थ्य पैदा करना होगा। इसके लिए प्रबुद्ध व क्षमतावान प्रशिक्षकों की ज़रूरत होगी। जब इस तरह का प्रशिक्षण ऊपर से नीचे की तरफ़ आना शुरू होगा तभी हम साक्षरता से शिक्षा की ओर बढ़ना शुरू करेंगे और तभी हम सही दिशा में बदलाव की बात सोच सकते हैं।

आप जानते ही हैं कि परीक्षा केन्द्रित शिक्षक-प्रशिक्षण, शिक्षक की स्वतंत्रता को घण्टियों में सीमित कर देता है। शिक्षक अपनी शिक्षण पद्धति की गति को अपने कालखण्ड के अनुरूप निर्धारित नहीं कर सकता। साथ ही शिक्षण के अतिरिक्त विद्यालय के अन्य कार्यों का बोझ उसकी कार्य क्षमता को सीमित कर देता है। एक शीर्षक या पाठ को पढ़ाने के लिए जितना समय शिक्षक को अपने लिए चाहिए उतना समय स्कूल की दिनचर्या उसे प्रदान नहीं करती। अगर उसे वांछित समय मिल जाए तो अगले पाठों को जब छात्र पढ़ेंगे तो उनके पास पहले पढ़े पाठों की पृष्ठभूमि होगी जिसके आधार पर वह अगले पाठ को ख़ुद समझने का प्रयास कर पाएँगे।

सवाल : तो आप यह कह रहे हैं कि परीक्षा केन्द्रित शिक्षक–प्रशिक्षण को बेहतर बनाने की बहुत सारी

चुनौतियाँ हैं। ऐसी परिस्थिति में औपचारिक शिक्षक–प्रशिक्षण के अलावा सेवा काल के दौरान शिक्षकों की क्षमता संवर्धन के और क्या–क्या तरीक़े हो सकते हैं ?

फूलचन्द्र : शिक्षकों की क्षमता संवर्धन के लिए संकुल और विकास खण्ड स्तर पर शिक्षा के विभिन्न विषयों पर प्रति माह एक या दो दिवसीय सुविचारित शिक्षा विमर्श आयोजित किए जा सकते हैं, जिसमें सभी शिक्षकों की तैयारी के साथ भागीदारी अनिवार्य हो। बच्चों को पढ़ाने के दौरान शिक्षक बच्चों के साथ मिलकर विभिन्न विषयों के कौशल विकसित करने वाली विषय आधारित परियोजनाओं / असाइंमेंट आदि की योजना बनाकर उसपर काम करें और अपने अनुभवों को अन्य शिक्षक साथियों के साथ साझा करें। ऐसे अवसर बनाए जाएँ कि हर शिक्षक माह में कम से कम दो ऐसी किताबें ज़रूर पढ़ें जिनसे उन्हें बच्चों को पढ़ाने में मदद मिल सके। स्कूल, संकुल और विकास खण्ड पुस्तकालयों को सम्पन्न बनाया जाए और शिक्षकों को पुस्तकें पढ़ने के लिए समय दिया जाए। क्षमता संवर्धन के प्रयास विभाग के साथ-साथ शिक्षकों द्वारा स्वयं भी किए जाने चाहिए क्योंकि यह उनकी ज़िम्मेदारी है कि वे अपने प्रोफेशन में हमेशा अपडेट रहें।

कुल मिलाकर यदि संकुल और विकास खण्ड केन्द्र, संसाधन और अकादमिक रूप से सक्षम बनें तो शिक्षकों के क्षमता संवर्धन के प्रयास लगातार चल सकते हैं।

सवाल : क्या आपको लगता है कि शिक्षक स्वयं अपनी क्षमता संवर्धन के लिए चिन्तित हों और प्रयास करें और क्या इसके लिए कोई नीतिगत या व्यवस्थागत पहल की जा सकती है जो इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करे या उन पर दबाव बनाए ?

फूलचन्द्र : हाँ, शिक्षकों को निरन्तर अपनी क़ाबिलीयत बढ़ाने के लिए लगातार कोशिश करना चाहिए क्योंकि यह उनकी पढ़ाने की ज़िम्मेदारी में शामिल है।

ऐसे कुछ प्रावधान शिक्षा विभाग में पहले से हैं हालाँकि इनमें कुछ ख़ामियाँ भी हैं और इनकी आलोचना भी होती है। जैसे किसी शिक्षक द्वारा सेवाकाल के दौरान पीएचडी करने पर उसे दो वेतन वृद्धियाँ देने की व्यवस्था है, लेकिन यह व्यवस्था कितनी पारदर्शी, ईमानदार और प्रभावशाली है इसको लेकर संशय है। इसी तरह हर साल प्रदेश में कुछ प्रतिभाशाली और क्षमतावान शिक्षकों को शिक्षक दिवस पर राज्य और राष्ट्रीय शिक्षक सम्मान दिए जाते हैं। राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त शिक्षक को पदोन्नति का प्रावधान है जबकि राज्य स्तरीय सम्मान प्राप्त व्यक्ति की वेतन वृद्धि का। लेकिन कई बार सम्मान के लिए चुने गए शिक्षकों की योग्यता पर सवाल उठाए जाते हैं।

मुझे याद है कि हमारे समय में एक और महत्त्वपूर्ण नीतिगत प्रावधान था जो अब ख़त्म कर दिया गया है वह था 'दक्षता अवरोध' (Efficiency bar)। शिक्षक लगातार अपनी क़ाबिलीयत बढ़ाते रहें और आचरण अच्छा बना रहे इसके लिए शिक्षक के वेतनमान में कुछ सालों की वेतन वृद्धि के उपरान्त 'दक्षता अवरोध' (Efficiency bar) का प्रावधान था। यह स्थिति आने पर शिक्षक के पिछले सालों के शिक्षकीय कार्य की उत्तमता के आधार पर वरिष्ठ अधिकारी द्वारा 'दक्षता अवरोध' को हटाने का प्रमाण-पत्र दिया जाता था, उसके बाद ही शिक्षक को अगली वेतन वृद्धि मिलती थी। लेकिन यह ज़्यादा समय चला नहीं। मुझे लगता है आज की परिस्थितियों में इसमें सकारात्मक व्यवहारिक पहलू जोड़ते हुए पुनः लागू करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं।

सवाल : आपकी राय में एक अच्छे शिक्षक को क्या–क्या करना चाहिए ?

फूलचन्द्र : मेरी नज़र में एक अच्छा शिक्षक वह है जो स्कूल में समय पर पहुँचे, पूरे समय वहाँ रहे, कक्षाओं में जाए, पढ़ाए और प्रयोग कराए, बच्चों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। उपस्थिति रजिस्टर में अपने झूठे हस्ताक्षर न डाले। अपने

विषय की तैयारी करके कक्षा में जाए। उसे अध्ययन करते रहने की आदत हो। साथी शिक्षकों से पढ़ने-पढ़ाने पर बातचीत करने की आदत हो। सरकारी नौकरी में काम करने का घमण्ड न हो। स्कूल में पहनावा शालीन हो। ग्रामीणों के साथ सौहार्दपूर्ण चर्चा करे। अपने शैक्षणिक कार्य का स्वाभिमान हो। मैंने ऐसा अपने साथ पाया है। "मैं शिक्षक रहा हूँ" इस बात का मुझे फ़ख़्र है।

मैंने अपने आप को अपने स्कूल के प्रति हमेशा पूरी तरह से ज़िम्मेदार माना। वहाँ की तारीफ़ या बुराई के लिए मैं ज़िम्मेदार हूँ। गाँव के अन्य लोगों की तुलना में मेरी मासिक आय कई गुना ज़्यादा है। इसलिए मुझे गाँव के स्कूल और बच्चों के लिए ग्रामीणों से ज़्यादा काम करना चाहिए, ऐसा माना और करने की कोशिश की। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीणों की मेरे बारे में अच्छी राय बनना शुरू हो गई और जो लगातार विश्वास में बदलती गई। उपलब्ध परिस्थितियों में सबसे अच्छी कोशिश करना अच्छे शिक्षक का गुण होना चाहिए। समाज में हमारी ज़िम्मेदारी सबसे ज़्यादा है।

सवाल : क्या कुछ ऐसे कामों का ब्यौरा दे सकेंगे जिससे आपकी और आपके स्कूल की समुदाय में विश्वसनीयता बढ़ी हो और रिश्ता मजबूत हुआ हो?

फूलचन्द्र : समुदाय और स्कूल के रिश्तों को घनिष्ठ करने के लिए राष्ट्रीय त्योहारों पर डिण्डोरी पिटवाकर सभी को स्कूल के कार्यक्रम में बुलाया जाता था। उन्हें स्कूल की गतिविधियों के बारे में बताया जाता था।

प्रभातफेरी के दौरान ग्रामवासी बच्चों को मिठाई वितरण के लिए एक-दो रुपए चन्दा देते थे जिसकी रसीद बनाकर तत्काल ग्रामवासियों को दी जाती थी और प्राप्त राशि शाला विकास निधि के खाते में जमा कर मिठाई वितरित की जाती थी। इससे लोगों में विश्वास पनपा।

हर साल सर्दियों में परिचितों और सहयोगियों के आर्थिक सहयोग से ज़रूरतमन्द बच्चों को स्वेटर दिए जाते थे। विद्यालय परिसर में बनी खदानों का समुदाय के सहयोग से समतलीकरण कराया गया, स्कूल परिसर में वृक्षारोपण और साफ़-सफ़ाई कराई जाती थी।

स्कूल परिसर में वालीबॉल का फ़ील्ड बनाकर गाँव के युवाओं के खेलने के लिए अवसर बनाए गए। वहाँ शाम को वालीबॉल खेलना एक नियमित गतिविधि थी। स्कूल द्वारा पहल करके विकास खण्ड स्तरीय सांस्कृतिक और साक्षरता आयोजनों से आस-पास के पूरे इलाक़े में स्कूल की साख और अलग पहचान बन गई।

मेरे द्वारा रोज़ाना नियमित साढ़े दस बजे स्कूल खोलने और साढ़े पाँच बजे स्कूल बन्द करने से स्टाफ़ और समुदाय पर बहुत सकारात्मक प्रभाव पड़ा।

सवाल : आख़िरी सवाल, एक सवाल के जवाब में आपने 5 सितम्बर शिक्षक दिवस पर शिक्षकों को राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय पुरस्कार दिए जाने की चर्चा की है। इनकी ज़रूरत, विश्वसनीयता और प्रक्रिया आदि को लेकर आपका क्या कहना है?

फूलचन्द्र : देखिए, इन पुरस्कारों के लिए शिक्षक को ख़ुद आवेदन करना होता है, अपने काम के बारे में, अपनी योग्यता के बारे में प्रमाण जुटाकर देने होते हैं, इनको आप पुरस्कार क्यों कहते हैं? इन पुरस्कारों को पाने के लिए जो मापदण्ड और प्रक्रियाएँ अपनाई जाती हैं वह भी विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती हैं, क्योंकि मेरे शिक्षा जगत में जिन शिक्षकों को यह पुरस्कार मिले हैं उनमें से किसी के लिए भी शिक्षकों और आम समुदाय की राय प्रश्न-चिह्न वाली ही रही है। इतना ही नहीं मैं ऐसे कई शिक्षकों को जानता हूँ जो इस तरह के पुरस्कार के सर्वथा हक़दार थे उन्होंने अपने सम्मान की ख़ातिर कभी भी आवेदन नहीं किया।

देखिए ऐसी प्रक्रिया अपनाई जा सकती है कि जिस गाँव और समाज में शिक्षक काम करता है उसके बारे में अपनी राय स्थानीय व्यक्ति, शिक्षक समुदाय, संकुल प्राचार्य, विकास खण्ड और ज़िला शिक्षा अधिकारी व कलेक्टर आदि

दें और इस राय को चयन के मापदण्ड में महत्त्व मिले। सम्मान पाने के लिए सम्मान योग्य शिक्षकों को ख़ुद आवेदन न करना पड़े।

सच तो यह है कि ग़लत शिक्षक को सम्मानित करने पर शिक्षक की गरिमा नहीं बढ़ती है बल्कि पुरस्कार की विश्वसनीयता को ठेस पहुँचती है।

सवाल : क्या आपको लगता है किसी ज़िले में हज़ारों शिक्षकों में से एक–दो शिक्षकों को राज्य स्तरीय या राष्ट्रीय सम्मान मिलने से अन्य शिक्षक प्रोत्साहित होते होंगे ?

फूलचन्द्र : सवाल संख्या का नहीं है कि कितने शिक्षकों को मिलता है। यदि सम्मान के लिए शिक्षकों का चयन क़ाबिलीयत के आधार पर पूरी निष्पक्षता, पारदर्शिता और शिक्षकों का सम्मान बरक़रार रखते हुए मज़बूत चयन प्रक्रिया से होता है और यदि सही मायने में योग्य शिक्षकों को मिलता है तो निश्चित ही अन्य शिक्षक प्रोत्साहित होंगे।

प्रश्नकर्ता : फूलचन्द्रजी, पत्रिका के लिए आपने समय दिया इसके लिए अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय द्वारा आपको आत्मीय धन्यवाद।

फूलचन्द्र जैन अवकाश प्राप्त शिक्षक हैं। उन्होंने मध्यप्रदेश के बुन्देलखण्ड अंचल के सरकारी स्कूलों में तीन दशक तक शिक्षक एवं प्रधानाध्यापक के रूप में कार्य किया। टीकमगढ़ में बाल साहित्य केन्द्र से उसकी स्थापना के समय से ही जुड़े रहे हैं।
सम्पर्क : सिद्धबाबा कॉलोनी, कमानी गेट, टीकमगढ़, म. प्र.। फोन 9425893827

गुरबचन सिंह पिछले आठ सालों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में काम कर रहे हैं। उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा, स्कूली शिक्षा, वयस्क साक्षरता और बाल साहित्य के क्षेत्र में काम करने का साढ़े चार दशक का अनुभव है। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के अनुवाद पहल कार्यक्रम से जुड़े हुए हैं।
सम्पर्क : gurbachan.singh@azimpremjifounadation.org

आधी दुनिया को एक कमरे की तलाश...

अपना एक कमरा– वर्जीनिया वुल्फ़

डॉ. दीनानाथ मौर्य

"आप चाहें तो अपने पुस्तकालयों में ताले डाल दें, लेकिन मेरे मष्तिष्क की स्वतन्त्रता पर पाबन्दी लगाने के लिए न कोई दरवाज़ा, न ताला है और न कोई कुण्डी।"–वर्जीनिया वुल्फ़

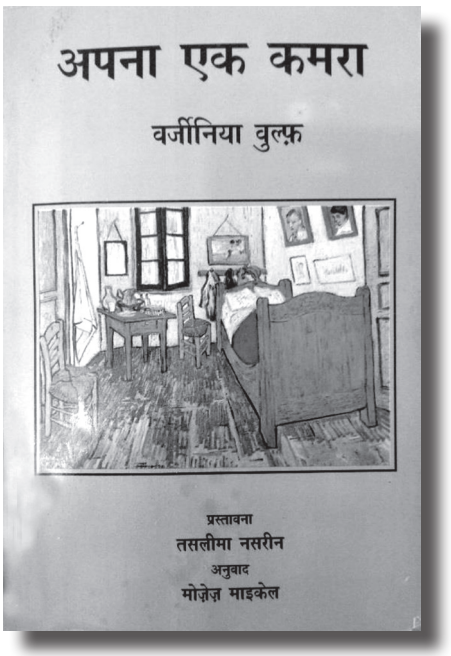

'अपना एक कमरा' पढ़ते हुए फ़िल्म पाकीज़ा का वह सीन याद आता है, जिसमें कोठे की नर्तकी एक दिन जब कहीं मुजरे के लिए जा रही होती है तो अपने पड़ोस की नर्तकी से ठिठोली करती है, "ज़रा एक दिन के लिए अपनी क़िस्मत मुझे दे दो, मुझे कल मुजरे में जाना है।" तो कोठे की दूसरी नर्तकी कहती है, "एक दिन के लिए क्या... तू तो हमेशा के लिए मेरी क़िस्मत ले ले।" यह संवाद फ़िल्म को देखते समय हास-परिहास के दौरान आता है, पर क्या इस संवाद का वितान केवल हास-परिहास तक ही है? कहना न होगा कि इस सवाल के उत्तर हमेशा नहीं में होगें। स्त्री जीवन की विषम स्थितियों के लिए ज़िम्मेदार समाज की पूरी संरचना पर यह संवाद एक सवालिया निशान लगाता है। जिस समाज में स्त्री की क़िस्मत की लकीर कोठे की दीवारों से खींच दी गई हो और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के लिए कोई जगह न हो तो भला ऐसे नसीब को क्या सहेजना? वर्जीनिया वुल्फ़ की पुस्तक अपना एक कमरा पढ़ते हुए यह बात बार-बार मन में उठती है कि स्त्री इयत्ता को समझने में अभी तक हमने क़दम-दर-क़दम भूल की है। एक कमरा जो उसे घर में मिलता है, एक कमरा जो उसे कार्यस्थल पर मिलता है– उस कमरे में दरअसल उसका अपना कितना क्या होता है? उसकी अपनी इच्छाओं, विचारों और स्वतन्त्र सोच के लिए। जब तक हम अस्मिताओं के प्रश्नों को किसी ख़ास अस्मिता के साथ जोड़कर समाधान के प्रयास करते रहेगें तब तक ये प्रश्न व्यापक मानव समाज की चिन्ताओं से दूर बने रहेंगे। वुल्फ़ अपनी पुस्तक में इसी व्यापक दृष्टि के साथ सामने आती हैं। पढ़ना और लिखना स्त्री जीवन में कैसे प्रवेश पाता है? और उसमें रुकावट की जो अड़चने हैं, किताब उन तमाम स्थितियों पर बात करती है। पुस्तक की मान्यता है कि स्त्री-पुरुष के बीच लैंगिक भेदभाव के उदाहरण जगह-जगह टकराते हैं। स्त्री होने के

कारण वह घास के मैदान पर नहीं चल सकती, उसके लिए बाज़ारवाला रास्ता है। पुरुषों के शिक्षालयों के लिए जहाँ सोना-चाँदी बरसता है, स्त्रियों के लिए ढंग की व्यवस्था नहीं है। भोजन में भी यह अन्तर साफ़ दिखाई देता है। स्त्रियों के लिए, उनकी माओं के लिए, आय के स्रोत नहीं हैं, अपनी आमदनी अपने पास रखने का अधिकार नहीं है। राजेन्द्र यादव की यह मान्यता कि दुनिया के सबसे पहले उपनिवेश का जन्म हमारे घर की चाहरदीवारी के अन्दर हुआ और इस तरह हमारे घर के भीतर क़ैद स्त्री दुनिया की पहली ग़ुलाम की श्रेणी में शुमार हुई। वुल्फ़ स्त्री-जीवन के उस पूरे सफ़र को अपने अध्ययन का विषय बनाती हैं जहाँ से सामाजिक स्थितियों के बीच उसकी अपनी अस्मिता का निर्माण होता है। पढ़ने-लिखने की दुनिया भी उसकी इस अस्मिता से अलग नहीं होती।

अपना एक कमरा स्त्री जीवन में सर्जनात्मक मूल्यों की खोज के क्रम में आगे बढ़ती है। सभ्यता के विकास में इस आधी दुनिया की भूमिका और उसकी अपने पढ़ने-लिखने की ज़मीन की तलाश लेखिका सभ्यता के ऐतिहासिक विकास क्रम के साथ करती हैं। वुल्फ़ द्वारा अक्तूबर 1928 में लिखित दो व्याख्यान पत्रों पर आधारित इस किताब की एक ख़ासियत यह है कि लेखिका के निजी अनुभवों से जुड़ते हुए पुस्तक व्यापक समूह के कुछ बुनियादी प्रश्नों पर बहस करती है। मसलन एक स्त्री जीवन में स्वतन्त्र चिन्तन का कितना अवकाश होता है? घर, परिवार, समाज के तमाम रिश्तों-नातों के बीच अपनी ख़ुद की ज़मीन बनाने की मशक्क़त में कितनी ऊर्जा लगानी पड़ती है? सामाजिक आयामों के सघन सायों के बीच एक स्त्री का जीवन किस हद तक उसकी अपनी सम्पत्ति बन पाता है? अधिकार बोध की यह भावना भी किताब के पन्नों पर जगह पास की है। जैसा कि पुस्तक के फ्लैप पर मोज़ेज़ ने लिखा है– "स्त्री-पुरुष की इस भिन्नता को रेखांकित करते हुए वर्जीनिया वुल्फ़, शेक्सपियर की बहन जूडिथ का काल्पनिक चरित्र गढ़ती हैं। जूडिथ में भी अपने भाई जैसी ही विलक्षण प्रतिभा है। लेकिन, क्योंकि वह एक स्त्री है इसलिए, उसे अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का, लिखने का, अवसर नहीं मिलता। वह किशोरावस्था में ही भाग कर लन्दन पहुँच जाती है। वहाँ पुरुष शोषण की शिकार होकर वह आत्महत्या कर लेती है। यह आमस्थिति है, अपवाद नहीं। बहुत सम्भव है कि इसीलिए, तमाम व्यवधानों के बावजूद जो स्त्री कुछ लिखने में सफल हो भी जाती थी, वह छद्म पुरुष नाम चुनती थी। गुमनामी स्त्री की चयनित नियति हो जाती है। जार्ज इलियट इसका एक उदाहरण है।" लगभग 90 साल पहले लिखी गई इस पुस्तक के सवाल आज भी अनुत्तरित हैं।

पुस्तक व्यापक समूह के कुछ बुनियादी प्रश्नों पर बहस करती है। मसलन एक स्त्री जीवन में स्वतन्त्र चिन्तन का कितना अवकाश होता है? घर, परिवार, समाज के तमाम रिश्तों-नातों के बीच अपनी ख़ुद की ज़मीन बनाने की मशक्क़त में कितनी ऊर्जा लगानी पड़ती है? सामाजिक आयामों के सघन सायों के बीच एक स्त्री का जीवन किस हद तक उसकी अपनी सम्पत्ति बन पाता है? अधिकार बोध की यह भावना भी किताब के पन्नों पर जगह पा सकी है।

हमारे काम से कैसे जुड़ते हैं इस पुस्तक के विचार– अगर इस नज़रिए से इस किताब को देंखें तो पता चलता है कि बड़ी ही वैचारिक गम्भीरता के साथ पुस्तक इस पर बात करती है कि पढ़ने-लिखने की दुनिया के रिश्ते अस्मिता के इस पहलू से किस तरह जुड़ते हैं? शिक्षा के सामाजिक सन्दर्भ किस तरह एक जेण्डर के वैचारिक मानस के निर्माण में अपना योग देते हैं? स्कूल में जेण्डर के भेदभाव और लड़कियों की शिक्षा में आने वाली दुश्वारियों को भी समझने का प्रयास किया गया है। पुस्तक में ऐतिहासिक विकास के साथ ही वुल्फ़ पढ़ने-लिखने की संस्कृति के साथ स्त्री जीवन के रिश्ते को बख़ूबी

उजागर करती हैं। वे लिखती हैं, "किसी भी स्त्री ने असाधारण साहित्य का एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा? या, सच कहें तो, उन्हें लिखने क्यों नहीं दिया गया? विवाह में भी, उसकी इच्छा का सम्मान क्यों नहीं किया गया? इंग्लैण्ड में भी, एक समय था जब बेटी अपने विवाह का विरोध नहीं कर सकती थी, और ऐसा करने पर उसे मारा-पीटा जाता था– क्यों? यथार्थ में इस दयनीय स्थिति को भोगने वाली स्त्री जब साहित्य में चित्रित होती है तो उसका रूप अलग ही होता है।" हमें अपने दैनिक जीवन में एक कमरे की ज़रूरत को समझने की ज़रूरत है। एक कमरे से अभिप्राय 'चिन्तन करने की शक्ति' और 'स्वयं के लिए सोचने की शक्ति' से है'। यह सारी बातें अवसर से जुड़ती हैं। शिक्षा का बुनियादी काम अगर सामाजिक बदलाव है तो आधी दुनिया की पूरी आबादी को पढ़ने-लिखने और स्वतन्त्र चिन्तन का अवसर देना होगा। उन्हें पूरी तरह से सामाजिक विकास की धारा से जोड़ना होगा। उनकी रचनात्मक ऊर्जा को महत्त्व देकर उन्हें भी अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता देनी होगी। इस सारे कार्य में समाज, स्कूल और शिक्षक की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका को समझने की भी ज़रूरत है। स्वतन्त्रता, समता और लोकतान्त्रिक मूल्यों के व्यावहारिक आयाम इसी तरह की बराबरी के साथ आकार लेते हैं....

वर्जीनिया वुल्फ़ की पुस्तक *अपना एक कमरा* आपने पढ़ी ही होगी... यदि अभी तक नहीं पढ़ी है तो ज़रूर पढ़िएगा... समय मिलने पर ही नहीं, समय निकालकर भी।

अंग्रेजी में मूल पुस्तक का नाम *'द रूम ऑफ वन्स ओन'* है।

दीनानाथ मौर्य दो दशक से भाषा शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषाएँ विभाग में सहायक प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं।
सम्पर्क : dnathjnu@gmail.com

भाषाओं के उद्गम और विकास की कहानी

अरुण चतुर्वेदी

(पुस्तक–*भारत में विदेशी लोग एवं विदेशी भाषाएँ, समाजभाषा–वैज्ञानिक इतिहास.* श्रीश चौधरी (2018). राजकमल प्रकाशन)

श्रीश की पुस्तक इतिहास, भाषा, संस्कृति, ज़मीन व सत्ता व इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर तार्किक विमर्श है। यह विमर्श भारत में स्थित है। पुस्तक कई स्रोतों का इस्तेमाल करके एक लम्बे समय अन्तराल में विभिन्न लोगों, क़ौमों की भाषाओं, संस्कृतियों में हुई अन्त: क्रिया को प्रस्तुत करते हुए भाषाओं के विकास, उनमें परिवर्तन, समाज और भाषा का तानाबाना आदि मुद्दों का विश्लेषण करने का प्रयास करती है और ऐसे कई मुद्दों पर भारतीय सन्दर्भ में कई महत्त्वपूर्ण पहलू उठाती है। एक पहलू जातीय तत्वों, पहचानों व भाषाओं के पारस्परिक प्रभाव पर है। लेखक हमारे मिथक व कहानियों में निहित संघर्षों व परिभाषाओं का विश्लेषण कर उनके भाषाई व अन्य पहलुओं को उभारते हैं। सं.

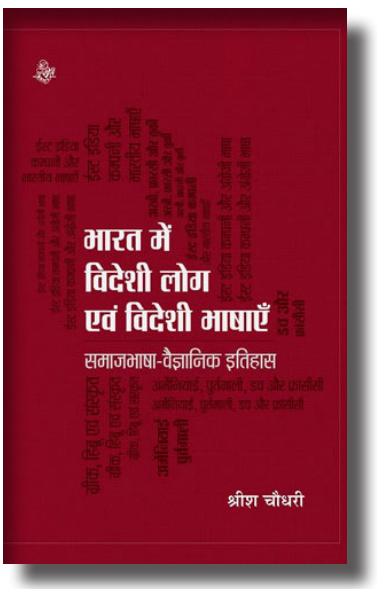

भारत की भाषाओं, उनके विकास व अन्तर्सम्बन्धों पर उन्होंने कई बातें कही हैं। श्रीश कहते हैं कि भारतीय भाषाएँ बदलती रही हैं व उनका महत्त्व भी कम-ज़्यादा होता रहा है। वे यह भी कहते हैं कि भारतीय भाषाओं की विदेशी भाषाओं से लगातार अन्त: क्रिया हुई है और ऐसी कोई भी भारतीय भाषा नहीं है जिसमें विदेशी भाषा के शब्द नहीं हैं। भाषाओं के प्रभुत्व व फैलाव के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि सैन्य, तकनीकी शक्ति व अन्य प्रभावों के कारण भी भाषा का आगमन होता है और धीरे-धीरे यह नई भाषा शक्तिमान होकर सत्ता में मौजूद पुरानी भाषा को हटा देती है। भारतीय व विदेशी भाषाओं की अन्त: क्रिया की सूची में वे बहुत-सी भाषाओं को शामिल करते हैं और ऐसे उदाहरण देते हैं जिनसे इनके बीच हुए आदान-प्रदान की झलक मिलती है। इन उदाहरणों और विश्लेषण से यह पता चलता है कि भाषाएँ काफी उदार और खुली होती हैं। वे नए शब्द लेने को तैयार रहती हैं, जबकि पुरानी भाषाएँ कड़क हो जाती हैं। लेकिन इसके बावजूद यह मुश्किल है कि कोई भी भाषा पूर्ण रूप से इस्तेमाल के बाहर हो जाए।

पुस्तक कई ऐसे उदाहरण व वर्णन भी उपलब्ध कराती है जिसमें इन भाषाओं में हुए आदान-प्रदान की झलक मिलती है। उदाहरण व

इनके विश्लेषण भी दर्शाते हैं कि भाषाएँ काफ़ी खुली और नए शब्दों व विचारों को लेने को तैयार रहती हैं। यह भी एहसास होता है कि भाषाएँ नित विकसित होती और बदलती रहती हैं। बदलाव के इन कारणों में भाषाई सम्पर्क के सभी कारणों के अलावा उन भाषाओं को बोलने वालों का व्यवहार, दृष्टिकोण व सत्ता एवं समाज में उनका वर्चस्व व स्थिति भी योगदान देती है।

पिछले वर्षों में एकरूपता पर अधिक आग्रह किया जा रहा है और इस एकरूपता के आग्रह में जहाँ भाषा भी शामिल हो जाती है, वहाँ सारी भाषाई बहस को उसकी सम्पूर्णता में समझना अपने आप में सारे परिदृश्य को नए परिप्रेक्ष्य में देखना है। जैसा कि पुस्तक रेखांकित करती है भाषाई विस्तार आपसी सम्पर्कों का परिणाम है। यह सहज ही है कि दो अलग भाषाओं का उपयोग करने वाले सम्पर्क में आने पर अपनी-अपनी भाषा को दूसरी भाषा में जोड़ने का प्रयास करते हैं। ऐसे में भाषा के यह प्रयोगकर्ता एक नई भाषा को जन्म देते हैं। यह तथ्य भी है कि भाषा परिवर्तनशील भी है और इस परिवर्तन के दौर में वह शब्द या उपयोग तो रह जाते हैं, जिनका लगातार प्रयोग होता है किन्तु वह जिनका उपयोग सीमित है वह लुप्त होते रहते हैं। यही नहीं भाषा के प्रयोगकर्ता सामाजिक संरचना की हायरारकी में अपने क्रम का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। यह अक्सर देखा जाता है कि भाषा का प्रयोग कौन कर रहा है और उसका सामाजिक स्तर क्या है। इन प्रश्नों को भाषाओं के सन्दर्भ में समझना आवश्यक है।

पिछले वर्षों में एकरूपता पर अधिक आग्रह किया जा रहा है और इस एकरूपता के आग्रह में जहाँ भाषा भी शामिल हो जाती है, वहाँ सारी भाषाई बहस को उसकी सम्पूर्णता में समझना अपने आप में सारे परिदृश्य को नए परिप्रेक्ष्य में देखना है। जैसा कि पुस्तक रेखांकित करती है भाषाई विस्तार आपसी सम्पर्कों का परिणाम है।

समीक्षित पुस्तक श्रीश चौधरी के मूल ग्रन्थ *फॉरिनर्स एंड फॉरेन लैंग्वेजेज इन इंडिया* का अनुवाद है। रामाजेय कुमार उपाध्याय इस पुस्तक के अनुवादक हैं, उन्होंने अथक श्रम से विषय की सारी दुरूहता के होते हुए भी सहजता को बनाए रखा है। अनुवादक की यह बात विशेष रूप से आकर्षित करती है कि अनुवाद के लिए उन्हें एक ही सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक प्रतीत हुआ– 'भाषिक स्तर से समझौता नहीं करना' और इसका असर साफ़ है कि अनुवाद न केवल स्तरीय है वरन प्रभावकारी भी है।

पुस्तक में सात अध्याय हैं, 1) प्रस्तावना, 2) ग्रीक, हिब्रू एवं संस्कृत, 3) अरबी, फ़ारसी और तुर्की, 4) अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी, 5) ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय भाषाएँ, 6) ईस्ट इंडिया कम्पनी और अँग्रेज़ी भाषा, और 7) उपसंहार। पुस्तक में बहुत से अनुलग्नक और सन्दर्भ नोट भी हैं, जो इस ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ाते हैं। सन्दर्भ ग्रन्थ सूची व्यापक ही नहीं, दृष्टिवान भी है।

श्रीश चौधरी के आभार से ही शुरू करें तो हम उनकी यह टीप देखते है कि "भारत में भाषा सीखने और पढ़ने की बड़ी पुरानी परम्परा रही है। यहाँ लोग सदियों से सफलतापूर्वक अनेक देशी एवं विदेशी भाषाएँ सीखते और सिखाते आए हैं।" इसी परम्परा का लम्बा आख्यान यह ग्रन्थ है, जहाँ सामाजिक तानेबाने में विदेशी भाषाओं और स्थानीय सम्पर्कों के कई पक्षों को प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक की प्रस्तावना में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। पहली यह कि किस प्रकार कुछ विदेशी भाषाएँ भारत आईं, प्रयोग में लाई गईं और बाहर हो गईं और किस प्रकार उन्होंने कुछ अन्य भाषाओं के परिवर्तन, उत्पत्ति एवं अवसान को गति प्रदान की। और दूसरी यह कि भारतीय भाषाएँ दूसरे देशों में, दूसरी भाषाओं से कैसे प्रभावित हुईं एवं दूसरों को कैसे प्रभावित किया। (पृ. 14)

भारत सदैव से बहुजातीय, बहुधर्मी, बहुराष्ट्रीय एवं बहुभाषी राष्ट्र रहा है। श्रीश भारत में छह जातीय तत्वों के योगदान की बात करते हैं। वे कहते हैं कि रक्त सम्बन्धों, भाषा एवं सभ्यता के दृष्टिकोण से भारत में बहुत से अवयवों का सम्मिश्रण लोगों में और उनकी भाषाओं में मिलता है। वे कहते हैं कि भारत में 4 भाषा परिवारों आस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी, द्रविड़ एवं आर्य की झलक मिलती है। ऐसा नहीं है कि एक भाषा में एक ही भाषा परिवार का पुट हो और वह सिर्फ़ उसी से सम्बन्धित हो। वे बताते हैं कि भारत में हिब्रू, चीनी, ग्रीक, संस्कृत, तुर्की, फ़ारसी, अरबी, अर्मिनियन, पुर्तगाली, डच, अँग्रेज़ी, फ्रांसीसी तथा कई अन्य भाषा भाषियों की झलक है और इन सभी भाषाओं का असर बढ़ता-घटता रहा है। इन भाषाओं ने भारत की सांस्कृतिक विविधता को रचा है। (पृ. 15) भारत की विभिन्नताओं, विशेषकर भाषाई विविधता का यह स्पष्टीकरण यह सिखाता है कि ऐसी सारी विविधताओं को बदलना एक अनावश्यक प्रयास रहेगा क्योंकि इनमें हस्तक्षेप स्वभावतः असहज है। विविधता को रोकने से सामाजिक तानाबाना तो बदलता ही है पर भाषाई हिंसा का प्रयोग भी बढ़ जाता है।

भारत में 4 भाषा परिवारों आस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी, द्रविड़ एवं आर्य की झलक मिलती है। ऐसा नहीं है कि एक भाषा में एक ही भाषा परिवार का पुट हो और वह सिर्फ़ उसी से सम्बन्धित हो। वे बताते हैं कि भारत में हिब्रू, चीनी, ग्रीक, संस्कृत, तुर्की, फ़ारसी, अरबी, अर्मिनियन, पुर्तगाली, डच, अँग्रेज़ी, फ्रांसीसी तथा कई अन्य भाषा भाषियों की झलक है।

भारत के मूल, प्राचीन अथवा आदि-निवासी कौन हैं? इस प्रश्न को भाषाई सन्दर्भ में समझना रोचक ही नहीं है वरन यह एक गहरी समझ को भी विकसित करता है। वे कहते हैं कि भारत में हमेशा कई तरह के लोग रहे हैं और यहाँ आक्रमणकारी, साहसी योद्धाओं, व्यापारियों एवं आगन्तुकों का आना-जाना लगा रहा है। लोगों के इस आने-जाने और घुलने-मिलने में वर्चस्व के संघर्ष हमेशा होते रहे हैं। चूँकि आर्य ज़्यादा शक्तिशाली व प्रभावशील बन गए अतः आर्यों को भगवान-स्वरूप माना गया जबकि शक और हूण शैतान माने गए। श्रीश बताते हैं कि आने वाले दूत हों अथवा शैतान हों, देवता हों या राक्षस, भारत में हमेशा विदेशी तत्व आए, रुके और उनमें से बहुत यहाँ से चले भी गए। इसीलिए भारत के मूल निवासी कौन थे, कौन-सी भाषा बोलते थे इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना बहुत आसान नहीं है (पृ. 15) और श्रीश इसका कोई उत्तर देने का जोखिम नहीं उठाते। विदेशी लोगों के आवागमन और उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं की सूची लम्बी है। यही नहीं उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा, वे लोग जो यहाँ रह गए उनके द्वारा प्रयोग में आती रही व इसने स्थानीय/देशज भाषा को भी प्रभावित किया।

यह पुस्तक मूलतः भाषा के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विकास व उसके समाज विज्ञान से जुड़ाव के आधार पर रची गई है। श्रीश बताते हैं कि भाषा की आवश्यकताएँ और प्रयोग परिस्थितियों के अनुसार बदल सकते हैं और उनके उपयोग करने वालों के सन्दर्भों के कारण उनके ख़ास प्रक्षेत्र बन जाते हैं। भारत जैसे बहुभाषी देश में परिस्थितियों व आवश्यकताओं का तानाबाना कई तरह के परिक्षेत्रों का निर्माण करता है। इस सिलसिले में श्रीश की यह बात उल्लेखनीय है कि "प्रत्येक बार एक नई विदेशी भाषा यहाँ आई और उसका सम्पर्क मौजूदा भारतीय एवं अन्य विदेशी भाषाओं के साथ हुआ और धीरे-धीरे प्रचलित भाषाओं की जगह नई भाषाएँ कुछ प्रक्षेत्रों में प्रयोग होने लगीं। नई (विदेशी) भाषा को शीघ्र ही प्रतिष्ठा एवं सामर्थ्य मिल जाता था और यह आकृष्ट भारतीयों के बोलचाल की भाषा बन जाती थी।" (पृ. 18) इसमें भाषाई सम्पर्क व भाषाई विकास की प्रक्रिया का विवरण

है। दो भाषा भाषी एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो वे आपसी संवाद के लिए ऐसी मिश्रित भाषा का निर्माण करते हैं जो दोनों समझ सकें। ऐसे ही पिजिन भाषा का निर्माण करते हैं और यह भाषाओं के साझाकरण में भाषा मिश्रण की प्रक्रियाओं का आरम्भ है। (पृ. 20)

प्रस्तावना में भाषाओं के अध्ययन के स्रोतों को लेकर श्रीश कहते हैं कि इसे समझने के लिए अन्तर्विषयक अध्ययन आवश्यक हैं पर अभी यह दुर्लभ हैं। किन्तु प्रश्नों के उत्तरों के लिए एक से अधिक अध्ययन क्षेत्रों से संग्रहित समझ की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। (पृ. 41) वे यह भी कहते हैं कि भारत के सन्दर्भ में अध्ययन के स्त्रोतों को लूट-पाट, विदेशी आक्रमणों, आगज़नी ने तो नुकसान पहुँचाया ही, किन्तु वे छितराए हुए भी हैं और उनमें से कुछ के विदेशों में होने के कारण भी परेशानी बनी हुई है। इसके अलावा कई बार बरसातों में, और लम्बी-लम्बी यात्राओं में उपयोगी सामग्रियाँ नष्ट भी हो गईं हैं और इससे अध्ययन में भी दिक़्क़त होती है। फिर भी इस बात से तो सहमत हुआ जा सकता है कि इस तरह के अध्ययन अतीत की भाषा और शैक्षिक नीतियों में वैयक्तिक भूमिकाओं एवं प्रजातियों व भाषाओं की शुद्धता के बारे में बनी भ्रान्तियों को भी दूर कर सकते हैं। (पृ. 51) भारत के मूल निवासी कौन हैं, इस प्रश्न पर पुस्तक में काफी चर्चा है। उनका कहना है कि शायद जनजातीय लोग ही भारत के मूल निवासी रहे होंगे।

एक पूरा अध्याय ग्रीक, हिब्रू एवं संस्कृत के सम्बन्ध पर है और श्रीश इसमें ई.पू. 1000 वर्षों से लेकर 1000 ई. तक के प्राचीन भारत में भाषाई अन्त: क्रिया की चर्चा करते हैं। वे बताते हैं कि उस समय के भारत में आज के अफ़ग़ानिस्तान, भूटान, बर्मा, भारत, नेपाल, पाकिस्तान, श्रीलंका और तिब्बत सम्मिलित थे। वे यह भी बताते हैं कि इसी कालखण्ड में लिखने और काग़ज़ बनाने की तकनीक भारत आई। इस कालखण्ड में विदेशों के साथ व्यापारिक आदान-प्रदान के साथ-साथ भाषाई व अन्य प्रकार का भी खूब आदान-प्रदान हुआ। वे कहते हैं कि गंगा किनारे बसे सभी प्रमुख शहर जैसे प्रयाग (इलाहबाद), काशी, पाटलिपुत्र, भागलपुर आदि तीर्थ स्थान के साथ-साथ प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी थे जिनमें बहुभाषी समुदाय रहते थे। लेखक के अनुसार, भारत से बाहर गए माल एवं विचारों के विनिमय के कुछ भाषा वैज्ञानिक साक्ष्य अभी भी मौजूद हैं। जैसे बन्दर के लिए हिब्रू शब्द 'कोफ', संस्कृत के 'कपि' शब्द से है और 'मोर' के लिए तमिल का मूल शब्द 'तोगाई' हिब्रू में 'तुक्की' बन गया। इसी तरह के उदाहरण ग्रीक और लैटिन में भी हैं। जैसे कुछ जवाहरात, मसालों और खाद्यान्नों के लिए इन भाषाओं में इस्तेमाल हो रहे कई शब्द संस्कृत मूल के हैं। संस्कृत ने भी कई शब्द इन भाषाओं से लिए हैं। उदाहरण के लिए 'प्रहर', 'केन्द्र' और 'कोण' ग्रीक एवं लैटिन मूल के हैं और वहाँ से संस्कृत में आए। भाषाओं के प्रयोग के आधार पर भारत के निवासियों का अध्ययन व मूल निवासियों को पहचानने का प्रयास रोचक व चुनौतीपूर्ण है क्योंकि विभिन्न भाषाओं के प्रयोग उन स्थानों पर ही अधिक सम्भव हुए जहाँ लोगों के आपसी सम्पर्कों के अधिक अवसर थे। इनके कुछ दो बड़े दायरे धार्मिक एवं व्यापारिक सम्पर्क हैं। इन्होंने ही भाषाई विस्तार का स्वरूप निर्धारित किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकांशतः शहर व्यापार और धर्म के बड़े केन्द्र नदियों के किनारे ही थे। और इन्हीं जगहों में ज़्यादा भाषाई आदान-प्रदान और नए शब्दों को स्वीकारने

भाषाओं के प्रयोग के आधार पर भारत के निवासियों का अध्ययन व मूल निवासियों को पहचानने का प्रयास रोचक व चुनौतीपूर्ण है क्योंकि विभिन्न भाषाओं के प्रयोग उन स्थानों पर ही अधिक सम्भव हुए जहाँ लोगों के आपसी सम्पर्कों के अधिक अवसर थे। इनके कुछ दो बड़े दायरे धार्मिक एवं व्यापारिक सम्पर्क हैं। इन्होंने ही भाषाई विस्तार का स्वरूप निर्धारित किया है।

की व कुछ नए शब्द रचने की प्रक्रिया हुई। लेखक भाषाओं और प्रजातियों के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध पर भी बात करते हैं और कहते हैं कि भाषाएँ प्रजातियों से एक से एक मेल नहीं रखती। इसी अध्याय में वे यूनानी और भारतीयों के सम्पर्क पर भी चर्चा करते हैं और बहुत से तथ्य प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यूनानियों के साथ भारत का सम्पर्क बहुत समय रहा है। यह भी कि यूनानी भारत की सीमाओं पर पहले से ही रह रहे थे। यह लोग वास्तुकार, दुर्जेय योद्धा, मूर्तिकार तो थे ही किन्तु, भारत के प्रति उनका आकर्षण उसकी धन सम्पदा और सौन्दर्य के कारण अधिक था। उनके अनुसार भारतीयों के यूनान में होने का उल्लेख भी मिलता है। सिकन्दर के समय का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि सिकन्दर के दरबार में बैक्ट्रिया और भारत के आस-पास की मिश्रित ग्रीक का प्रयोग होता था। सिकन्दर के लौटने के बाद भी कई यूनानी भारत में बस गए लेकिन उनके आपसी सम्पर्क निरन्तर बने रहे। इसके कारण यूनानी चिकित्सा और साहित्य का प्रभाव भारत में भी देखा जा सकता है। केरल की चैडी नामक घाटी के लोग दावा करते हैं कि वे सिकन्दर के वंशज हैं। इन सब से यह साफ़ है कि लेखक के अनुसार इन पहलुओं पर और जानकारी व स्रोत चाहिए, उसके बिना कुछ भी यक़ीन से कहना मुश्किल है। पर जो सह-सम्बन्ध दिखते हैं उनका ज़िक्र वे काफी विस्तार से करते हैं।

संस्कृत पर विमर्श में भारतीय समाज के कई प्रश्नों की चर्चा स्वाभाविक है, पहला तो यह कि क्या यह ब्राह्मण वर्चस्व की बात है, जहाँ वह भाषा की सम्पूर्णता, उसकी पवित्रता और इनको बनाए रखने में अपने वर्ग की श्रेष्ठता को स्थापित करने का निरन्तर प्रयास करता है। इन प्रश्नों की चर्चा आधुनिक सन्दर्भों में एक स्त्री विमर्श का भी हिस्सा है जो इस सारे प्रसंग को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है।

इसी तरह की एक बात वे भारतीय भाषाओं व अन्य भाषाओं के सम्बन्ध के बारे में करते हैं। पृ. 68 पर वे कहते हैं कि आज हिब्रू भारत से जितनी सुदूर और असम्बद्ध दिखती है उतनी है नहीं। फिलिस्तिनी हिब्रू भाषी एवं भारतीयों का सम्पर्क 2000 वर्ष ई.पू. से रहा है। वह व्यापार के साथ अपनी भाषा भी यहाँ लाए और इसके फलस्वरूप अपनी भाषा के कुछ शब्द यहाँ छोड़ गए और कुछ शब्द भारत से अपने यहाँ ले गए। इसीलिए, मैथिली और बंगाली पर हिब्रू का प्रभाव नज़र आता है और हिब्रू भाषियों का प्रवास भारत के कई भागों में दिखता है जिनमें उत्तर और दक्षिण भारत के बहुत से हिस्से सम्मिलित हैं।

संस्कृत पर विमर्श में भारतीय समाज के कई प्रश्नों की चर्चा स्वाभाविक है, पहला तो यह कि क्या यह ब्राह्मण वर्चस्व की बात है, जहाँ वह भाषा की सम्पूर्णता, उसकी पवित्रता और इनको बनाए रखने में अपने वर्ग की श्रेष्ठता को स्थापित करने का निरन्तर प्रयास करता है। इन प्रश्नों की चर्चा आधुनिक सन्दर्भों में एक स्त्री विमर्श का भी हिस्सा है जो इस सारे प्रसंग को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है।

संस्कृत के बारे में श्रीश ने विस्तार से व्याख्या की है और कई सवालों को रखा है। जैसे यह सवाल कि इसका भारत में उद्भव कैसे हुआ, क्या यह भारतीय भाषा है या विदेशी और फिर यह सवाल कि क्या यह कभी जन भाषा रही है या नहीं। लेखक कहते हैं कि कई विद्वानों जैसे फ्रेडरिक मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स एवं अन्य यूरोपीय विद्वानों के अनुसार संस्कृत मध्य एशिया या यूरोप से आई। 3000 वर्ष ई.पू. से 700 वर्ष ई.पू. में आर्य यहाँ हरे-भरे मैदानों की खोज में आए और उनके साथ यह भाषा भी आई। आर्यों और द्रविड़ों का भयंकर और दीर्घकालीन संघर्ष वास्तव में दो लोगों अथवा दो 'राष्ट्रीयताओं' के बीच नहीं वरन दो 'सभ्यताओं' के बीच का संघर्ष था, जिसमें आर्यों ने द्रविड़ों के गढ़ और शहरों को नष्ट कर दिया और उनके घर जला

दिए और उन्हें बड़ी संख्या में दास बना लिया। इस प्रक्रिया में आगन्तुक आर्य कुलों और अलग-अलग गैर-आर्य कुलों के साथ विभिन्न समयों पर होने वाले सम्पर्क के द्वारा बंगाली, मैथिली, मराठी इत्यादि के रूप में विभिन्न प्रकार की भाषाओं की उत्पत्ति हुई। परन्तु संस्कृत उनकी प्रार्थना एवं गीत में, साथ रह रहे लोगों के बीच में, कलात्मक भाषा के रूप में बनी रही और उन्हें (आर्यों को) एक साथ बनाए रखा। (पृ. 73) एक अन्य मत के अनुसार संस्कृत देशज यानी भारत की भाषा है, इसके प्रमाण स्वरूप लेखक ने कुछ तर्क दिए हैं जिनकी जड़ में कुछ विदेशी भाषाई रचनाओं में संस्कृत के प्रति विरोध है। और इसी तरह से भारत में हूणों, कुषाणों, शक, चीनी व अन्य लोगों को जिस श्रेणी में रखा जाता था और जिस तरह के शब्दों से उनके बारे में बात की जाती थी उससे लगता है यह एक दबी क़ौम का अपना गुस्सा निकालने का ढंग था और इसीलिए यह दिखाता है कि यह लोग व संस्कृत भाषा भारत की मूल मानी जा सकती है।

पुस्तक कहती है कि ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं जिससे लगे कि संस्कृत कभी आम लोगों की भाषा रही है। प्रमाण यही हैं कि वह उच्च वर्ग और ब्राह्मणों की भाषा रही है। हालाँकि बहुत से ज्ञानी लोग व अपने कार्य में निपुण विषेशज्ञ जैसे वैद्य आपसी संवाद में भी संस्कृत का प्रयोग करते थे किन्तु यह सामान्य लोगों तक नहीं पहुँचती थी।

पुस्तक कहती है कि ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं जिससे लगे कि संस्कृत कभी आम लोगों की भाषा रही है। प्रमाण यही हैं कि वह उच्च वर्ग और ब्राह्मणों की भाषा रही है। हालाँकि बहुत से ज्ञानी लोग व अपने कार्य में निपुण विषेशज्ञ जैसे वैद्य आपसी संवाद में भी संस्कृत का प्रयोग करते थे किन्तु यह सामान्य लोगों तक नहीं पहुँचती थी। हालाँकि लेखक के अनुसार वैद्य व अन्य व्यवसायों के लोग संस्कृत बाँटने में इतने संकीर्ण नहीं थे जितने ब्राह्मण थे। लेखक का कहना है कि ऐसा मान सकते हैं कि जहाँ प्रवासी जाति की भाषा मूल निवासियों की भाषा पर हावी हो गई, वहीं वह आमजन द्वारा उपयोगित व ब्राह्मणों द्वारा उपयोगित भाषा दो श्रेणियों में विभक्त हो गई। अशिक्षित लोगों की भाषा पुनः विभिन्न प्रान्तीय उपश्रेणियों में विभक्त हो गई। उनका कहना है कि ज्ञान की कुंजी को सार्वजनिक न होने देने की इच्छा व इसके ज्ञान को विशेष दर्जा देने के हिसाब से इसे संस्कृत अथवा पूर्णता से निर्मित भाषा कहा गया और इसे प्राकृत की तुलना में श्रेष्ठ बताया गया। लेखक के अनुसार संस्कृत ही भारत में जाति, धर्म, वर्ग, कुल की व्यवस्था का सामाजिक कारक थी, और यह उच्चतर पद सोपान की भाषा थी और इससे निम्न जाति के लोगों के साथ-साथ उच्च वर्ग की महिलाओं को भी दूर रखा जाता था। लेखक कार्डोना और जैन के हवाले से बताते हैं कि संस्कृत नाट्यशास्त्र में राजा संस्कृत में बात करते थे, और रानियाँ व नौकरानियाँ प्राकृत एवं अपभ्रंश में।

श्रीश मानते हैं कि संस्कृत व्यापक रूप से ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम भारत में भी और दक्षिण-पूर्व एशिया में भी रही है। दक्षिण भारत में संस्कृत कई राज्यों की राजसी भाषा व दस्तावेज़ों का हिस्सा थी। उनके काग़ज़ों में बहुत से संस्कृत शब्द मिलते हैं। किन्तु धर्म के क्षेत्र में और सामान्य बातचीत में संस्कृत महत्त्वपूर्ण नहीं रही। बौद्ध धर्म के मौखिक व लिखित प्रवर्तन में पाली के उपयोग से संस्कृत को काफी बड़ी चुनौती मिली और उसका धर्म के क्षेत्र में वर्चस्व लगभग समाप्त हो गया। इस हज़ार साल के अन्तराल में कई और भाषाई परिवर्तन हुए। श्रीश कहते हैं कि उपयोग से व अलग-अलग सन्दर्भों में भाषा में परिवर्तन व विकास होते रहने से कई मौखिक बोलियाँ भारत में बन गईं। और यह बोलियाँ प्राचीन भारतीय आर्य मानक से जितनी ज़्यादा दूर हुईं, उतना ही संस्कृत का महत्त्व बढ़ता गया। यह उन भाषाओं की तुलना में व्यवस्थित व

ज़्यादा व्यापक क्षेत्र में लिखित रूप में राजकीय, अनुष्ठानीय व ज्ञान के आदान-प्रदान के सन्दर्भ में ज़्यादा लोगों को और ज़्यादा बड़े दायरे में समझ आने वाली बनी।

तीसरा अध्याय अरबी, फ़ारसी और तुर्की पर केन्द्रित है। श्रीश कहते हैं कि यह सभी भाषाएँ इस्लाम से पूर्व ही भारत के सम्पर्क में थीं और फ़ारसी सबसे लम्बी अवधि तक प्रयोग की जाने वाली विदेशी भाषा है। अरबी भी काफी लम्बे समय से बोली जा रही है और हालाँकि तुर्की कम लोगों द्वारा बोली जाती रही है, फिर भी इस भाषा के शब्द प्रायः पूरे भारत में मिलते हैं। यह भाषाएँ विभिन्न भाषा परिवारों से सम्बद्ध हैं और फ़ारसी संस्कृत की ही तरह एक भारतीय आर्य भाषा है, जबकि अरबी, हिब्रू की तरह सेमिरिक भाषा है। तुर्की का सम्बन्ध तुर्की एल्तिक भाषा समूह से है। फ़ारसी को अब अरबी लिपि में लिखा जाता है, जबकि तुर्की को रोमन में। यों सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में अरबी, फ़ारसी और तुर्की के शब्द मिलते हैं। आज भी न्यायिक, सैन्य और राजस्व प्रशासन के कई सन्दर्भों में अरबी, फ़ारसी और तुर्की के बिना बात करना मुश्किल हो जाता है। व्यापारिक मार्ग में ईरान और अरब देशों के कई शहरों में आवश्यक ठहरने के स्थल थे, इससे एशियाई भाषाओं जैसे– फ़ारसी, अरबी और तुर्की की कुछ बोलियों से भारत का निरन्तर संवाद बना रहा। इन क्षेत्रों से ऐसा ही सम्पर्क जल मार्गों से भी बना रहा। इसी तरह प्राचीन भारत में तटीय बंगाल जिसे उस समय गौर कहते थे, में अरब व्यापारियों के बसने का उल्लेख है। भारत से होकर ही चीन, बसरा और बगदाद का पारस्परिक व्यापार होता था अतः यह सभी भाषाओं व लोगों के बीच सम्पर्क का स्थल बना। इन सम्पर्कों से कोंकण में नतिया व मालाबार में मोप्लास जैसे मिश्रित समाजों का जन्म हुआ। श्रीश इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि प्रशासनिक भाषा वही होती थी जो शासक की भाषा थी किन्तु अधिकांश दरबार बहुभाषी भी थे व उनके नियमों में धार्मिक बहुलता का संज्ञान था।

प्राचीन भारत में तटीय बंगाल जिसे उस समय गौर कहते थे, में अरब व्यापारियों के बसने का उल्लेख है। भारत से होकर ही चीन, बसरा और बगदाद का पारस्परिक व्यापार होता था अतः यह सभी भाषाओं व लोगों के बीच सम्पर्क का स्थल बना। इन सम्पर्कों से कोंकण में नतिया व मालाबार में मोप्लास जैसे मिश्रित समाजों का जन्म हुआ।

इसी अध्याय में श्रीश आठवीं से तेरहवीं सदी के बीच इस्लामिक राज्य के विस्तार से पड़े असर की बात भी करते हैं। तेहरवीं शताब्दी तक लगभग पूरा उत्तरी भारत इस्लाम के अधीन हो गया था और अगली सदी में दक्षिण भारत भी इसके अधीन हो गया था। हालाँकि बहुत से भारतीय मुसलमान अरबी का प्रयोग करते थे, किन्तु इस्लामिक शासन फ़ारसी को तवज्जो देते थे। वे बताते हैं कि भारत के लगभग सभी मुस्लिम दरबार बहुनस्ली, बहुभाषी और प्रायः बहुधर्मी थे। यहाँ तक कि कट्टर कहे जाने वाले औरंगज़ेब के दरबार में भी 28 विभिन्न नस्ली पृष्ठभूमियों के लोग थे। इस दौरान भाषिक विविधता बढ़ी ही। अलग-अलग भाषाई समूहों, जिनमें बुन्देलखण्डी व भोजपुरी बोलने वाले सिपाही और तुर्की और स्वाहिली बोलने वाले सम्मिलित थे, के सम्पर्क से उत्तर में हिन्दी और उर्दू तथा दक्षिण में दक्खिनी का आरम्भ हुआ। यही प्रक्रिया कोंकण और गुजरात के क्षेत्रों में भी हुई। इसी सम्पर्क के क्रम में हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, मूर, हिन्दी/उर्दू, मिश्रित भाषा के रूप में विकसित हुई।

शेरशाह (सन् 1486–1545) ने 1540–45 के दौरान अरबी और नागरी लिपि के प्रयोग को बढ़ावा दिया। हालाँकि इस दौरान परगना स्तर पर फ़ारसी का प्रयोग भी आरम्भ हुआ किन्तु

आदेश नागरी लिपि में भी लिखे जाने लगे। श्रीश मानते हैं कि अरबी भारत में मूलतः धर्म की भाषा के रूप में आई। उनके अनुसार मस्जिदों के बाहर मुस्लिम भी अरबी का प्रयोग कम करते थे। फ़ारसी का ज़्यादा व्यापक इस्तेमाल होता था और यह ही धर्मनिरपेक्ष सम्भाषण की भाषा थी। यह भाषाई विविधता मुग़ल शासन में भी चलती रही जहाँ बाबर अरबी, फ़ारसी और तुर्की का विद्वान था वहीं हुमायूँ, फ़ारसी का सरलता से उपयोग कर सकता था और वह निजी रूप में तुर्की का प्रयोग भी करता था। इसी तरह जहाँगीर बहुभाषी था, वह कई स्थानीय और विदेशी भाषाएँ बोलता था। इतनी सारी भाषाओं के बीच दुभाषियों की भी उस समय राजा के दरबार में भूमिका थी। श्रीश भाषाई और सांस्कृतिक मेल-जोल व महिलाओं की इस समय की स्थिति के बारे में भी बात करते हैं। उनके अनुसार इस काल में महिला शिक्षा बुरी तरह से प्रभावित थी और उच्च वर्ग की महिलाएँ भी केवल अपने धर्म के चन्द धर्मग्रन्थ पढ़ सकती थीं। फ़ारसी में कार्य होने के कारण बहुत से लोग इसे सीखते थे और अट्ठारहवीं शताब्दी तक आते-आते फ़ारसी में पढ़ने वाले हिन्दुओं और मुस्लिमों की संख्या बराबर हो गई थी। आगे श्रीश कहते हैं कि फ़ारसी कुलीन वर्ग की ही भाषा रही, जिसे कुछ अन्य लोगों ने कुछ उद्देश्य से ही ग्रहण किया। उनका यह भी कहना है कि फ़ारसी कभी अपने शाही चोले से बाहर आकर सामान्य घरों में प्रवेश नहीं कर सकी।

श्रीश कहते हैं कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा से उत्पन्न दो भाषाई छोर हैं। जिस बाज़ारी हिन्दी में अरबी और फ़ारसी का प्रयोग अधिक होने लगा वह उर्दू कही जाने लगी और जिसमें ज़्यादा शब्द संस्कृत से लिए गए वह हिन्दी हो गई। पहले दोनों की लिपियाँ भी एक ही थीं। श्रीश भाषा और लिपि, मानक भाषा और इनसे सम्बन्धित मसलों पर भी बात करते हैं।

पुस्तक में हिन्दी और उर्दू की बहस और उनकी उत्पत्ति पर रोचक विमर्श है। उर्दू एक तुर्की शब्द है, जिसका अर्थ भीड़, जमघट या अस्त-व्यस्त बाज़ार हो सकता है। वैसे यह ओर्दू भी हो सकता है और ओर्दू का अर्थ सैन्य शिविर होता है। श्रीश बताते हैं कि तेरहवीं शताब्दी में भारत की लोकप्रिय और बाज़ारी भाषा को हिन्दी का नाम दिया गया। और यही भाषा मुग़ल सैन्य शिविरों की मुख्य भाषा बनी और उस सन्दर्भ में विकसित होती रही। विकसित होते-होते सत्रहवीं सदी तक आते-आते इसे उर्दू के रूप में जाना जाने लगा। श्रीश कहते हैं कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा से उत्पन्न दो भाषाई छोर हैं। जिस बाज़ारी हिन्दी में अरबी और फ़ारसी का प्रयोग अधिक होने लगा वह उर्दू कही जाने लगी और जिसमें ज़्यादा शब्द संस्कृत से लिए गए वह हिन्दी हो गई। पहले दोनों की लिपियाँ भी एक ही थीं। श्रीश भाषा और लिपि, मानक भाषा और इनसे सम्बन्धित मसलों पर भी बात करते हैं। वे बताते हैं कि लिपि और भाषा के बीच कोई एक से एक संगति का रिश्ता नहीं है। और हिन्दी में कई सारी भाषाओं को समाहित कर लिया गया है। वे एक उदाहरण जायसी की अवधी रचनाओं का देते हैं और बताते हैं कि उनकी लिपि देवनागरी नहीं थी, जबकि उन्हें हिन्दी का कवि माना जाता है। हिन्दी और उर्दू के विकास में नए शहर और वहाँ ग्रामीण क्षेत्रों से आए लोगों की भाषा और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण रहे। वे कहते हैं कि उर्दू दिल्ली के बाज़ार में पैदा हुई और मुग़ल सेना शिविरों में पली और बताते हैं कि अट्ठारहवीं शताब्दी के कई ब्रिटिश दस्तावेज़ इसे दिल्ली की ज़बान कहते हैं। भाषाई विकास की प्रक्रिया का यह वर्णन दर्शाता है कि भाषाओं में आदान-प्रदान होना एक सहज प्रक्रिया है, जब भी विभिन्न संस्कृतियाँ, समुदाय एक-दूसरे से मिलते हैं यह आदान-प्रदान होता ही है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि व्यापार, सत्ता केन्द्र, सेना व पलायन

का भाषा के विकास में योगदान रहा है। इसी सन्दर्भ में वे यह भी बताते हैं कि आम बाज़ारी हिन्दी से उर्दू व हिन्दी बनने की प्रक्रिया में हिन्दी वालों ने संस्कृत का ज़्यादा प्रयोग किया और उर्दू ने अरबी-फ़ारसी की ओर देखा। वे कहते हैं कि जहाँ यह बात है कि भाषाओं का आरम्भ जनसाधारण के बीच सामान्य स्थानों व सम्पर्क की परिस्थितियों में हुआ है, पर उनमें परिष्कार के कुछ और पहलू होंगें।

अध्याय चार में भारत पर अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी सम्पर्कों के प्रभावों का विश्लेषण है। इसमें मार्को पोलो (1254-1354) की सीलन द्वीप (वर्तमान श्रीलंका) और मालाबार (वर्तमान केरल) की यात्रा से वहाँ की स्थिति की झलक मिलती है और यह पता चलता है कि वहाँ यहूदी थे जो अपनी ही भाषा प्रयोग करते थे। श्रीश बताते हैं कि वास्को-डी-गामा (1469-1524) के भारत में आगमन से एक नया दौर शुरू होता है। सत्रहवीं सदी के अन्त तक यूरोपियों के साथ कई तरह का सम्पर्क व्यापारियों और पादरियों व उनसे जुड़े लोगों के आने से शुरू हुआ। इनमें पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अँग्रेज़ थे जो अलग-अलग क्षेत्रों में गए और बहुत से वहीं बस गए और कई तरह के व्यवसाय करने लगे। इसमें से कुछ उदाहरण डॉक्टर, पेंटर, सैन्य अधिकारी और सलाहकारों के कार्य के हैं। इस समय यूरोपीय छपाई मशीन भी आई और इससे आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में काफी मदद मिली। श्रीश यह भी बताते हैं कि अर्मेनियाई का भारत के साथ सम्पर्क ईसा से 150 वर्ष पूर्व से है। पुर्तगाली के साथ भारतीयों का प्रभावी सम्पर्क था, हालाँकि इन्हें फिरंगी कहा जाता था व अपने से अलग समझा जाता था। वे बताते हैं कि यह भारतीय क्षेत्रों में फैल नहीं पाए और इनका साम्राज्य भी ज़्यादा नहीं चला और इनका प्रभाव व उपस्थिति गोवा तक ही सीमित है। इसके बावजूद पुर्तगाली के अनेक शब्द भारत की आधुनिक भाषाओं में प्रयोग में शामिल हैं। यह शायद इसलिए क्योंकि सोलहवीं शताब्दी के शुरू में पुर्तगालियों ने भारतीय भाषा के प्रयोग का समर्थन किया और उसे सीखा। उनके लिए महत्त्वपूर्ण मकसद ईसाई धर्म व क्रॉस को फैलाना था। इसके लिए उन्होंने चर्च बनाए और चर्च तथा चर्च के बाहर मराठी और कोंकणी का प्रयोग किया। इससे वे स्थानीय समूहों तक पहुँच सके। किन्तु वह व्यापार व अन्य मसलों के स्थान पर धर्म फैलाने को ज़्यादा महत्त्व देते थे अतः वे स्थानीय लोगों से घुल-मिल नहीं पाए और उनके बीच प्रिय भी नहीं थे। उनका सैन्य पतन भी शीघ्र हो गया। उनका भारतीय भाषाओं से सम्पर्क धर्म केन्द्रित था और चर्च पर पुर्तगाली का इतना अधिक प्रभाव था कि शुरू में अँग्रेज़ पादरियों को भी पुर्तगाली सीखनी पड़ी क्योंकि चर्च का सभी कामकाज पुर्तगाली में ही होता था। पुर्तगालियों ने ईसाई धर्म के लिए रोमन लिपि में और बंगाली भाषा में सामग्री अनुदित और प्रकाशित की। मलयालम और तमिल में भी इस तरह की सामग्री बनी। किन्तु पुर्तगालियों ने मन्दिरों को तोड़ा और लूटा और इसीलिए वह काफी अलग-थलग भी पड़ गए। किन्तु भारतीय भाषाएँ अपनाने के कारण बहुत से पुर्तगाली दुभाषिए बने और कई पुर्तगालियों ने भारतीयों से शादी भी की और कई मिश्रित परिवार बने। श्रीश लिखते हैं कि भारत की भाषाओं के स्वरों ने पुर्तगाली को प्रभावित किया। साथ ही साथ पुर्तगाली के अनेक शब्द भारतीय भाषाओं में समाहित हो गए, चाहे वह हिन्दी हो या बंगाली। (पृ. 229) भारत में यूरोपीय

> भाषा में एक नया मुहावरा और अर्थ देने का कार्य भारत में धर्म प्रतिष्ठानों ने लम्बे समय से किया है। संस्कृत के विस्तार में भी यह देखा जा सकता है। उसके पश्चात संस्कृत के प्रभुत्व को चुनौती भी बौद्ध धर्म प्रतिष्ठानों के भाषाई प्रयोग से ही मिली। यह रोचक हो सकता है कि विभिन्न धार्मिक प्रतिष्ठानों के भाषाई संरचना में योगदान की भूमिका का अलग से आकलन हो।

भाषाओं के विकास की प्रक्रिया में विशेषकर पुर्तगाली भाषा को ईसाई पादरियों ने काफी आगे बढ़ाया। यह बात बार-बार आकर्षित करती है कि भाषा में एक नया मुहावरा और अर्थ देने का कार्य भारत में धर्म प्रतिष्ठानों ने लम्बे समय से किया है। संस्कृत के विस्तार में भी यह देखा जा सकता है। उसके पश्चात संस्कृत के प्रभुत्व को चुनौती भी बौद्ध धर्म प्रतिष्ठानों के भाषाई प्रयोग से ही मिली। यह रोचक हो सकता है कि विभिन्न धार्मिक प्रतिष्ठानों के भाषाई संरचना में योगदान की भूमिका का अलग से आकलन हो। वर्तमान में जो नए आश्रम धर्मगुरुओं ने बनाए हैं उन्हें भी इस दृष्टि से देखने की आवश्यकता तो बनती है।

पाँचवां अध्याय ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारतीय भाषाओं के साथ सम्बन्ध व उसके उन पर प्रभाव के बारे में है। श्रीश के अनुसार अँग्रेज़ ईसाईयत के प्रचार से दूर रहे पर उन्होंने व्यवस्थित तौर पर अपनी भाषा व यूरोपीय ज्ञान का प्रसार किया। जहाँ एक ओर उन्होंने हिन्दू मन्दिरों व मस्जिदों को बनने से नहीं रोका वहीं दूसरी ओर उन्होंने संस्कृत व अरबी के अध्ययन को प्रोत्साहन देना धीरे-धीरे बन्द कर दिया। श्रीश की राय में वे भारतीय संस्कृति के प्रति अधिक उदार थे हालाँकि यह सही नहीं माना जा सकता क्योंकि इस उदारता के पीछे क्या समझ थी यह कहना मुश्किल है। अँग्रेज़ कम्पनी अपने अधिकारियों को देशज भाषाएँ सीखने के लिए कहती थी और कई महत्त्वपूर्ण अँग्रेज़ पदाधिकारी स्थानीय भाषाओं के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी व अँग्रेज़ों से भारतीयों का सम्पर्क इसलिए भी बढ़ा चूँकि कम्पनी ने कुलीन व बाकी भारतीयों के लिए अलग-अलग तरह की नौकरियों की सम्भावना भी खोली। इससे वे अँग्रेज़ों के व उनके तौर-तरीक़ों के सम्पर्क में भी आए। कम्पनी में काम के बारे में एक बात जो उनको अच्छी लगती थी वह समय पर व नियमित वेतन मिलना था, जिससे कार्य के लिए एक आदर का भान होता था। अँग्रेज़ों ने बड़ी संख्या में भारतीयों की नियुक्तियाँ कीं परन्तु वे यहाँ के सामाजिक, रूढ़िगत, धार्मिक परम्पराओं को छूने को लेकर बहुत सतर्क थे। अतः नौकरियाँ जाति के आधार पर ही मिलती थीं। उदाहरण के लिए श्रीश बताते हैं कि उच्च पदों के लिए केवल उच्च जाति के हिन्दू चुने जाते थे और दासोचित कार्य के लिए निम्न जाति के हिन्दू और इनमें भी सबसे निकृष्ट कार्य, जैसे मेहतर का काम अछूत ही कर सकते थे। इन पदों में अंतर्स्थापना की भी गुंजाइश नहीं थी और जिस कार्य के लिए आपको पद मिला था उसी तरह के काम को आप करते रह सकते थे। इस सबसे और आपसी बातचीत की अवश्यकता से उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत के विभिन्न भागों में खिचड़ी-अँग्रेज़ी का आविर्भाव होने लगा था।

> भारतीय भाषाओं के प्रति कम्पनी के लोगों का दृष्टिकोण बदलता व विकसित होता रहा और एक ही समय पर उनके बीच इसको लेकर विवाद भी रहा था यह भी ज्ञात है। यह बात श्रीश की किताब के अलावा कई और स्रोतों से भी मिलती है। अँग्रेज़ी शासकों ने कई तरह के हिन्दू और मुस्लिम संस्थानों को स्वीकृति दी और स्थापित होने में सहयोग किया।

वैसे अट्ठारहवीं शताब्दी के दौरान व उसके बाद से क्रमशः बढ़ते स्तर तक भारतीय भाषाओं में अँग्रेज़ी ज्ञान की शिक्षा एवं समाचार पत्र के प्रकाशन को प्रोत्साहित किया। अँग्रेज़ी सम्पर्क के लिए भारत में बिचौलियों की ज़रूरत फिर भी रहती थी। इनसे कई तरह की अपेक्षाएँ थीं और चूँकि इस भूमिका के लिए कई तरह की क्षमताएँ अनिवार्य थीं अतः इनका चुनाव व तैयारी कड़ाई से होती थी और इनका मानदेय आदि भी अच्छा होता था। वे कहते हैं इस समय प्रशासकीय कार्य में भी भारतीय भाषाओं का उपयोग होता था और इनमें हिन्दुस्तानी का विशेष स्थान था चूँकि वह काफी संख्या में लोगों द्वारा समझी

जाती थी। हिन्दुस्तानी में छपने वाली किताबें सरलता से सम्भव रोमन लिपि से शुरू होकर धीरे-धीरे देवनागरी लिपि में छपने लगीं।

भारतीय भाषाओं के प्रति कम्पनी के लोगों का दृष्टिकोण बदलता व विकसित होता रहा और एक ही समय पर उनके बीच इसको लेकर विवाद भी रहा था यह भी ज्ञात है। यह बात श्रीश की किताब के अलावा कई और स्रोतों से भी मिलती है। अँग्रेज़ी शासकों ने कई तरह के हिन्दू और मुस्लिम संस्थानों को स्वीकृति दी और स्थापित होने में सहयोग किया। इस दौरान एक ओर तो भारतीय भाषाओं के टाइप होने की सम्भावना धीरे-धीरे बनी, कई शब्दकोष बने जो कि द्विभाषी ही नहीं त्रिभाषी भी थे वरन बहुत-सी पुस्तकों के अनुवाद भी हुए। वे यह भी बताते हैं कि अनुवाद की सरलता और बोधगम्यता पर ज़ोर था और देशज़ भाषाओं के शब्द उपयोग करने पर भी, किन्तु मानक भाषा व संस्कृत के महत्त्व को भी इस प्रयास ने स्थापित किया। सुझाव यह था कि जहाँ-जहाँ कोई शब्द न मिले वहाँ दूसरी भारतीय भाषाओं में शब्द न खोजकर फ़ारसी और संस्कृत के शब्दों की ओर देखना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी में कई नए उच्च शिक्षा के संस्थान बने और भारतीय भाषाओँ में छपाई का काम भी शुरू हुआ। इससे यह पुस्तकें ज़्यादा लोगों तक पहुँचने लगीं।

अँग्रेज़ी का प्रसार धीमे-धीमे शुरू हुआ और यह मुश्किल भी रहा क्योंकि कम्पनी के लोगों के बीच इस पर मतैक्यता नहीं थी। परन्तु यह कह सकते हैं कि एक बार शुरू होने के बाद इसका प्रसार तीव्र रहा। जैसा श्रीश कहते हैं शुरू के काफ़ी समय तक अँग्रेज़ी के प्रयोग पर ज़ोर नहीं था और उससे बचा जाता था और वे भारत में अँग्रेज़ी शिक्षा के खिलाफ़ थे।

अगला अध्याय 'ईस्ट इंडिया कम्पनी और अँग्रेज़ी भाषा' भारत में अँग्रेज़ी भाषा के धीरे-धीरे बढ़ते प्रभाव व उसके कारणों पर केन्द्रित है। जैसा श्रीश ने पहले भी कहा है अँग्रेज़ों ने इस मामले में फूँक-फूँककर कदम रखे। वे कहते हैं कि अँग्रेज़ी का प्रसार धीमे-धीमे शुरू हुआ और यह मुश्किल भी रहा क्योंकि कम्पनी के लोगों के बीच इस पर मतैक्यता नहीं थी। परन्तु यह कह सकते हैं कि एक बार शुरू होने के बाद इसका प्रसार तीव्र रहा। जैसा श्रीश कहते हैं शुरू के काफी समय तक अँग्रेज़ी के प्रयोग पर ज़ोर नहीं था और उससे बचा जाता था और वे भारत में अँग्रेज़ी शिक्षा के खिलाफ़ थे। इसका एक कारण अमरीका का आन्दोलन के बाद स्वतंत्र हो जाना हो सकता है। कम्पनी के अफ़सरों व अन्य सभी अँग्रेज़ लोगों को देशज भाषाएँ सीखने को प्रेरित किया जाता था और यह उनके लिए आवश्यक था। सत्रहवीं और काफी हद तक अठारहवीं सदी तक अँग्रेज़ी ईस्ट इंडिया के कारखानों तक ही सीमित थी। राज का अधिकांश काम देशज भाषाओं में ही होता था और उसमें भी हिन्दुस्तानी प्रमुख थी। अट्ठारहवीं शताब्दी में शुरू हुए अनुवादों व छपाई की सम्भावना ने और ग्रांट व उस जैसे अन्य लोगों के भारतीयों को अँग्रेज़ी ज्ञान से परिचित कराने की बात पर ज़ोर देने से अँग्रेज़ी के प्रसार की बात ने कुछ ज़ोर पकड़ा जो अगली शताब्दी में और तेज़ हुई। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से अँग्रेज़ी ने पसन्दीदा विदेशी भाषा के रूप में पुर्तगाली का स्थान लेना शुरू किया। ग्रांट, बैंटिक, मैकाले जैसे अँग्रेज़ अधिकारियों व राजाराम मोहन राय व राजाओं व अन्य प्रभावशाली लोगों ने अलग-अलग कारणों व अलग-अलग ढंग से अँग्रेज़ी व उसके ज्ञान के प्रसार पर ज़ोर दिया। इस प्रसार के कारण व ध्येय और उसे किस तक पहुँचाना है इस बारे में इन सभी की अलग-अलग दृष्टि थी। फिर भी भारत में अँग्रेज़ी के फैलाव व विकास में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। श्रीश मैकाले के बारे में विस्तार से बात करते हैं और बताते हैं कि मैकाले ने ज्ञान व भाषा के क्षेत्र में एक बड़ा हस्तक्षेप किया और

बड़े बदलाव शुरू किए। जैसा कि ऊपर बात हुई इससे नए समूहों का उदय हुआ जिनके लिए अँग्रेज़ी व यूरोपीय ज्ञान आर्थिक और सामाजिक वर्चस्व से जुड़ा था। मैकाले व उसके पहले व बाद के उसी तरह की विचारधारा के समर्थक यह मानते थे कि यूरोपीय जीवन पद्धति ज़्यादा विकसित है। वे चाहते थे कि भारत मूर्तिपूजा व ऐसी अन्य कुरीतियों से बाहर आए और उसमें लिबरल विचार फैलें। उनके अनुसार यह सब वे भारतीयों को अज्ञानता व ग़लत की ज़कड़न से निकालने के लिए कर रहे थे और इसमें उन्हें बहुत से भारतीयों का समर्थन था। इस बहस में दोनों तरफ़ भारतीय व अँग्रेज़ विद्वान, अध्येता, प्रशासक व नेता थे। इस ऊहापोह में ही भारत का अँग्रेज़ी के साथ रिश्ता तय हुआ।

इस सब में आर्थिक कारणों व हितों ने मदद की। इसके बारे में श्रीश कहते हैं कि एक धारणा यह भी है कि उच्च वर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों ने अँग्रेज़ी सीखना बाद में शुरू किया। वे बताते हैं कि कुछ लोग यह सिद्धान्त रखते हैं कि उच्च वर्ग नई भाषा से आख़िर में जुड़ते हैं पर एक बार जुड़ जाएँ तो छोड़ते भी नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार नवयुवक और गैर-कुलीन वर्ग किसी नई भाषा को सबसे पहले अपनाते हैं और पुरानी को सबसे पहले छोड़ते हैं। यह शायद इसलिए कि गरीब व पिछड़े लोगों को उस नई भाषा के उपयोग की ज़रूरत सबसे पहले पड़ती है। भारत में कुलीन लोगों ने अच्छी नौकरियों, धन्धों व उच्च यूरोपीय शिक्षा हासिल करने के लिए अँग्रेज़ी व उसकी शिक्षा के विरुद्ध अपनी प्रवृत्ति को बदला और उसे सीखा और अपने परिवारों में उसके फैलाव पर ज़ोर दिया। अँग्रेज़ी जानने वालों के लिए आर्थिक व्यवस्था में उपलब्ध बेहतर मौक़ों के कारण उन्होंने एक ओर तो अपने परिवारों को आगे बढ़कर सिखाया ही परन्तु कुछ ने इसके दायरों को अन्य लोगों के लिए भी खोलने का प्रयास किया। जैसा कि हम देख सकते हैं कि भाषा और शिक्षा के प्रश्न पर अनिर्णय और दुविधा का दौर बना रहा ही है। श्रीश इसकी ओर इस अध्याय में ध्यान आकर्षित तो करते हैं पर इसका ज़्यादा विवेचन उपसंहार में करते हैं। हालाँकि वहाँ भी वे कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं, उन पर विवादों और सम्बन्धित वक्तव्यों को छोड़ देते हैं।

श्रीश कहते हैं कि एक धारणा यह भी है कि उच्च वर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों ने अँग्रेज़ी सीखना बाद में शुरू किया। वे बताते हैं कि कुछ लोग यह सिद्धान्त रखते हैं कि उच्च वर्ग नई भाषा से आख़िर में जुड़ते हैं पर एक बार जुड़ जाएँ तो छोड़ते भी नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार नवयुवक और गैर-कुलीन वर्ग किसी नई भाषा को सबसे पहले अपनाते हैं और पुरानी को सबसे पहले छोड़ते हैं।

आखिरी अध्याय उपसंहार में वे भारत में आज अँग्रेज़ी के प्रयोग, स्थान और उसकी बहस के बारे में बात करते हैं और अँग्रेज़ी व अन्य विदेशी भाषाओं की भारत में स्थिति की तुलना करते हैं। वे कहते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के बाद से अँग्रेज़ी का निरन्तर विस्तार हुआ है, और अभी भी हो रहा है और अँग्रेज़ी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वे यहाँ भारतीय साहित्य व यहाँ के लेखकों व उनके बीच की दुविधा व द्वन्द्व को भी सामने रखते हैं। उसके एक प्रतिनिधि के रूप में वे हिन्दी-उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार के माध्यम से यह कहते हैं कि अँग्रेज़ी भाषा ने हमारी इच्छाशक्ति एवं हमारी शक्ति को ऐसा बन्दी बना दिया कि उनमें से दोनों ने स्वतंत्र रूप से कार्य करने की क्षमता खो दी। हमारा शिक्षित वर्ग उस जुए को अपने गले का बहुमूल्य पुष्पहार समझने को बाध्य है। वे बताते हैं कि बहुत से लोग जिसमें गांधी भी शामिल हैं चाहते थे और उम्मीद करते थे कि स्वतंत्रता के बाद अँग्रेज़ी का प्रयोग कम होगा।

श्रीश चौधरी की यह टिप्पणी आज की स्थितियों की अधिक सटीक व्याख्या करती

है: "यह बिना घण्टी बजाए चुपचाप वहाँ पहुँच चुकी है। प्रायः सभी कुलीन शहरी घरों में एवं कई गैर-कुलीन, गैर-शहरी घरों में भी भारतीय भाषाओं का प्रयोग घर में भी कुछ स्थितियों में सिमटकर रह गया है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ बड़े व्यापार, शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान, खेलकूद, तकनीकी आदि जैसे प्रतिष्ठा के क्षेत्रों से बाहर हो गई हैं।" (पृ. 429)

श्री चौधरी की यह पुस्तक मूलतः भारत में विदेशी भाषा और विदेशी लोगों के भारत के लोगों के साथ अन्तर्क्रिया (इंटरेक्शन) का इतिहास है। जो लम्बे दौर को रिकॉर्ड करता है और विस्तार से करता है, जिसमें राजनीति, धर्म, अर्थव्यवस्था और समाज की अलग-अलग प्रक्रियाओं के प्रामाणिक वर्णन हैं।

यहाँ एक और विश्लेषण भी होना चाहिए था कि स्वतंत्र भारत में और भी भाषाओं का सम्पर्क बढ़ा है। उनके प्रयोगकर्ता कौन हैं? नई प्रविधियाँ भी पिछले वर्षों में विकसित हुई हैं जो केवल जनसम्पर्कों से ही जुड़ी हैं और एक नया भाषा विन्यास बना रही हैं, और साथ ही नई सामाजिक संरचनाएँ भी। इसी नए का विस्तार से अध्ययन, भाषाविज्ञों और समाज विज्ञान के अपने सम्बन्धों को और शोध दीक्षाओं को नया रूप देगा। यहीं से इस अध्ययन की सामाजिक इतिहास की दृष्टि नए क्षेत्र को तय करने की ऊर्जा भी देगी।

अरुण चतुर्वेदी राजनीति शास्त्र के अध्येता है। वे मोहनलाल सुखाड़िया विश्व विद्यालय उदयपुर और कोटा ओपन विश्व विद्यालय में राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और भारतीय राजनीति पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन करते हैं।
सम्पर्क : ar11jan@yahoo.co.in

समावेशीकरण और संसाधन के सवाल

सुकन्या बोस, प्रियन्तो घोष और अरविन्द सरदाना

यह आलेख शिक्षा अधिकार के कार्यान्वयन के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों के आकलन पर आधारित एक शोध संक्षेपिका है। शोधकर्ताओं ने स्कूल स्तर को आकलन की आधार यूनिट बनाया है क्योंकि शिक्षा अधिकार अधिनियम के मापदण्डों को प्रत्येक स्कूल स्तर पर लागू होना चाहिए। लेख में समावेशीकरण को सार्वभौमीकरण के परिप्रेक्ष्य से देखा गया है, जिसमें हर बच्चे का महत्त्व है। समावेशीकरण के सम्बन्ध में वित्तीय संसाधनों की पर्याप्तता पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। सं.

शिक्षा का अधिकार (आरटीई) अधिनियम-2010 एक प्रबल साधन है, जो प्रत्येक बच्चे को उसके आयु वर्ग के अनुरूप ऐसे औपचारिक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार देता है, जो नियत अनिवार्य मानदण्डों को पूरा करता हो। प्रणाली की सार्थकता प्राथमिक शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय एवं निवेश पर निर्भर करती है। यद्यपि आरटीई अधिनियम विशिष्ट वित्तीय प्रावधान नहीं सुझाता है, तथापि उसमें सरकारों द्वारा पालन की जाने वाली प्रक्रियाओं के लिए महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद दिए गए हैं। इस अधिनियम के अनुसार 'अधिनियम के कार्यान्वयन के लिए पूँजी और आवर्ती व्यय के अनुमान तैयार करना (अध्याय 3, धारा 7)' केन्द्र सरकार के कर्त्तव्यों में शामिल किया गया है। यह इसलिए आवश्यक है ताकि वित्तीय आवश्यकताओं का ख़ाका तैयार हो, और इसे केन्द्र एवं राज्यों के बीच साझा करने का तरीक़ा विकसित किया जा सके। अधिनियम के अनुसार, अनुमानित आवश्यकता के आधार पर केन्द्र सरकार, राज्य सरकार से परामर्श कर निर्धारित व्यय का कुछ प्रतिशत राज्य को प्रदान करेगी।

सार्वभौमीकरण के लिए वित्तीय आवश्यकताओं का पिछला अनुमान 2009-10 में लगाया गया था। यह उस समय की बात है जब अधिनियम वजूद में आया था। उसके बाद से संसाधन की ज़रूरतों का अनुमान लगाना मानो चलन से बाहर हो गया है। इसके एक दूसरे से जुड़े कई कारण हैं। आमतौर पर सरकारी हलक़ों में यही बताया जाता है कि संसाधनों का प्रावधान करने में आने वाली कमियों को पहले ही दूर किया जा चुका है। अपने त्रिवर्षीय एजेण्डा में नीति आयोग (2017) का कहना है, ''सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) और आरटीई अधिनियम जैसी पहल के माध्यम से, भारतीय स्कूल प्रणाली ने इनपुट को मापने और वितरित करने पर ध्यान केन्द्रित किया है, और इसमें वह काफ़ी हद तक सफल भी रही है...। आज का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य सीखने के परिणामों में सुधार करना है।'' जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह वक्तव्य सत्य से कोसों दूर है। अभी भी शिक्षा के मूलभूत अधिकारों की प्राप्ति में बड़ी कमियाँ मौजूद हैं, जिन्हें दूर करने के लिए पर्याप्त सरकारी ख़र्च की ज़रूरत है। मानदण्डों को स्कूल के स्तर पर खरा उतरना चाहिए, ऐसे में औसत उपलब्धि पर्याप्त नहीं है। एक समानान्तर तर्क विभिन्न राज्य सरकारों के ख़र्च करने की क्षमता में कमी को सामने रखता है। चूँकि अवशोषक क्षमता

सीमित है इसलिए संसाधनों को आवृत करने से भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा। अधिकांश पिछड़े राज्यों में सामान्य से कम ख़र्च देखा गया है। बेहतर परिणामों के लिए पूरा ध्यान प्रशासन तन्त्र पर केन्द्रित हो गया है। हम इस परिप्रेक्ष्य को सही नहीं समझते हैं। संसाधनों का कम उपयोग कार्यान्वयन का एक मुद्दा है। परन्तु संसाधनों की आवश्यकता को इससे जोड़ना सही नहीं है। यह तो ग़रीबी के लिए ग़रीबों को दोष देने के समान है। जबकि कार्यान्वयन को योजना के डिज़ाइन का अन्तर्निहित हिस्सा होना चाहिए, जैसा कि चक्रवर्ती (1987) तर्क देते हैं। एक अच्छी योजना न केवल वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पथ प्रदर्शित करती है बल्कि ऐसे व्यवहारगत प्रतिरूपों का नक्शा भी खींचती है जो व्यवस्था को निर्धारित लक्ष्य तक ले जा सकते हैं। कार्यान्वयन में विफलता के ऐसे कई कारण हो सकते हैं, जो माँग की कमी से कतई सम्बन्धित नहीं हैं, जैसे कि नियोजन प्राधिकरण द्वारा प्रतिक्रिया में विलम्ब, ऐसी एजेन्सियों के उत्साह या क्षमता में कमी जिनके माध्यम से नियोजन प्राधिकरण योजनाओं को लागू करते हैं, प्रणाली की वर्तमान संरचना की कम समझ, कार्य में शामिल लोगों के बीच समन्वय का अभाव, आदि। ख़र्च करने में राज्य के संस्थानों की असमर्थता इस बात का संकेत नहीं है कि संसाधनों की आवश्यकता ही नहीं है।

सार्वजनिक व्यय के सन्दर्भ में एक और लोकप्रिय तर्क अकसर दिया जाता है– सार्वभौमीकरण के लिए उपलब्ध सरकारी संसाधनों की कमी। इसके परिणाम स्वरूप बाज़ार आधारित समाधान ही विकल्प मान लिया जाता है। इसका मतलब यह है कि सरकारी संसाधनों के साथ प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण अव्यवहार्य है। जैन एवं ढोलकिया (2009) के अनुसार यदि निर्भरता पूरी तरह या मुख्यत: सरकारी स्कूल प्रणाली पर हो तो बजट में शिक्षा के लिए जीडीपी का 6 प्रतिशत का आवंटन भी सार्वभौमिक स्कूली शिक्षा को वित्त पोषित करने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। जैन एवं ढोलकिया ने आगे यह सुझाव भी दिया कि आरटीई के दायित्वों को पूरा करने के लिए कम फ़ीसवाले निजी स्कूलों या अनौपचारिक शैक्षणिक केन्द्रों पर भरोसा करना ही एकमात्र तरीक़ा है। लेकिन ऐसा करना आरटीई के मूल भाव को ही पलट कर रख देगा। कटु आलोचनाओं के बावजूद (सारंगपानी, 2009; जैन और सक्सेना, 2010) इस तर्क ने नीति सम्बन्धी हलक़ों में शामिल कई लोगों को प्रभावित किया है जो आरटीई द्वारा निर्धारित मानदण्डों से निजी क्षेत्र की तथा-कथित बन्धन मुक्ति के पक्षधर हैं।[1]

हमारा अध्ययन

आरटीई के ढाँचे का उपयोग करके, प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण के लिए मानक संसाधन की आवश्यकता के आकलन का प्रयास किया गया है। आकलन का आधार यूनिट स्तर का डेटा है क्योंकि आरटीई मानदण्डों को प्रत्येक स्कूल में लागू होना चाहिए। संसाधन की आवश्यकता का सावधानीपूर्वक किया गया आकलन, जिसमें मानकों की स्पष्ट और पारदर्शी धारणाएँ हों, एक आवश्यक सन्दर्भ बिन्दु है। इससे मानक आवश्यकता की तुलना में व्यय के मौजूदा स्तरों की पर्याप्तता का मूल्यांकन करने का मौक़ा मिलता है। मानक से वास्तविक व्यय की दूरी उस अन्तर का परिमाण उपलब्ध कराती है जिसे पाटने की आवश्यकता है। जब मानक में सुधार कर लिया जाता है, तो मानक संसाधन की आवश्यकताओं के घटकवार अनुमान की रूपरेखा संसाधन की आवश्यकताओं के आकलन में भी सहायक होती है। अन्ततः नए सिरे से शुरुआत करते हुए और दत्त-सामग्री (डेटा) के अस्त-व्यस्त समुच्चयों से होकर गुज़रते हुए संसाधन की आवश्यकता का अनुभवजन्य विश्लेषण ही वह एकमात्र रास्ता है जिस पर चलकर वर्तमान विमर्श के साथ गम्भीरता से जुड़ा जा सकता है। यही हमारा मुख्य उद्देश्य है।

1. देखें पैरा 20.18, नीति आयोग (2017)।

उचित मानदण्डों का चयन

मानक संसाधन की आवश्यकता का आकलन करने के लिए हम उचित मानदण्डों के समुच्चय की तलाश से शुरुआत करेंगे। विद्यालय के संचालन के सबसे महत्त्वपूर्ण इनपुट के लिए भौतिक मानदण्ड आरटीई अधिनियम द्वारा परिभाषित किए गए हैं। वित्तीय मानदण्डों के लिए सम्बन्धित साहित्य में सुझाए गए व्यापक दिशा-निर्देशों का उपयोग करके रूपरेखा निर्मित की गई है।

प्राथमिक शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के लिए वित्तीय आवश्यकताओं पर विशेषज्ञ समूह की रिपोर्ट (तपस मजूमदार समिति या टीएमसी) ने नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में संसाधन का अनुमान लगाने में एक नया चलन स्थापित किया। टीएमसी ने स्कूल से वंचित लाखों बच्चों के लिए अनौपचारिक या अंशकालिक शिक्षा के सस्ते प्रकार उपलब्ध कराए जाने के विचार को ख़ारिज कर दिया था। समिति ने यह भी स्पष्ट किया कि पूरी तरह से योग्य और उचित वेतन पाने वाले शिक्षकों का कोई अन्य विकल्प नहीं है। समिति ने यह भी स्पष्ट किया कि एक अच्छी तरह से काम करने वाली स्कूल प्रणाली के लिए आवश्यक सहायता और जवाबदेही संरचनाएँ ज़रूरी हैं। अधिक पारदर्शिता, जवाबदेही और आन्तरिक दक्षता के लिए घटकवार मानदण्डों को परिभाषित किया गया। वीके रामचन्द्रन एवं अन्य (1997) द्वारा किए गए एक अन्य अध्ययन ने संसाधन की आवश्यकता को देखने का एक नया तरीक़ा प्रस्तुत किया। मौजूदा सरकारी व्यय के बहिर्वेशन (एक्स्ट्रापोलेटिंग) की प्रचलित विधि की समीक्षा करते हुए लेखकों ने बताया कि लागत के लिए प्रतिनिधि रूप में पिछले व्यय का उपयोग सेवाओं के मौजूदा मानकों के अनुमान से अधिक कुछ नहीं दे सकता है। इसके बजाय लेखकों ने प्रति बच्चे व्यय के मानक को स्थापित करने के लिए वास्तविक लागत का उपयोग किया, जिसे साक्षात्कार विधि से ज्ञात किया गया।

हमने मानदण्डों का चयन करने के लिए उपर्युक्त व्यापक सिद्धान्तों को अपनाया है। मानक स्पष्ट रूप से घटकों के अनुसार परिभाषित और समान रूप से लागू किए गए हैं। वित्तीय मानदण्डों का चयन इस प्रकार किया गया है जिससे सरकारी व्यय के मौजूदा स्तरों की बजाय आवश्यक लागतों को पूरा किया जा सके।

केन्द्रीय विद्यालय

संसाधन की आवश्यकता का एक सुविधाजनक सन्दर्भ बिन्दु केन्द्रीय विद्यालयों (केवी) द्वारा किया गया प्रति बालक / बालिका व्यय है (सीबीजीए, 2011)। आख़िरकार, सरकारी स्कूलों (गवर्नमेण्ट स्कूल-जीएस) में केन्द्रीय विद्यालय शिक्षा का सबसे सन्तोषजनक स्तर प्रदान करते हैं। केन्द्रीय विद्यालय में प्रवेश की माँग अब भी बहुत अधिक है। बाज़ार के बढ़ते विकल्पों के बावजूद केवी ने अपना स्तर बनाए रखा है। फिर भी, निम्नलिखित कारणों से केवी को मानक के रूप में नहीं लिया जा सकता है। ऐतिहासिक रूप से, केवी एक योजना के तहत विकसित किए गए थे। इस योजना में केन्द्र सरकार की सेवाओं के तहत स्थानान्तरित होने वाले कर्मचारियों के बच्चों को अपनी ही संरचनाओं और संस्थानों के ज़रिए शिक्षा प्रदान कराना था। केवी की संरचना बड़े आकार के समग्र स्कूलों की है (औसत स्कूल आकार में 1000 बच्चों से अधिक और न्यूनतम आवश्यक आकार में 200 बच्चे है), जो उसकी आवश्यकताओं को गाँव के एक छोटे सरकारी प्राथमिक या उच्च प्राथमिक स्कूल से बहुत अलग बनाती है। लागत घटकों में भी भिन्नता है। केवी मुफ़्त शिक्षा प्रदान नहीं करते हैं, और न ही विद्यार्थियों को पाठ्यपुस्तकें, यूनिफ़ॉर्म और मध्याह्न भोजन देते हैं।

केन्द्रीय विद्यालय की लागत का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा कर्मचारियों के लिए आवासीय क्वार्टर प्रदान करने में जाता है जबकि आरटीई में इसके लिए कोई जगह नहीं है। केवी के पास शिक्षा और प्रशिक्षण के क्षेत्रीय संस्थानों के

माध्यम से प्रशिक्षण की अलग प्रणाली है, और वह नियमित शैक्षिक नौकर शाही की बजाय केन्द्रीय विद्यालय संगठन द्वारा प्रशासित किया जाता है। केवी में प्रवेश स्तर पर ग़ैर-अनुदानित निजी विद्यालयों की तरह 25 प्रतिशत सीट कमज़ोर वर्ग के बच्चों के लिए आरक्षित हैं। एक अलग प्रकार की लागत संरचना का मतलब है कि केन्द्रीय विद्यालय हमारे उद्देश्य के लिए अनुपयुक्त हैं।

हमारे लिए, बेहतर प्रदर्शन करने वाले राज्यों और एसएसए जैसे कार्यक्रमों के अनुभव सार्वभौमीकरण के मानदण्डों की बात को अधिक प्रासंगिक सन्दर्भ प्रदान करते हैं। मानदण्डों की खोज करते हुए हमने यह जानना चाहा कि अनुभव के अनुसार क्या प्रचलित मानदण्ड कार्य व्यवहार में प्रभावी रहे हैं या उनके पुनरीक्षण की आवश्यकता है। व्यवस्था को एक वांछनीय स्थिति में लाने के लिए और क्या आवश्यक है? कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ मानक तैयार करने के लिए आईं। अन्त में, हमें यह स्वीकार करना पड़ा कि मानदण्डों के चयन में व्यक्ति परक निर्णय भी शामिल हैं। हमने इन धारणाओं को समझाने का प्रयास कियाहै।

अनुमान के लिए कार्यपद्धति

निम्नलिखित बिन्दु कार्यपद्धति[2] को मोटे तौर पर परिभाषित करते हैं:

1. अनुमानों में सरकारी स्कूलों– जिनमें निजी अनुदानित स्कूल भी शामिल हैं (जीएस एण्ड ए)– में नामांकित बच्चों के साथ ही उन बच्चों पर भी विचार किया गया है जो स्कूल से बाहर (ओएससी) हैं। हमने यह माना है कि ओएससी (आउट ऑफ़ स्कूल चिल्ड्रेन) को सरकारी स्कूलों में समायोजित किया जाएगा। यह असम्भाव्य है कि मौजूदा ओएससी सहित विद्यालय छोड़ चुके (ड्रॉप आउट) बच्चे निजी विद्यालयों का शुल्क दे पाएँ।

2. स्कूल के संचालन की लागत (स्कूल स्तर) और स्कूल का अच्छी तरह कार्य करना सुनिश्चित करने वाली सहायक प्रणाली (व्यवस्था स्तर) के घटकों की पहचान की गई है।

3. यह पर्याप्त नहीं है कि केवल विद्यार्थियों के अनुपात में शिक्षक (पीटीआर– प्युपिल टीचर रेश्यो) का मानक अथवा विद्यार्थियों के अनुपात में कक्षा कक्ष का मानक सम्पूर्ण राज्य या ज़िला या यहाँ तक कि ब्लॉक के स्तर पर भी सन्तोषप्रद हो, बल्कि प्रत्येक स्कूल को आरटीई मानदण्डों का पालन करना ही है। नामांकन, आधारभूत संरचना, शिक्षकों इत्यादि के वर्तमान स्तर के लिए ज़िला शिक्षा सूचना प्रणाली (डीआईएसई– डिस्ट्रिक्ट इनफ़ॉर्मेशन सिस्टम फ़ॉर एजुकेशन) के स्कूल स्तर के डेटा का उपयोग करते हुए प्रत्येक स्कूल में प्रत्येक घटक की आवश्यकता की गणना की गई।

4. लेखांकन के दृष्टिकोण से पूँजी और आवर्ती लागत के बीच अन्तर करना महत्त्वपूर्ण है। निवेश की ज़रूरतों तक पहुँचने के लिए पूँजीगत लागत के अनुमानों को प्रत्येक स्कूल में पहले से मौजूद बुनियादी ढाँचे और उसकी तुलना में आवश्यकता पर विचार करना होगा। आवर्ती लागत के घटकों के लिए समग्र आवश्यकता की जानकारी प्रासंगिक है। पूँजी और आवर्ती लागत के घटक नीचे आरेख में दिखाए गए हैं।

5. शिक्षकों का वेतन आवर्ती लागत का प्रमुख हिस्सा होता है। यह मान बहुत ही सावधानी से चुना गया है ताकि सार्वभौमिक रहे और सभी को सन्तोषप्रद एवं सम्मानजनक वेतन प्रदान किया जा सके। बहुत उच्च वेतनमान राज्यों को पैरा शिक्षकों की ओर ले जाएगा और पर्याप्त संख्या में नियमित भर्ती न करने के लिए प्रोत्साहित करेगा। हमने सभी राज्यों में समान वेतनमान माना है। हमने जिस वेतनमान का उपयोग किया है वह कुछ इस प्रकार है : 5200-20200 रुपए ग्रेड वेतन 2800 (प्राथमिक

[2] कार्यपद्धति और डेटा पर विस्तृत चर्चा के लिए देखें बोस, घोष और सरदाना (2017, 2019)।

योजनाबद्ध आरेख : विद्यालय शिक्षा की लागत के संघटक

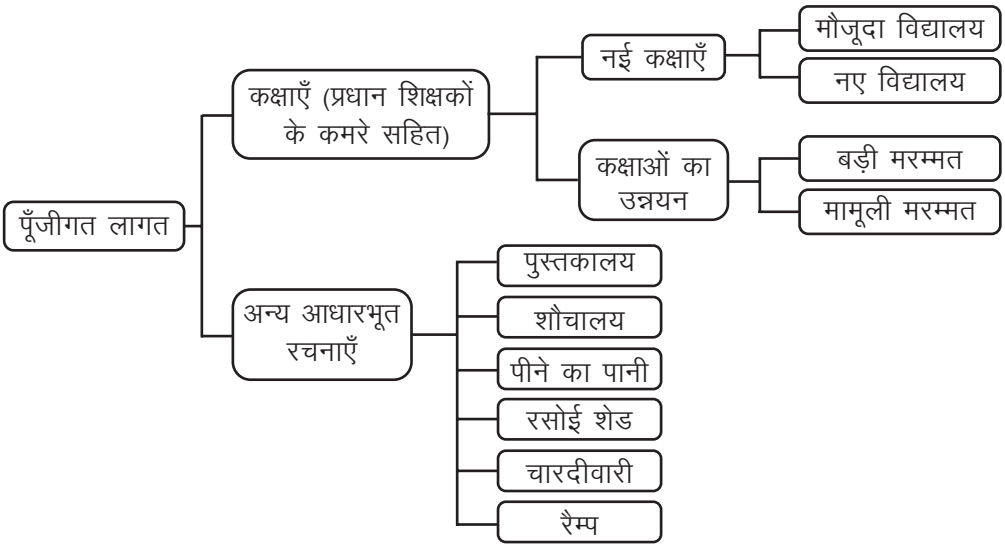

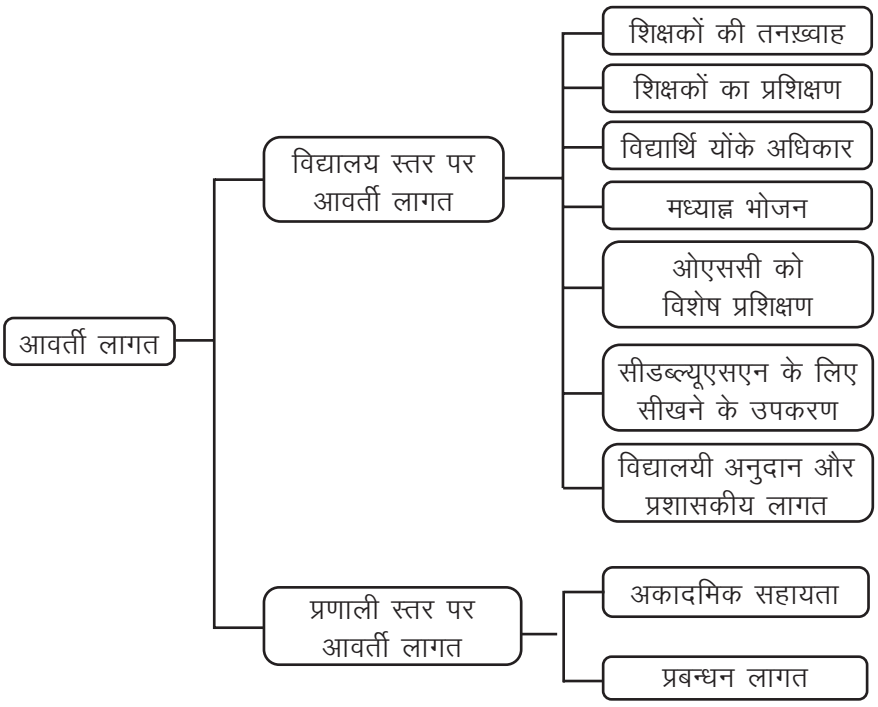

विद्यालय-पीएस) और 5200-20200 रुपए ग्रेड वेतन 3200 (उच्च प्राथमिक विद्यालय-यूपीएस) और साथ में भत्ता अलग। यह वेतनमान दो सबसे बेहतर प्रदर्शन करने वाले राज्यों- तमिलनाडु और महाराष्ट्र में प्राथमिक स्तर के शिक्षकों के हैं। डीआईएसई से प्राप्त जानकारी के अनुसार किसी भी राज्य में वर्तमान कैडर की औसत सेवा आयु के आधार पर, मौजूदा शिक्षकों के लिए वेतनमान बिन्दु निर्धारित किया है। 15 साल के अनुभव के साथ एक औसत शिक्षक क्रमशः 30,000 रुपए (पीएस) और 32,000 रुपए (यूपीएस) कमाता है। मानक के मुक़ाबले शिक्षकों की कमी के सन्दर्भ में हमने यह माना है कि वेतनमान के शुरुआती वेतन पर नए शिक्षकों को भर्ती किया जाएगा।

6. आवर्ती लागत का 4 प्रतिशत प्रबन्धन की लागत के तौर पर माना गया है। अधिकतर मामलों में, घटकवार गणना करने पर यह प्रबन्धन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त होता है। लेकिन जहाँ प्राइवेट स्कूल ज़्यादा हैं और सरकारी क्षेत्र का आकार छोटा है वहाँ 4 प्रतिशत अपर्याप्त होगा। सरकारी प्रशासन के पास बड़े निजी क्षेत्र का नियोजन करने की ज़िम्मेदारी भी होती है इसलिए इसका उपयुक्त आकार में होना आवश्यक है। प्राइवेट स्कूल अधिक होने की वजह से तीन राज्यों- उत्तराखण्ड, राजस्थान और यूपी– में प्रबन्धन लागत को आवर्ती लागत का 6 प्रतिशत माना जाता है।

7. सीआरसी और बीआरसी के माध्यम से अकादमिक सहयोग के लिए प्रणाली स्तर के मानदण्ड एसएसए फ्रेमवर्क (भारत सरकार 2011) पर आधारित हैं। मानव संसाधन विकास मन्त्रालय (एमएचआरडी) के दिशा निर्देशों (भारत सरकार 2012) का उपयोग डीआईईटी 'डाइट' (डिस्ट्रिक्ट इंस्टिट्यूट ऑफ़ एजुकेशन एण्ड ट्रेनिंग) और एससीईआरटी (स्टेट काउन्सिल ऑफ़ एजुकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग) के लिए किया गया है। इन संस्थानों में विशेषज्ञों के प्रशिक्षण के कारक को शामिल किया गया है।

8. हमने यह माना है कि 2015-16 में सभी ओएससी (आउट ऑफ़ स्कूल चिल्ड्रन) को ब्रिज कोर्स कराया जाएगा और इसके बाद आधों को इस वर्ष में ही सरकारी स्कूल में समायोजित कर लिया जाएगा। हम स्पष्टतः यह कहना चाहते हैं कि ओएससी का समावेशीकरण स्थगित न करते हुए वर्तमान वर्ष में शुरू हो जाना चाहिए। एक बार जब बच्चे विद्यालयों में ले लिए जाएँगे, तो उनके प्रभावी समावेशन के लिए अनवरत कार्य और समर्थकारी इनपुट (आरटीई अधिनियम के अनुसार विशेष प्रशिक्षण) आवश्यक होगा। विद्यालय जाना आरम्भ करने के बाद ओएससी रहे प्रति बच्चे पर आवर्ती लागत, प्रति विद्यार्थी आवर्ती लागत (जो पहले से ही विद्यालयों में हैं) से अधिक होने की आवश्यकता होगी। इसमें 10 प्रतिशत की मूल्यवृद्धि मानी गई है। ओएससी का कुछ प्रतिशत विशेष ज़रूरतों वाले बच्चों (चिल्ड्रेन विथ स्पेशल नीड्स– सीडब्ल्यूएसएन) का है।

9. जो सीडब्ल्यूएसएन विद्यालय में हैं, उनकी बाधा मुक्त पहुँच के लिए रैम्प की लागत उन स्कूलों पर आती है जहाँ यह सुविधा नहीं है। सीखने की सामग्री के लिए प्रति वर्ष 3000 रुपए प्रति सीडब्ल्यूएसएन की वित्तीय सीमा को संशोधित कर बढ़ाया गया है। गम्भीर विकलांगता वाले बच्चे (सीडब्ल्यूएसएन) आबादी का लगभग 0.3% हैं; उनके लिए गृह-आधारित शिक्षा का प्रावधान 1 लाख रुपए प्रति छात्र किया गया है। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए, शैक्षणिक सहायता प्रदान करने वाले संस्थानों को बीआरसी (ब्लॉक रिसोर्स सैण्टर) में विशेष रूप से प्रशिक्षित सन्दर्भ-व्यक्ति और डीआईईटी व एससीईआरटी को संकाय सदस्य उपलब्ध कराए गए हैं।

10. बुनियादी ढाँचे की लागत, विद्यालय के सन्दर्भ में निर्माण की वास्तविक लागत पर आधारित है। अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन ने छोटे क़स्बों में अवस्थित ग्रामीण विद्यालय के लिए

लागत साझा की थी। पहाड़ी राज्य, जैसे कि उत्तराखण्ड में पूँजीगत लागत पर 30% की वृद्धि मानी गई है। बुनियादी ढाँचे की आवश्यकता की गणना विद्यालय और ओएससी (आउट ऑफ़ स्कूल चिल्ड्रन) दोनों के लिए की गई है।

11. सम्बन्धित इकाई लागतों को लगाने और विभिन्न घटकों की गणना करने के बाद, प्रत्येक राज्य के लिए स्कूल स्तर और प्रणाली स्तर की लागतों की कुल आवश्यकताओं को प्राप्त किया गया है। सार्वभौमीकरण के लिए संसाधन की अतिरिक्त आवश्यकता को कुल आवश्यकता में से प्रारम्भिक शिक्षा पर वास्तविक सरकारी व्यय को घटाकर प्राप्त किया गया है।

वर्तमान दौर के अनुमान के लिए 12 राज्यों का एक नमूना लिया गया है। इसमें सभी आठ 'अधिकार प्राप्त कार्य समूह राज्य' (एम्पावर्ड एक्शन ग्रुप स्टेट्स)– बिहार, झारखण्ड, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा– को शामिल किया गया है। इसके अलावा, दक्षिणी राज्यों में से तीन– तमिलनाडु, महाराष्ट्र और कर्नाटक– का चयन किया गया है। नमूने में दिल्ली राज्य बारहवाँ है।

डाटा के स्रोत ओएससी के लिए 71वाँ दौर, एनएसएसओ और स्कूल में अध्ययनरत बच्चों के लिए डीआईएसई हैं। सरकारी व्यय का डेटा वित्त लेखा(सीएजी) और विभिन्न राज्य सरकारों के बजट से लिया गया है।

परिणाम, पहले भौतिक एवं मानव संसाधन

अन्तर का परिमाण

तालिका 1 : स्कूली शिक्षा का ढाँचा, भौतिक आधारभूत संरचना और शिक्षकों में कमी के चुनिन्दा संकेतक

राज्य	सभी स्कूलों में कुल नामांकन के% के रूप में जीएस एवं ए में नामांकन	आबादी में स्कूल से बाहर वाले बच्चों (ओएससी) का %	जीएस एवं ए में नामांकन में सीडब्ल्यूएसएन का %	जीएस में मौजूदा कक्षाओं के % में		जीएस एवं ए में आवश्यक शिक्षकों की तुलना में शिक्षकों की कमी का %**
				अतिरिक्त कक्षाओं की आवश्यकता*	मरम्मत की आवश्यकता वाले कक्षा-कक्ष	
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
बिहार	92.2	10.3	0.9	75.1	22.2	52.8
छत्तीसगढ़	74.4	5.3	2.0	11.0	24.3	8.8
झारखण्ड	76.4	6.8	1.3	12.4	12.8	43.6
कर्नाटक	61.9	4.1	1.7	9.6	25.8	31.9
एमपी	62.5	7.7	1.5	9.1	23.4	27.0
महाराष्ट्र	74.9	3.2	2.0	10.9	17.2	25.2
उड़ीसा	83.5	4.9	1.8	21.7	27.0	22.8
राजस्थान	50.4	9.5	1.5	15.6	25.6	22.2
तमिलनाडु	60.2	0.4	2.4	8.0	14.0	13.3
यूपी	51.4	12.6	1.2	8.1	21.5	30.0
उत्तराखण्ड	46.5	1.6	1.0	6.1	42.0	16.3
दिल्ली	56.7	5.2	0.8	25.2	6.4	11.9

*नामांकित छात्रों के लिए; **नामांकित छात्रों के लिए आवश्यक शिक्षक

स्रोत : डीआईएसई; ओएससी के लिए के 71 वाँ दौर, एनएसएसओ।

में अन्तर (तालिका 1) के सन्दर्भ में रिपोर्ट किए गए हैं। इसके बाद वित्तीय अन्तर को बताया गया है (चित्र 1, तालिका 2)। यह अनुमान वर्ष 2015-16 के लिए किया गया है।

तालिका 1 में, कॉलम (1) से (3), 12 राज्यों के नामांकन संकेतकों के सन्दर्भ में समावेशीकरण को दर्शाते हैं। यह अनुमान में उपयोग किए जाने वाले प्रमुख परिवर्तनीय कारक भी हैं। बिहार, उड़ीसा, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में अभी भी सरकारी स्कूल ही अधिक हैं। इससे यह मालूम होता है कि बच्चों का बड़ा हिस्सा सरकारी व्यवस्था के भीतर है। इसके विपरीत, उत्तराखण्ड, यूपी और राजस्थान के सरकारी विद्यालयों- जिनमें अनुदानित निजी स्कूल भी शामिल हैं- में नामांकन बहुत कम है(47 से 51 प्रतिशत), जो कि सरकारी स्कूलों से निकलकर निजी विद्यालयों में अधिक दाख़िले होने का संकेत है। अन्य राज्यों की तस्वीर इससे कुछ ही बेहतर है।[3]

सरकारी विद्यालयों में वर्तमान हस्तक्षेप के सन्दर्भ को इन स्कूलों को छोड़कर निकलने की व्यापक गतिशीलता में समझने की ज़रूरत है। बच्चों को बाज़ार की शक्तियों- जिनकी मूल प्रकृति ही अपवर्जनात्मक है- के हवाले करने की बजाय सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था में उन्हें बनाए रखने में सही तरह से काम करने वाली एक सरकारी विद्यालय प्रणाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यूपी और राजस्थान, निजी विद्यालयों में तेज़ी से स्थानान्तरित होते बच्चों के साथ ही ओएससी के उच्च अनुपात का एक चिन्ताजनक संयोजन प्रस्तुत करते हैं।

ओएससी उन सभी बच्चों को शामिल करता है जो औपचारिक विद्यालयों में नामांकित नहीं हैं या विद्यालय छोड़ चुके (ड्रॉप आउट) हैं। अनौपचारिक संस्थानों में जाने वाले बच्चों को भी ओएससी में गिना जाता है। 6-13+ वर्ष आयु वर्ग की आबादी में ओएससी का अधिक प्रतिशत यूपी (13%), बिहार (10%), राजस्थान (10%), एमपी (8%), झारखण्ड (7%) में दर्ज किया गया है। कई अन्य राज्यों में ऐसे बच्चों की बड़ी संख्या है जो अभी भी विद्यालयों में नहीं हैं। यह इस बात को दर्शाता है कि सार्वभौमीकरण का लक्ष्य अभी दूर है।

आरटीई विशेष ज़रूरतों वाले बच्चों (सीडब्ल्यूएसएन) के निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के अधिकार को दिव्यांग अधिकार विधेयक के प्रावधानों के अनुसार मान्यता देता है। दिव्यांग अधिकार विधेयक वर्तमान शैक्षणिक आधारभूत संरचना को बढ़ाने का प्रावधान करता है ताकि क्षमताओं में अन्तर के बावजूद सभी के लिए समावेशी शिक्षा को सम्भव बनाया जा सके। वर्तमान में कुल नामांकित विद्यार्थियों में से सीडब्ल्यूएसएन के अन्तर्गत बिहार में नामांकन 1 प्रतिशत से भी कम है जबकि तमिलनाडु में यह 2.4 प्रतिशत है (कॉलम 3, तालिका 1)। दिल्ली में सरकार और अनुदान प्राप्त विद्यालयों में कुल नामांकित विद्यार्थियों में से सीडब्ल्यूएसएन के अन्तर्गत नामांकन केवल 0.8 प्रतिशत है। ओएससी और सीडब्लूएसएन दोनों को विद्यालयों में सम्मिलित करने में व्यापक कमियाँ मौजूद हैं।

बुनियादी ढाँचे के मौजूदा स्तर को देखा जाए तो, कक्षा कक्षों की अधिकतम कमी बिहार में है, जहाँ जीएस में मौजूदा कक्षाओं के लिहाज़ से 75 प्रतिशत तक कक्षाओं की कमी है।[4] यदि आधारभूत संरचना में ओएससी को समायोजित किया जाए तब तो 95 प्रतिशत से भी अधिक की आवश्यकता होगी। डीआईएसई के आँकड़ों के अनुसार बिहार में लगभग 10 प्रतिशत सरकारी विद्यालयों के भवन मौजूद नहीं हैं, जबकि इनकी

3. 12 राज्यों में से, महाराष्ट्र (21 प्रतिशत) और तमिलनाडु (15 प्रतिशत) में अनुदान प्राप्त निजी स्कूलों में नामांकित विद्यार्थियों का अधिकतम हिस्सा है।

4. आधारभूत संरचना में कमी का अवलोकन केवल जीएस के लिए किया गया है और अनुदान प्राप्त विद्यालयों के लिए नहीं, क्योंकि अनुदानित विद्यालयों को सरकार द्वारा इस मद में वित्त पोषित नहीं किया जाता है।

स्थापना के बाद से अब तक काफ़ी समय बीत चुका है। इन विद्यालयों में पढ़ने वाले लगभग 11 लाख बच्चों को कक्षाओं में शामिल होने के लिए अस्थायी व्यवस्था को सहन करना पड़ता है जिससे स्वत: अनुपस्थित छात्र-छात्राओं की संख्या में बढ़ोतरी होती है। कक्षाओं की कमी के लिहाज़ से बिहार के बाद दिल्ली (25%) का नाम है।

मौजूदा कक्षाओं में बड़ा समानुपात ऐसे कक्षा कक्षों का है जिनको छोटी या बड़ी मरम्मत की आवश्यकता है। उत्तराखण्ड के लिए यह समानुपात 42 प्रतिशत तक है। कक्षाओं के समानुपात में कक्षा कक्षों के यह अन्तर, लम्बे समय से हो रही लापरवाही को दर्शाते हैं। अगर इन्हें तुरन्त ठीक नहीं किया गया तो यह कमियाँ तेज़ी से बढ़ती रहेंगी और भविष्य में इस अन्तर को पूरा करना काफ़ी मुश्किल हो जाएगा। बिहार और दिल्ली में आबादी के अनुपात में भूमि की कमी के कारण नए विद्यालयों का निर्माण काफी चुनौतीपूर्ण है। राज्य सरकारों द्वारा भूमि अधिग्रहण, नए बुनियादी ढाँचे का निर्माण, और बुनियादी ढाँचे की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मौजूदा स्कूल संरचना के विस्तार के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता होगी।[5]

एक ओर तो कक्षा कक्षों की कमी, और साथ ही साथ सरकारी स्कूलों में घटती उपस्थिति एवं ख़ाली कक्षा कक्षों की बात विरोधाभासी प्रतीत हो सकती है। वास्तव में, सभी राज्यों में कक्षा कक्षों की कमी और कुछ अधिशेष सह-अस्तित्व में हैं।[6] चूँकि कक्षा कक्ष अचल सम्पत्ति हैं और उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता है, इसलिए किसी स्कूल/क्षेत्र में अधिशेष होने पर भी अन्यत्र कमी को पूरा करने के लिए बुनियादी ढाँचा निर्मित करने की आवश्यकता है।

तालिका 1 का अन्तिम कॉलम, अंशकालिक शिक्षकों एवं प्रधान शिक्षकों समेत, आरटीई के अनुसार शिक्षक आवश्यकता की तुलना में शिक्षकों की मौजूदा कमी को दर्शाता है। एक समान पीटीआर की बजाय, हमने आरटीई अधिनियम की अनुसूची में प्रस्तावित प्रारूप का उपयोग किया है। यहाँ विद्यालयवार / क्षेत्रवार / शिक्षकों के प्रकार के अनुसार कमी को रिपोर्ट न करते हुए सम्पूर्ण कमी को रिपोर्ट किया गया है। यह माना गया है कि शिक्षकों को एक विद्यालय/ क्षेत्र से दूसरे विद्यालय / क्षेत्र में स्थानान्तरित किया जा सकता है। शिक्षकों के प्रकार में से कुछ में अधिशेष और अन्य में कमी होने पर शिक्षकों को आवश्यकतानुसार फिर से तैनात किया जा सकता है। सभी राज्यों में आवश्यकता की तुलना में मौजूदा शिक्षकों में कमी दिखाई देती है। बिहार (53 प्रतिशत) और झारखण्ड (44 प्रतिशत) में तो शिक्षकों की अत्यधिक कमी है।

अतः आरटीई मानदण्ड के अनुसार प्रत्येक स्कूल के लिए भौतिक और मानव संसाधन की आवश्यकता की पड़ताल आधारभूत संरचना और मानव संसाधनों में बहुत अधिक कमी को इंगित करती है। यह आश्चर्य की बात है कि कल्याणकारी प्रावधान ना होकर अनिवार्य अधिकारों से सम्बन्धित होने के बावजूद यह कमियाँ कई सालों से जारी हैं।

राज्यों की असमान स्थिति

वित्तीय आकलन हमें भौतिक और मानव संसाधन की कमी को नापने का मौक़ा देता है। इसकी सहायता से कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक अतिरिक्त संसाधनों का अनुमान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त, वित्तीय आकलन मानक इकाई लागत और वास्तविक इकाई लागत के बीच के अन्तर को दर्शाता है। मिसाल के तौर पर, शिक्षक लागतों पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि चहुँ ओर शिक्षकों की भर्ती आवश्यकता से बहुत कम है, और ऐसा शिक्षकों के पदानुक्रम में संविदा/

5. बुनियादी ढाँचे के तहत अन्य सुविधाओं— शौचालय, पेयजल, चारदीवारी, रसोई शेड, रैम्प, खेल का मैदान— में कमी देखी गई है। इसका डेटा बोस, घोष और सरदाना (2019) में प्रस्तुत किया गया है।

6. मौजूदा कक्षा-कक्षों के समानुपात में अधिशेष कक्षा-कक्ष 6% (बिहार) और 23% (यूपी) के बीच हैं।

अतिथि / पैरा शिक्षकों पर विशाल निर्भरता के कारण है। यही नहीं, बल्कि बहुत बड़े समानुपात में शिक्षकों को कम भुगतान किया जाता है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के शिक्षा मित्रों के निरन्तर विरोध प्रदर्शन को देखने से समझ आता है कि पैरा-शिक्षक व संविदा शिक्षकों की भर्ती प्रक्रियाओं में पारिश्रमिक और सेवा शर्तों को कमज़ोर करके भर्तियाँ की गई हैं। यह मानक और वास्तविक व्यय की तुलना में दिखाई देंगे। इसी तरह, स्कूलों के रखरखाव और विकास अनुदान में भी समस्याएँ हैं। अक्सर एक तर्क उचित ही दिया जाता है कि अनुदान, विद्यालयों के रखरखाव की लागत को पूरा नहीं करता है। कुछ मामलों में तो अनुदान एक अकादमिक वर्ष के भीतर विद्यालयों तक पहुँचते भी नहीं हैं। मानक आवश्यकता की वास्तविक व्यय के साथ तुलना कम ख़र्च के प्रभाव-क्षेत्र को स्पष्ट करने और ऐसे क्षेत्रों की पहचान करने का एक तरीक़ा है जिन पर ध्यान देने की ज़रूरत है।

दुर्भाग्यवश, सरकारों द्वारा वास्तविक व्यय, कार्य-श्रेणियों में तुलनात्मक रूप से अलग-अलग नहीं किए जा सकते हैं। कुल आवश्यकता के साथ वास्तविक व्यय की तुलना करके हमने कम ख़र्च का एक समग्र मापन किया है। इसमें भी बहुत समय लगा क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा पर सरकारी व्यय, राज्य के बजट में कई विभागों में फैला हुआ है। अक्सर ही बजट की अपारदर्शी रिपोर्टिंग में से व्यक्तिगत शोधकर्ताओं के लिए इस जानकारी को एकत्रित करना मुश्किल है। एमएचआरडी द्वारा शिक्षा पर बजटीय व्यय का विश्लेषण यानी एनालिसिस ऑफ़ बजटेड एक्सपेंडीचर ऑन एजुकेशन (एओबीईई) सरकारी व्यय डेटा के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हुआ करता था। हाल ही के वर्षों में अज्ञात कारणों से इसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया है। पारदर्शिता और उत्तरदायित्व के हित में, यह आवश्यक है कि एनालिसिस ऑफ़ बजटेड एक्सपेंडीचर ऑन एजुकेशन (एओबीईई) का प्रकाशन, आवश्यक सुधार के साथ, दोबारा शुरू किया जाए।

किसी राज्य के लिए उपयोग किए जाने वाले सरकारी व्यय की परिभाषा में राज्य सरकार द्वारा किया गया व्यय और केन्द्र का योगदान दोनों शामिल होते हैं। केन्द्र का योगदान मुख्यतः केन्द्रीय शिक्षा योजनाओं, जैसे कि सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) और मिड-डे मील स्कीम (एमडीएमएस), के लिए सहायता अनुदान के रूप में आता है। व्यय का बड़ा हिस्सा राज्यों द्वारा उठाया जाता है। हालाँकि आर्थिक तौर पर कमज़ोर राज्यों में केन्द्र का योगदान महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है।

दिल्ली एक मात्र ऐसी मिसाल है जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध मुख्यतः स्थानीय निकायों द्वारा किया जाता है। इसके लिए राज्य सरकार से और नगर निगम के राजस्व से सहायता अनुदान प्राप्त होता है। इस प्रकार, राज्य का बजट वास्तविक व्यय को प्रतिबिम्बित नहीं करता है। इसके अलावा, दिल्ली सरकार द्वारा संचालित स्कूलों की (सीमित) संख्या में उच्च प्राथमिक और माध्यमिक / उच्च माध्यमिक कक्षाएँ एक साथ ही हैं। प्रारम्भिक शिक्षा के लिए बजट में अलग प्रविष्टियाँ प्रस्तुत नहीं की गई हैं। इसलिए, हमने दिल्ली के लिए वित्तीय अन्तर को प्रस्तुत नहीं किया है।

समोच्च नक्शा (कॉण्टोर मैप-चित्र1) प्रति छात्र आवश्यक व्यय और राज्यों में वास्तविक व्यय के बीच की तुलना को प्रस्तुत करता है। मोटी (बोल्ड) रेखा प्रति विद्यार्थी वास्तविक व्यय दर्शा रही है, जबकि टूटी (डैश्ड) रेखा प्रति विद्यार्थी आवर्ती आवश्यकता (यानी मानक) को दर्शा रही है।[7] तीसरी रेखा (बिन्दीदार) वर्ष 2015-16 में केन्द्रीय विद्यालय में प्रति विद्यार्थी आवर्ती लागत को दिखा रही है। वर्ष 2015-16 में 32,698 रुपए प्रति विद्यार्थी की दर पर, बिन्दीदार रेखा अन्य दो रेखाओं से एक बड़े अन्तर से बाहर है। प्रति विद्यार्थी वास्तविक व्यय, प्रति विद्यार्थी आवर्ती आवश्यकता से बहुत कम है। बोल्ड और टूटी रेखा के बीच की दूरी जितनी अधिक होगी, अन्तर उतना ही अधिक

होगा। तमिलनाडु के अलावा, अन्य सभी राज्यों के लिए वास्तविक व्यय मानक से कम ही है। बिहार, उड़ीसा, झारखण्ड और मध्य प्रदेश में तो यह अन्तर बहुत अधिक है।

भी हैं जिनके वेतनमान केवी के समान उच्च हैं। शिक्षकों का एक वर्ग उच्च वेतनमान के माध्यम से लाभान्वित किया जाता है जबकि दूसरी तरफ़ बहुत से शिक्षक नियुक्ति की अनिश्चित शर्तों

चित्र 1: प्रति छात्र आवश्यक व्यय और वास्तविक व्यय में तुलना

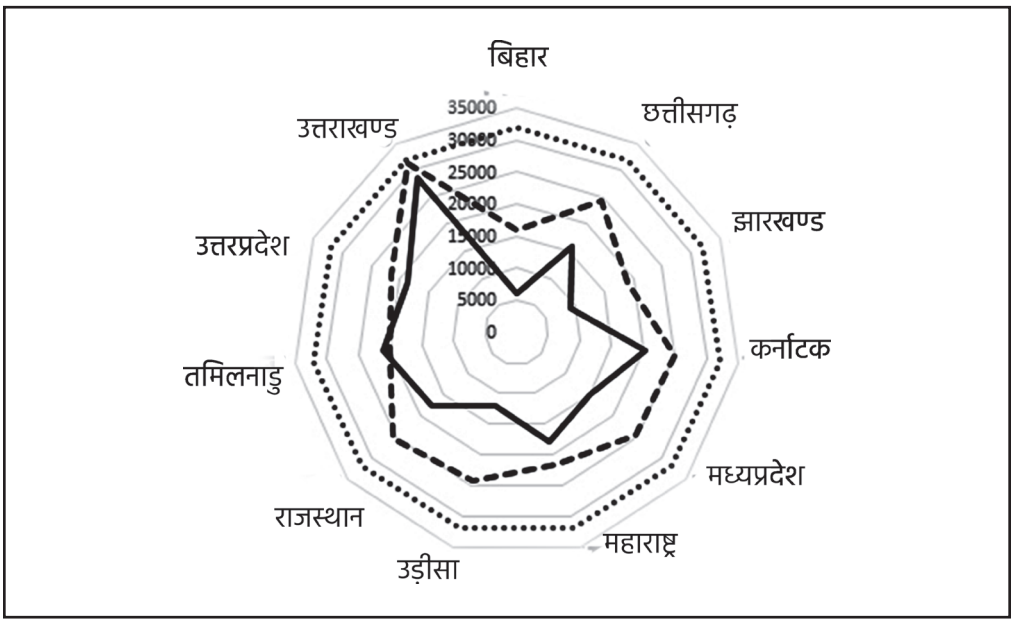

उत्तर प्रदेश में जो वित्तीय अन्तर है वह वास्तविकता से कम दिखाई देता है। इसके दो कारण हैं– (i) वास्तविक व्यय अधिक आँका गया है। यूपी के लिए, वर्ष 2015-16 एक अजीब वर्ष का द्योतक है, जिसमें पिछले वर्ष के व्यय की तुलना में अत्यधिक वृद्धि दिखती है, लेकिन 2016-17 में इसमें पूरी तरह से गिरावट हो जाती है। हमारा अनुमान है कि यह उतार-चढ़ाव शिक्षा मित्रों के सम्बन्ध में नीतियों में बार-बार बेतुके परिवर्तनों के कारण हुआ।

(ii) उत्तर प्रदेश उन राज्यों का प्रतीक है जहाँ संविदा शिक्षक भी हैं, और ऐसे नियमित शिक्षक और कम पारिश्रमिक के साथ गुज़ारा करते हैं। चूँकि हमने केवी के वेतनमान की तुलना में कम वेतन चुना है, इसलिए मुमकिन है कि आवर्ती आवश्यकता का अनुमान कुछ हद तक कम बैठा हो।

यह ध्यान रहे कि मानक आवर्ती आवश्यकता राज्यवार भिन्न होती है। इस भिन्नता के मुख्य कारणों में विद्यालयों की संरचना (कम नामांकन वाले बनाम अधिक), शिक्षकों का औसत अनुभव, मानक आवश्यकता के सापेक्ष पद पर मौजूद शिक्षकों का समानुपात, इत्यादि शामिल हैं। औसत प्रति छात्र आवर्ती आवश्यकता 23,200

7. राजस्व और पूँजीगत व्यय का बजटीय वर्गीकरण वास्तव में आवर्ती और पूँजीगत व्यय को प्रतिबिम्बित नहीं करता है, क्योंकि कई पूँजीगत मद राजस्व खातों के अन्तर्गत आते हैं। इसीलिए प्रति छात्र आवर्ती व्यय की बजाय प्रति छात्र कुल व्यय की जानकारी दी जाती है।

रुपए बैठती है– यह अत्यधिक सघन आबादी वाले क्षेत्रों (बिहार) में 16,250 रुपए से लेकर विरल जनसंख्या वाले क्षेत्रों (उत्तराखण्ड) में 33,000 रुपए तक है। इन परिणामों की तुलना नीति आयोग (2017) में दर्ज आँकड़ों के साथ करें– यह 80,000 रुपए (20 छात्रों या उससे कम नामांकन वाले सरकारी स्कूल) और 40,800 रुपए (50 छात्रों या उससे कम नामांकन वाले सरकारी स्कूल) प्रति बच्चा प्रति वर्ष औसत व्यय को उद्धृत करते हैं!

हमारे अनुमानों में राज्य के समस्त प्रकार के स्कूल शामिल हैं– इनमें से कुछ छोटे हैं, कुछ मध्यम, कुछ बड़े तो कुछ बहुत बड़े; इनमें से कहीं भी प्रति छात्र समग्र लागत चिन्ता जनक रूप से बहुत अधिक नहीं है। जबकि नीति आयोग के आँकड़े केवल छोटे स्कूलों से सम्बन्धित हैं और इसलिए आंशिक अनुमान ही हैं। चुनिन्दा तौर पर, केवल छोटे स्कूलों पर ध्यान केन्द्रित करने से ऐसा वातावरण निर्माण करने में योगदान ही दिया गया है जिसमें यूँ लगे मानो कम लागत वाले निजी स्कूलों पर निर्भर होने के सिवाय कोई विकल्प ही नहीं है।

निश्चय ही, छोटे स्कूलों से प्रति छात्र लागत बढ़ जाती है (एक स्कूल में शिक्षकों की जो विविधता होनी चाहिए, वह भी छोटे स्कूलों में कम होती है)। हालाँकि, ऊँची लागत की चिन्ता मूलभूत अधिकार से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती है। स्कूली शिक्षा तक पहुँच एक अधिक महत्त्वपूर्ण निमित्त है और दूरस्थ क्षेत्रों के लिए भी यह सुलभ होनी चाहिए, फिर चाहे ऐसे स्कूल 'कम लागत वाले' ना भी हों। दूसरी बात, कई ऐसे शहरी सन्दर्भों में जहाँ स्कूलों का आकार छोटा है, वहाँ यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि स्कूलों का यह छोटा आकार अतीत में नज़रन्दाज़ किए जाने का नतीजा है। वर्तमान में और अधिक नज़रन्दाज़ करने का अर्थ होगा भविष्य में प्रति छात्र व्यय का और अधिक बढ़ना क्योंकि बाज़ार की माँग अधिकाधिक खण्डित होती जा रही है।

कमी को दर्शाने का एक और तरीक़ा सकल रूप से कुल आवश्यकता के अनुपात में वास्तविक व्यय को देखना है (तालिका 2)। यहाँ अन्तर बहुत स्पष्टता से उभरता है। जब विद्यालयों के छात्र-छात्राओं और ओएससी को एक समूह में रखकर, उसके ऊपर मानदण्डों के यथोचित समुच्चय को लागू किया जाता है तो कुल आवश्यकता वास्तविक व्यय से कहीं अधिक हो जाती है। अतिरिक्त आवश्यकता, मानक और वास्तविक व्यय के बीच के अन्तर को पूरा करने के लिए ज़रूरी वित्तीय आवश्यकता को दर्शाती है। यह कमी समान रूप से वितरित नहीं है बल्कि सबसे पिछड़े राज्यों में सर्वाधिक है।

राज्य के सकल घरेलू उत्पाद (जीएसडीपी) के अनुपात में अतिरिक्त आवश्यकता उस राज्य की कुल आय के मुक़ाबले कमी को प्रस्तुत करती है। बिहार में, जीएसडीपी का अतिरिक्त 9.8 प्रतिशत अकेले प्राथमिक शिक्षा पर ही ख़र्च करने की ज़रूरत है। यह जीएसडीपी के मौजूदा 3.4 प्रतिशत व्यय से कहीं अधिक है! जीएसडीपी के अनुपात में अतिरिक्त आवश्यकता

तालिका 2 : वित्तीय अन्तर

	बिहार	छत्तीसगढ़	झारखण्ड	कर्नाटक	एमपी	महाराष्ट्र	उड़ीसा	राजस्थान	तमिलनाडु	यूपी	उत्तराखण्ड
कुल आवश्यकता के अनुपात में वास्तविक व्यय (%)	25.6	53.2	38.7	71.4	46.4	75.8	39.1	50.6	92.1	65.3	72.7
जीएसडीपी के अनुपात में अतिरिक्त आवश्यकता(%)	9.8	1.8	3.1	0.4	2.6	0.4	2.9	1.6	0.1	1.7	0.5

झारखण्ड, उड़ीसा व मध्य प्रदेश के लिए 2.5 से 3.5 प्रतिशत और छत्तीसगढ़, राजस्थान व उत्तर प्रदेश के लिए 1 से 2 प्रतिशत के बीच है। पिछड़े राज्यों के लिए न केवल अतिरिक्त आवश्यकता अधिक है, अपितु व्यय को वित्तपोषित करने की उनकी क्षमता भी कम आय (और राजस्व) के कारण सीमित है।

हालाँकि, कुल मिलाकर देश के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है। ग्रॉस स्टेट डोमेस्टिक प्रोडक्ट (जीएसडीपी) की 1 प्रतिशत अधिक अतिरिक्त आवश्यकता वाले सात राज्यों के समूह (तालिका 2 में छायांकित) के लिए, कुल अतिरिक्त आवश्यकता 1,03,176 करोड़ रुपए तक है। यह वर्ष 2015-16 के लिए सकल घरेलू उत्पाद का 0.75 प्रतिशत है। अतिरिक्त आवश्यकता को पूरा करने के लिए आवश्यक सरकारी व्यय आगामी समय में ही सर्वथा मुमकिन है। इस अन्तर को पाटने के लिए केन्द्र सरकार को अन्तर शासकीय हस्तान्तरण के माध्यम से आगे आना चाहिए।[8]

भविष्य की ओर

यह कोई संयोग नहीं है कि मानदण्डों के स्तर से आँकने पर, कुल आवश्यकता के 92 प्रतिशत वास्तविक व्यय के साथ केवल तमिलनाडु (तुलनात्मक रूप से) पर्याप्तता तक पहुँचता है। दरअसल, यहाँ व्यय की पर्याप्तता सामाजिक नीति का प्रतिबिम्ब है। तमिलनाडु के सन्दर्भ में, द्रेज और सेन (2013) का कहना है कि देश के सभी राज्यों में से कुछ सबसे बेहतरीन सार्वजनिक सेवाएँ इस राज्य में हैं, जिनकी तुलना केरल और हिमाचल प्रदेश से की जा सकती है। मूल सिद्धान्त है कि स्कूली शिक्षा जैसी बुनियादी सुविधाओं को बिना भेदभाव प्राप्त होना चाहिए, और बेहतर हो कि मुफ़्त में उपलब्ध होना चाहिए। लेखकों का मानना है, "यह प्रयास कार्यशील एवं तुलनात्मक रूप से कुशल प्रशासन द्वारा ही सम्भव हो पाए हैं। सम्बन्धित सरकारों ने पारम्परिक तर्ज़ पर अपनी सेवाएँ प्रदान की हैं। उन्होंने हाल ही में प्रचलित सरल उपायों– जैसे कि नियमित शिक्षकों की बजाय पैरा शिक्षकों को लगाना, कैश ट्रान्सफर सशर्त करना, या जीएस बनाने की बजाए निजी विद्यालयों के लिए विद्यालय वाउचर पर भरोसा करने का कम उपयोग किया है। इन सफल प्रयासों के नायक' पुराने फैशन'वाले सार्वजनिक संस्थान ही रहे हैं...।"

इसी तरह, हम अधिकांश राज्यों के लिए जो वित्तीय अन्तर पाते हैं, वह पैरा-शिक्षकों को नियुक्त करना, घिसे पिटे निजी स्कूलों पर भरोसा करना, और अत्यावश्यक हक़दारी से बच्चों के बहुत बड़े अनुपात के बहिष्करण पर आधारित उनकी सामाजिक नीति को प्रतिबिम्बित करता है। यह स्पष्टतः आरटीई के दृष्टि दर्शन के बरख़िलाफ़ है, जो कि सभी के लिए समता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है, और जहाँ मुख्य ज़िम्मेदारी सरकार को उठानी है।

समस्या को पहचानना भी समाधान का हिस्सा है। इस लेख में, हमने आरटीई के लिए मानक आवश्यकता का अनुमान लगाया है, जो कि एक उपेक्षित क्षेत्र रहा है। हमारे अनुमान, मानक आवश्यकताओं की तुलना में ख़र्च के मौजूदा स्तर की समग्र अपर्याप्तता को दर्शाते हैं। अन्तर काफ़ी अधिक होने का कारण मानक उच्च होना नहीं है, बल्कि ख़र्च का वर्तमान स्तर बेहद कम होना है। अधिक अन्तर वाले 12 में से 7 राज्यों के लिए, हमारे अनुमान के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद की 0.75 प्रतिशत अतिरिक्त आवश्यकता है। हालाँकि आंशिक रूप से ही सही, यह अनुमान साबित करते हैं कि

8. यही इस प्रस्ताव का केन्द्रीय विचार है, जो हम 15 वें वित्त आयोग के समक्ष रखना चाहते हैं। बोस, घोष और सरदाना (2019) में अन्तर-सरकारी हस्तान्तरण तन्त्र पर और इसने किस तरह कम आय वाले राज्यों के उद्देश्यों को विफल किया है, इस पर विस्तार से चर्चा की गई है।

यथोचित मानदण्डों के समुच्चय पर आधारित अतिरिक्त संसाधन प्राप्त किए जा सकते हैं।[9] सरकारी स्कूलों की कार्य क्षमता में वास्तविक बदलाव लाने और सार्वभौमीकरण के विचार की सर्वोत्कृष्ट स्वरूप में पूर्ण प्राप्ति के लिए सामाजिक नीति के सम्बन्ध में वित्तीय मुद्दों को शीघ्रातिशीघ्र हल करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है।

[9] अभी हाल में बोस, सरदाना एवं योष (2018) अध्ययन में जैन एवं ढोलकिया (2009) अध्ययन के आकलन को चुनौती दी गई है।

सन्दर्भ

Bose, Sukanya, Priyanta Ghosh, and Arvind Sardana (2017), *Resource requirements for Right to Education (RTE): Normative and Real,* NIPFP Working Paper, 201.

Bose, Sukanya, Priyanta Ghosh, and Arvind Sardana (2019), *RTE and the Resource Requirements: The Way Forward* (forthcoming).

Chakravarty, Sukhamoy (1987), *Problems of Plan Implementationin* Sukhamoy Chakravarty (Ed.) Development Planning: *The Indian Experience, Clarendon Press*, Oxford.

CBGA (2011), *Budget for Universalizing Quality Elementary Education,* mimeo.

Dreze, Jean and A. Sen (2013),An Uncertain Glory: India and its Contradiction, Penguin, London.

GoI (2012),*Restructuring and Reorganization of the Centrally Sponsored Scheme on Teacher Education - Guidelines for Implementation,* MHRD, Government Press, New Delhi.

GoI(2011),S*arvaShikshaAbhiyan: Framework for Implementation, based on the Right of Children to Free and Compulsory Education Act, 2009,* MHRD, Government Press, New Delhi.

GoI (1999), *Expert Group Report on Financial Requirements for Making Elementary Education a Fundamental Right,* MHRD (Chair: Tapas Majumdar), Government Press, New Delhi.

Jain, Manish and SadhnaSaxena (2010),*Politics of Low Cost Schooling and Low Teacher Salary,* Economic and Political Weekly, Vol. 45, Issue No. 18.

Jain, Pankaj and R. H. Dholakia(2009), *Feasibility of Implementation of Right to Education Act,* Economic and Political Weekly, Vol. 44, No. 25, p.p. 38-43.

NITI Aayog (2017),*India: Three year Action Agenda, 2017-18 to 2019-20.*

Ramachandran, V.K., V. Rawal and M. Swaminathan(1997), *Investment Gaps in Primary Education: A State-wise Study,* Economic and Political Weekly, Vol. 32, No.1-2, p.p. 39-45.

Sarangapani, P.M. (2009),Quality, *Feasibility and Desirability of Low Cost Private Schooling,*

Economic and Political Weekly, Vol. 44, No. 43,p.p. 67-69.

Bose, S., Sardana, A. & Ghosh, P. (2018). Universalization of School Education Using the Public School System is Feasible. Economic & Political Weekly (Engage), 53(44). https://www.epw.in/engage/article/universalisation-of-education-using-public-school-system-is-feasible-response

लेख में दिए गए कुछ शब्द संक्षेपो का विवरण

ए - एडिड (अनुदान प्राप्त या अनुदानित)

जीएस- गवर्नमेंट स्कूल (सरकारी स्कूल)

पीएस - प्राइमरी स्कूल

यूपीएस - अपर प्राइमरी स्कूल (उच्च प्राथमिक स्कूल)

पीटीआर - प्यूपिल टीचर रेश्यो (छात्र शिक्षक अनुपात)

डीआईएसई - डाइस - डिस्ट्रिक्ट इनफार्मेशन सिस्टम फॉर एजुकेशन (ज़िला शिक्षा सूचना प्रणाली)

जीएसडीपी - ग्रॉस स्टेट डोमेस्टिक प्रोडक्ट

एओबीईई - एनालिसिस ऑफ़ बजटेड एक्सपेंडीचर ऑन एजुकेशन (शिक्षा पर बजटीय व्यय का विश्लेषण)

आरटीई - राइट टू एजुकेशन (शिक्षा का अधिकार अधिनियम)

एससीईआरटी - स्टेट कॉउन्सिल ऑफ़ एजुकेशनल रिसर्च एंड ट्रैनिंग (राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद)

डाइट- डिस्ट्रिक्ट इंस्टिट्यूट ऑफ़ एजुकेशन (जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान)

सीआरसी - क्लस्टर रिसोर्स सेण्टर (संकुल स्रोत केंद्र)

बीआर सी - ब्लॉक रिसोर्स सेण्टर (विकास खंड स्रोत केंद्र)

एमडीएमएस - मिड डे मील स्कीम (मध्याह्न भोजन स्कीम)

एसएसए- सर्व शिक्षा अभियान

एमएचआरडी - मिनिस्ट्रीरी ऑफ़ ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेंट (मानव संसाधन विकास मंत्रालय)

केवी - केंद्रीय विद्यालय

टीएमसी- तपस मजूमदार समिति

ओएससी- आउट ऑफ़ स्कूल चिल्ड्रन (स्कूल से बाहर बच्चे)

सीडब्ल्यूएसएन- चिल्ड्रन विथ स्पेशल नीड (विशेष आवश्यकता वाले बच्चे)

सुकन्या बोस राष्ट्रीय लोक वित्त एवं नीति संस्थान में संकाय सदस्य हैं। उन्होंने स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में कार्य किया है, वे सामाजिक विज्ञान पाठ्यचर्या विकास में जुड़ी रही हैं।
सम्पर्क : sukanyalb@gmail.com

प्रियन्तो घोष लोक वित्त एवं नीति संस्थान में सलाहकार हैं। वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शोध छात्र हैं।
सम्पर्क : pgeconomics88@gmail.com

अरविन्द सरदाना एकलव्य के सामाजिक विज्ञान समूह के सदस्य हैं।
सम्पर्क : arvindewas@gmail.com

इस शोध अध्ययन का अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद ज़ुबैर सिद्दीकी ने किया है।

शिक्षक–शिक्षिकाओं के सतत पेशेवर विकास का मंच बनतीं संकुल–स्तरीय मासिक बैठकें

(उत्तराखण्ड के अनुभव)

रिसर्च ग्रुप | अजीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन

शिक्षा के क्षेत्र में ज़मीनी अध्ययन, सितम्बर 2017

संकुल संसाधन केन्द्र (सीआरसी) और ब्लॉक संसाधन केन्द्र (बीआरसी), शैक्षणिक कार्यप्रणाली में सुधार के लिए शिक्षक-शिक्षिकाओं को प्रशिक्षित करने के प्राथमिक उद्देश्य से केन्द्र प्रायोजित 'ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' (डीपीईपी) के अन्तर्गत 1994 में शुरू किए गए थे। सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) के अन्तर्गत इन केन्द्रों की अवधारणा को और व्यापक बनाते हुए इनमें शिक्षक-शिक्षिकाओं को सतत अकादमिक सहयोग देने की व्यवस्था भी शामिल की गई। इस रणनीति के अभिन्न हिस्से के तौर पर, सीआरसी समन्वयक से यह अपेक्षा की जाती है कि वे हर महीने बैठकों का आयोजन करेंगे जहाँ उस संकुल की शिक्षक-शिक्षिकाएँ एक-दूसरे से संवाद कर सकें व कक्षा में सामने आने वाली चुनौतियों पर बातचीत कर सकें, और मिलजुलकर उनका समाधान खोज सकें। चूँकि ज़्यादातर समन्वयक प्रशासनिक कामों के बोझ तले दबे रहते हैं, इसलिए अकसर इन बैठकों को सिर्फ़ प्रशासनिक कामकाज और आँकड़े इकट्ठा करने जैसे व्यवहारिक मसलों तक ही सीमित रखा गया। सं.

अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन (आगे से फ़ाउण्डेशन) एक अरसे से जन शिक्षण की गुणवत्ता में सुधार के लिए कार्य कर रहा है, जिसमें विशेष रूप से शिक्षकों के पेशेवर विकास पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। अपने ज़मीनी अनुभवों के आधार पर फ़ाउण्डेशन का यह मानना है कि शिक्षक-शिक्षिकाओं के अलगाव को ख़त्म करने और उनमें सहकार व एक-दूसरे से सीखने की क्षमता विकसित करने में सहायक मंच, शिक्षकों के पेशेवर विकास में एक सहभागितापूर्ण एवं संघटित दृष्टिकोण का निर्माण करने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। उत्तराखण्ड के अनेक ज़िलों में फ़ाउण्डेशन ने संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों में हिस्सेदारी की है और इन बैठकों को महज़ आँकड़े जुटाने व सूचनाओं के लेन-देन के मंचों से ऐसी जगहों में बदलते देखा है जहाँ शिक्षक-शिक्षिकाएँ पेशेवरों की तरह मिलते हैं और कक्षा से जुड़ी चुनौतियों और दूसरे अकादमिक मुद्दों पर सहभागितापूर्ण संवाद में शरीक होते हैं। साथ ही, इस प्रक्रिया के ज़रिए वे अपना पेशेवर विकास भी करते हैं।

इस अध्ययन में उत्तराखण्ड के ऐसे चार संकुलों के अनुभवों का विवरण देते हुए उनका विश्लेषण करने की कोशिश की गई है, जहाँ सीआरसी समन्वयकों, शिक्षक-शिक्षिकाओं और फ़ाउण्डेशन के सदस्यों की लगातार कोशिशों ने संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों को पुनर्जीवित किया है और अकादमिक संवाद की एक ऐसी जगह का निर्माण किया है जो शिक्षक-शिक्षिकाओं की अपनी है।

मुख्य सबक़

1. संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों को शिक्षक-शिक्षिकाओं के पेशेवर विकास की सहभागितापूर्ण जगह में तब्दील करने की किसी भी पहल के लिए सीआरसी समन्वयक की क्षमता का गहन विकास करना होगा।

2. औपचारिक व अनौपचारिक परस्पर संवादों के ज़रिए सभी हिस्सेदारों के बीच आपसी विश्वास और सम्मान पर आधारित सम्बन्ध विकसित करना बेहद ज़रूरी है। सहभागितापूर्ण ढंग से सीखने के लिए यह सम्बन्ध अपरिहार्य है।

3. इन बैठकों के आयोजन व संचालन के लिए सार्थक प्रक्रियाएँ स्थापित की जानी आवश्यक हैं। इनमें परिचर्चा के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध कराना, प्रासंगिक विषयों का चयन करना और रिसोर्स पर्सन (सन्दर्भ व्यक्ति) द्वारा समुचित तैयारी किया जाना शामिल है।

4. इस तरह का मंच कितना प्रभावशाली है, यह अन्ततः उन संवादों की गुणवत्ता और गम्भीरता पर निर्भर करता है जिनमें यह मदद करता है। यह भी ज़रूरी है कि कक्षा प्रक्रियाओं के पहले व बाद के क्रियाकलापों के साथ इसका ऐसा गठजोड़ स्थापित हो जिससे यह मंच शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए सीधे-सीधे प्रासंगिक हो।

5. इन बैठकों से जुड़े मसलों के बारे में फ़ैसले लेने की प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर शिक्षक-शिक्षिकाओं को शामिल करना ज़रूरी है, चाहे वे विषय वस्तु के बारे में हों या प्रक्रियाओं के बारे में।

6. यह बेहद महत्त्वपूर्ण है कि इन बैठकों में लोकतान्त्रिक और भयमुक्त वातावरण का निर्माण किया जाए।

7. सीखने के लिए एक सहयोगी भौतिक वातावरण ज़रूरी होता है। सुविधाजनक जगह का चयन करना और वहाँ बैठक के लिए साफ़-सुथरी व आरामदायक जगह बनाना शिक्षक-शिक्षिकाओं की ज़रूरतों के प्रति सरोकार दिखाता है और उनको आकर्षित भी करता है।

1.0 सन्दर्भ

धीरे-धीरे इस बात को पूरी दुनिया मान रही है कि शिक्षक-शिक्षिकाओं के पेशेवर विकास के लिए सहभागिता और मिलजुलकर सीखना ज़्यादा प्रभावकारी तरीक़े हैं। स्कूलों में सीखने-सिखाने के एक अधिक अर्थपूर्ण अनुभव के लिए विभिन्न सन्दर्भों एवं भौगोलिक स्थितियों में विविध युक्तियों को अपनाया जा रहा है, जिनसे ऐसे स्थान और मंचों को मुहैया करवाया जा सके जो काम के दौरान शिक्षक-शिक्षिकाओं को एक-दूसरे के साथ सम्पर्क में आने और उनके कार्यों के आत्म निरीक्षण व उनमें सुधार हेतु अपने सामूहिक ज्ञान का उपयोग करने को प्रोत्साहित करते हों।

भारत में भी, मिलजुलकर सीखने और शिक्षक-शिक्षिकाओं के अलगाव को तोड़ने के महत्त्व का ज़िक्र शिक्षक शिक्षण की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2009 (एनसीएफ़टीई) में मिलता है।[1] इसमें उल्लिखित शिक्षक-शिक्षिकाओं के सतत पेशेवर विकास के उद्देश्यों में से एक बिन्दु इस प्रकार है : "बौद्धिक अलगाव से बाहर निकलकर, अपने क्षेत्र के दूसरे लोगों के साथ अपने अनुभव व अन्तर्दृष्टियों को साझा करना; इसमें दोनों तरह के लोग शामिल हैं, विशिष्ट विषयों के शिक्षक-शिक्षिकाएँ व विद्वान और साथ ही निकट व व्यापक समाज के बुद्धिजीवी भी।" यह साफ़-साफ़ कहता है– "अपने क्रियाकलापों पर चर्चा व उनकी समीक्षा करने, काम के वार्षिक कैलेण्डर बनाने, और साप्ताहिक अथवा मासिक आधार पर अपने शिक्षण की योजना बनाने और साथ ही, अपने सहकर्मियों, स्कूल के अकादमिक मुखिया और सन्दर्भ व्यक्तियों से संकुल व ब्लॉक स्तर पर चर्चा करने के लिए इस तरह के पेशेवर मंच, जैसे कि स्कूल और संकुल की बैठकें, शिक्षण के पेशे का अनिवार्य हिस्सा हैं।"

1. शिक्षक शिक्षण के राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षण परिषद, 2009

इस अध्ययन में उत्तराखण्ड में एक लम्बे समय में संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों के सम्बन्ध में किए गए काम पर फ़ोकस किया गया है। विशेष तौर पर, यह अध्ययन पड़ताल करता है कि संकुल-स्तरीय मासिक बैठकें किस तरह सेवारत शिक्षक-शिक्षिकाओं के पेशेवर विकास के प्रभावी मंच के रूप में विकसित हुई हैं। इस बदलाव को सम्भव बनाने वाली कोशिशों व क्रियाकलापों को चिह्नित करने और उनको समझने के मक़सद से यह उत्तराखण्ड के चार संकुलों में हुए अनुभवों का दस्तावेज़ीकरण और आलोचनात्मक विश्लेषण करने की कोशिश करता है।

2.0 अध्ययन का दायरा

ब्लॉक और संकुल संसाधन केन्द्रों से सम्बन्धित वर्तमान साहित्य मुख्य रूप से उनके कामकाज की दशा पर केन्द्रित है।[2] हालाँकि इस तरह के प्रयास व्यवस्था की कमियों को उजागर करने में काफ़ी उपयोगी हैं, मिसाल के लिए संसाधनों व वित्त की कमी, सन्दर्भ व्यक्तियों की सीमित क्षमता और पदसोपानबद्ध (hierarchical) शक्ति समीकरण जो मिलजुलकर सीखने और मैण्टरिंग को बाधित करते हैं। लेकिन मौजूदा व्यवस्थाओं को किस तरह उनके अकादमिक उद्देश्य पूरा करने में फिर से सक्षम बनाया जाए, इस बारे में यह कोई मदद नहीं करते। यह अध्ययन उस यात्रा का और उन तमाम कोशिशों का वृत्तान्त है जिनके ज़रिए यह मंच धीरे-धीरे क्षमता निर्माण की सम्भावित जगहों के रूप में तब्दील हुए। यह ख़ासतौर पर इस सवाल का जवाब देने की कोशिश करता है :

संकुल-स्तरीय मासिक बैठकें सेवारत शिक्षक-शिक्षिकाओं के पेशेवर विकास के प्रभावशाली मंच के रूप में काम करें, इसके लिए ज़रूरी प्रक्रियाएँ और तौर-तरीक़े क्या हैं?

इसका जवाब देने के लिए इस अध्ययन में उत्तराखण्ड के चार संकुलों (उत्तरकाशी ज़िले में लाटा और जोशियाड़ा, उधम सिंह नगर ज़िले में नगला और अल्मोड़ा जिले में रियूनी) के परिदृश्य का विश्लेषण किया गया है, जहाँ फ़ाउण्डेशन संकुल बैठकों में सक्रिय भागीदारी करता रहा है। इन जगहों पर यह बैठकें शिक्षक-शिक्षिकाओं को सहयोग देने की व्यवस्थित प्रणाली बन कर उभर रही हैं। इन संकुलों का चयन इनमें लम्बे समय से संचालित फ़ाउण्डेशन के क्रियाकलापों के आधार पर और इस तथ्य के आधार पर किया गया कि इनमें सकारात्मक बदलाव के कुछ चिह्न साफ़ दिख रहे थे।

इस अध्ययन के लिए सूचनाएँ निम्नलिखित तरीक़ों से इकट्ठी की गईं :

1. मई 2016 और मार्च 2017 के बीच हर संकुल में कम से कम दो बैठकों का अवलोकन किया गया। अवलोकन के लिए एक चैकलिस्ट बनाई गई, जिसमें शिक्षक-शिक्षिकाओं की भागीदारी, प्रतिभागियों के लिए चर्चा के विषयवस्तु की प्रासंगिकता, वार्षिक अकादमिक कैलेण्डर और बैठकों के एजेण्डा में तालमेल, एक ही संकुल में आयोजित विभिन्न बैठकों के बीच जुड़ाव जैसे मापदण्डों को शामिल किया गया।

2. चयनित संकुलों के संकुल समन्वयक, प्रतिभागी शिक्षक-शिक्षिकाओं और इन बैठकों में सीधे-सीधे शामिल फ़ाउण्डेशन के सदस्यों के गहन एवं अर्ध-संरचित साक्षात्कार किए गए।

3. सूचना के द्वितीयक स्रोतों, जैसे कि बैठकों की रपटें, समन्वयकों, शिक्षक-शिक्षिकाओं या फ़ाउण्डेशन के सदस्यों द्वारा तैयारी के लिए बनाए गए नोट्स या टिप्पणियाँ आदि को हासिल किया गया।

2. रोल ऑफ़ ब्लॉक एण्ड क्लस्टर रिसोर्स सैण्टर्स इन प्रोवाइडिंग एकेडेमिक सपोर्ट टू एलिमैण्ट्री स्कूल्स, रिसर्च, इवैल्युएशन एण्ड स्टडीज़ यूनिट, टैक्निकल सपोर्ट ग्रुप, एडसिल (इण्डिया) लि., 2010

तालिका 1 : संकुल की रूपरेखा

संकुल	स्कूलों की संख्या (प्राथमिक)	शिक्षक-शिक्षिकाओं की संख्या (प्राथमिक)	स्कूलों की संख्या (उच्च प्राथमिक)	शिक्षक-शिक्षिकाओं की संख्या (उच्च प्राथमिक)
रियूनी (अल्मोड़ा)	10	29	3	9
नगला (उधम सिंह नगर)	15	55	55	26
जोशियाड़ा (उत्तरकाशी)	18	18	4	17
लाटा (उत्तरकाशी)	16	26	4	15

3.0 संकुल-स्तरीय मासिक बैठकें

शैक्षणिक व प्रशासनिक कार्यप्रणाली को सुधारने के लिए 'संकुल बनाने' (Clustering) की रणनीति को वैश्विक स्तर पर अपनाया गया है।[3] इससे यह सुनिश्चित होता है कि कुछ साझे संसाधनों तक शिक्षक-शिक्षिकाओं की पहुँच हो, वे एक-दूसरे से अपने विचार व अनुभव बाँट सकें और कक्षा की गतिविधियों पर सामूहिक चिन्तन-मनन कर सकें। शैक्षणिक प्रबन्धन के नज़रिए से देखें तो संकुल बनाने से प्रशासन में सुधार होता है क्योंकि इससे निगरानी और पर्यवेक्षण में मदद मिलती है, और जिला-स्तरीय अधिकारियों व स्कूल के बीच सूचनाओं का आदान-प्रदान सम्भव होता है।

भारत में भी नीति-निर्माताओं ने स्कूलों को आपस में जोड़ने की ज़रूरत को समझा है और विकेन्द्रीकृत निर्णय प्रक्रिया व शिक्षक-शिक्षिकाओं को नियमित अकादमिक सहयोग देने के लिए स्थानीय सांस्थानिक संरचनाओं की स्थापना की है। बीआरसी और सीआरसी को पहली बार 1994 में डीपीईपी के तहत मान्यता दी गई। सर्व शिक्षा अभियान के तहत, शिक्षक-शिक्षिकाओं को सतत अकादमिक समर्थन देने के लिए बीआरसी और सीआरसी को प्रत्येक ज़िले के हरेक ब्लॉक में स्थापित किया गया। बीआरसी का नेतृत्व 'बीआरसी समन्वयक' और सीआरसी का 'सीआरसी समन्वयक' करता/करती है। आमतौर पर सरकारी स्कूलों के वरिष्ठ शिक्षक-शिक्षिकाओं को ही इन केन्द्रों का समन्वयक बनाया जाता है।

मासिक अकादमिक बैठकों को स्कूलों में सुधार की संकुल आधारित रणनीति के एक अंग के रूप में देखा गया है। इन बैठकों को एक ऐसी जगह के रूप में विकसित करने का उद्देश्य है जहाँ शिक्षक-शिक्षिकाएँ एक-दूसरे से जुड़ सकें, कक्षा की चुनौतियों पर चर्चा कर सकें और आपसी सहयोग से समाधान खोज सकें। एसएसए के क्रियान्वयन की रूपरेखा में लिखा है कि संकुल-स्तरीय बैठकें "शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए एक ऐसा पेशेवर मंच होना चाहिए जहाँ वे विकेन्द्रित व सहभागितापूर्ण तरीक़े से चिन्तन-मनन कर सकें व योजना बना सकें।"[4] यह संकुल-स्तरीय दूसरी रणनीतियों से जुड़ा हुआ है, जो इसका समर्थन करती हैं। इन रणनीतियों में शामिल हैं– संसाधन केन्द्रों का निर्माण जहाँ सन्दर्भ सामग्री व उसके इस्तेमाल की जगह उपलब्ध हो; सीखने में आ रही चुनौतियों को समझने और तत्काल

3. स्कूल क्लस्टर्स एण्ड टीचर रिसोर्स सैण्टर्स, एलिज़ाबेथ ए. जिओर्दानो, यूनेस्को : इण्टरनैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ़ एजुकेशन प्लानिंग, पेरिस, 2008, फ़ण्डामैण्टल्स ऑफ़ एजुकेशनल प्लानिंग सीरीज़–86

4. क्रियान्वयन की रूपरेखा, 2011, सर्व शिक्षा अभियान।

मदद करने के लिए समन्वयक द्वारा स्कूलों का समय-समय पर दौरा करना, स्कूल सुधार के लिए स्थानीय समुदाय और पंचायती राज संस्थाओं से सलाह-मशविरे करना, और नीति के उद्देश्यों के अनुरूप संकुल के लिए गुणवत्ता सुधार योजना का विकास करना। इसलिए, यह सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं में सुधार की एक समग्र पद्धति का ही एक ज़रूरी हिस्सा है।

लेकिन अनेक कारणों के चलते, जो पूरी तरह से शिक्षक-शिक्षिकाओं व अधिकारियों के नियन्त्रण में भी नहीं थे, यह उद्देश्य शायद ही कभी हक़ीक़त में लागू हो पाए। उत्तराखण्ड में भी संकुल-स्तरीय बैठकें अनियमित थीं, उनमें उपस्थिति बहुत कम थी और उनका इस्तेमाल ज़्यादातर आधिकारिक सूचनाओं के प्रसारण जैसे प्रशासनिक कामों के लिए ही होता था। इन बैठकों का आयोजन बीआरसी समन्वयक अथवा उप शिक्षा अधिकारी के आधिकारिक आदेश से होता था और इनका मुख्य उद्देश्य था ब्लॉक अथवा ज़िला शिक्षा कार्यालय से मिले निर्देशों को नीचे पहुँचाना और शिक्षक-शिक्षिकाओं अथवा हैड टीचर से आँकड़े इकट्ठे करना। इन बैठकों में भाग लेने वाले ज़्यादातर हैड टीचर थे, जिनको विभाग से निर्देश लेने होते थे और अपने स्कूल सम्बन्धी सूचनाएँ ऊपर पहुँचानी होती थीं। जैसा कि रियूनी के समन्वयक ने बताया, "हरेक बैठक में कुछ शिक्षक आ जाते थे, थोड़े देर के लिए वहाँ बैठकर हाज़िरी रजिस्टर में दस्तख़त करके चले जाते थे।" पिछले अनुभवों को देखते हुए, शिक्षक-शिक्षिकाएँ इन बैठकों को सिर्फ़ प्रशासनिक औपचारिकता के रूप में ही देखते थे। यहाँ तक कि अगर कोई समन्वयक इन बैठकों के स्वरूप को थोड़ा विस्तृत करते हुए कक्षा से जुड़े विषयों को शामिल करने की कोशिश करते तो उन्हें प्रतिरोध का सामना भी करना पड़ता था। समन्वयक अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं, "सीआरसी समन्वयक के तौर पर मेरे शुरुआती दिनों में मैंने एक बार गणित के बारे में चर्चा करने की कोशिश की, लेकिन इसमें शिक्षक की ओर से अपेक्षित सहयोग नहीं मिला; यहाँ तक कि मुझपर दबाव भी आया कि मैं ऐसी गतिविधियाँ न करूँ।"

सीआरसी समन्वयकों की ज़िम्मेदारियों की सूची में अकादमिक गतिविधियों का नम्बर सबसे आख़िर में था; उनका ज़्यादातर समय आँकड़े इकट्ठा करने में ही जाता था। बिहार में बिल्कुल अगली पाँत में शामिल शैक्षणिक प्रशासकों का एक गुणात्मक अध्ययन इसकी पुष्टि करता है।[5] इस अध्ययन के अनुसार शैक्षणिक प्रबन्धन में, पदानुक्रम में ऊपर से नीचे की एवं नियम–पुस्तिकबद्ध संस्कृति के चलते स्थानीय स्तर के प्रशासकों के अधिकार बेहद सीमित होते हैं। इसके अलावा, स्कूलों में सीखने की प्रक्रिया में प्रभावशाली मदद देने के लिए सीआरसी समन्वयकों को न तो समुचित प्रशिक्षण दिया जाता है और न ही कोई दिशानिर्देश। यह व्यवस्था सीखने की प्रक्रिया को अंजाम देने के लिए समन्वयकों पर कोई 'दबाव' नहीं बनाती; इसमें सिर्फ़ आदेशों का पालन करना ही काफ़ी होता है। ऐसे परिदृश्य में सीआरसी के अकादमिक उद्देश्यों को हासिल करने और संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों का सार्थक अकादमिक समर्थन देने के मंच के रूप में उपयोग करने की गुंजाइश बेहद कम थी।

4.0 संकुल–स्तरीय बैठकों में फ़ाउण्डेशन की भूमिका

4.1 शुरुआत

उत्तराखण्ड में सीआरसी समन्वयकों के साथ फ़ाउण्डेशन का कामकाज लर्निंग गारण्टी प्रोग्राम (एलजीपी) के साथ 2004-05 में शुरू हुआ। इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन के दौरान

5. एजुकेशन रिफ़ॉर्म एण्ड फ़्रण्टलाइन एडमिनिस्ट्रेटर्स: ए केस स्टडी फ़्रॉम बिहार–2, यामिनी अय्यर, विन्सी डेविस व अम्बरीश डोंगरे; आइडियाज़ फ़ॉर इण्डिया 2015, http://ideasforindia.in/article.aspx?article_id=1515 से प्राप्त।

दक्षता आधारित मूल्यांकन प्रश्न-पत्रों को स्कूलों में बाँटने, क्रियान्वयन की निगरानी करने और विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं को जुटाने में सीआरसी समन्वयकों की सक्रिय भागीदारी थी। कुछ के सीआरसी समन्वयकों ने कुछ अकादमिक गतिविधियों, मसलन, मूल्यांकन प्रश्न-पत्रों को तैयार करने, मूल्यांकन के बारे में शिक्षक-शिक्षिकाओं के ओरिएण्टेशन और विद्यार्थियों के अधिगम स्तरों के विश्लेषण में भी हिस्सा लिया। क्रियान्वयन के तीन साल बाद, जब टीमों ने कार्यक्रम की समीक्षा की तो यह स्पष्ट हुआ कि मूल्यांकन सुधारों को अलग से लागू नहीं किया जा सकता। इस सोच के साथ 2008 में फ़ाउण्डेशन ने उत्तराखण्ड में सीआरसी समन्वयकों के साथ उनकी क्षमता निर्माण और सहयोग की मौजूदा व्यवस्था में सुधार के लिए प्रत्यक्ष काम पर ध्यान केन्द्रित किया। ज़मीनी वास्तविकताओं और ज़रूरतों के आधार पर यह हस्तक्षेप साल दर साल आकार लेते हुए विकसित हुआ।

प्रतिक्रियाओं को जुटाने में सीआरसी समन्वयकों की सक्रिय भागीदारी थी। कुछ के सीआरसी समन्वयकों ने कुछ अकादमिक गतिविधियों, मसलन, मूल्यांकन प्रश्न-पत्रों को तैयार करने, मूल्यांकन के बारे में शिक्षक-शिक्षिकाओं के ओरिएण्टेशन और विद्यार्थियों के अधिगम स्तरों के विश्लेषण में भी हिस्सा लिया। क्रियान्वयन के तीन साल बाद, जब टीमों ने कार्यक्रम की समीक्षा की तो यह स्पष्ट हुआ कि मूल्यांकन सुधारों को अलग से लागू नहीं किया जा सकता। इस सोच के साथ 2008 में फ़ाउण्डेशन ने उत्तराखण्ड में सीआरसी समन्वयकों के साथ उनकी क्षमता निर्माण और सहयोग की मौजूदा व्यवस्था में सुधार के लिए प्रत्यक्ष काम पर ध्यान केन्द्रित किया। ज़मीनी वास्तविकताओं और ज़रूरतों के आधार पर यह हस्तक्षेप साल दर साल आकार लेते हुए विकसित हुआ।

सीआरसी समन्यवकों के लिए कार्यशालाएँ आयोजित करवाने के अलावा फ़ाउण्डेशन ने उद्देश्यपूर्ण और योजनाबद्ध तरीक़े से संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों में हिस्सा लेना शुरू किया। इस हस्तक्षेप की शुरुआत हुई इन बैठकों में सीखने-सीखाने से जुड़े मुद्दों पर बातचीत के लिए समय माँगने से। शुरुआत में इस चर्चा के लिए सीमित समय ही दिया जाता था– अमूमन आधे से एक घण्टे। इस पर चर्चा की शुरुआत करने की ज़िम्मेदारी भी मुख्यतः फ़ाउण्डेशन के सदस्यों की ही थी। इसके लिए आवंटित अवधि को अक्सर "एपीएफ़ का सैशन" या "एपीएफ़ की बात रखने का टाइम" कहा जाता था।[6] शैक्षणिक मसलों पर चर्चा के लिए समय प्रशासनिक कामों को निपटाने के बाद ही दिया जाता था। शुरुआत में इस सत्र की चर्चाएँ सामान्य विषयों तक सीमित थीं, मसलन, बच्चे कैसे सीखते हैं, शिक्षा का अधिकार क़ानून (आरटीई), या सतत एवं व्यापक मूल्यांकन (सीसीई)। इनमें प्रतिभागी अक्सर खुलकर भाग नहीं लेते थे और यह सत्र एक तरफ़ा लैक्चर बन जाते थे। कई बार यह सत्र 'पढ़कर-चर्चा' करने की शैली में आगे बढ़ते थे, जिनमें एक संक्षिप्त पर्चा बाँटकर उस पर प्रतिभागियों की प्रतिक्रिया ले लेने भर का समय ही होता था। शिक्षक समुदाय में इसकी विश्वसनीयता बनाने और शिक्षक-शिक्षिकाओं में इनके प्रति रुचि जगाने में काफी समय लगा।

उन्हीं जगहों पर स्कूल सम्बन्धी अन्य हस्तक्षेपों में फ़ाउण्डेशन की भागीदारी ने आपसी विश्वास बढ़ाने में मदद किया और बैठकों में किए जा रहे हस्तक्षेप पर भी सकारात्मक प्रभाव डाला। मिसाल के लिए, 'बाल शोध मेला' के बारे में शिक्षक-शिक्षिकाओं की समझ को विकसित करने के लिए इन मंचों के इस्तेमाल का मौक़ा आया। प्रदर्शनों और परिचर्चाओं के ज़रिए इसकी समझ विकसित करने के लिए संकुल-स्तरीय बैठकों का प्रभावशाली तरीक़े से

6. बहुत सारे बाहरी लोग अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन को "एपीएफ़" के नाम से ही पुकारते हैं।

इस्तेमाल किया गया।[7] संकुल संसाधन केन्द्रों के माहौल को बेहतर बनाने की कोशिशें की गईं, जिससे वे शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए ज़्यादा आकर्षक बन सकें। संकुल के मासिक एजेण्डा और शिक्षक-शिक्षिकाओं के प्रोफ़ाइल को प्रदर्शित किया गया। किताबों की यथोचित सूचियों की उपलब्धता और सामग्रियों का प्रदर्शन सुनिश्चित करके पुस्तकालयों को दुरुस्त किया गया।

हालाँकि समय बीतने के साथ सीआरसी समन्वयकों के साथ फ़ाउण्डेशन के परस्पर क्रियाकलापों में बढ़ोतरी आई, लेकिन स्कूलों की ढाँचागत सुविधाओं की निगरानी करने, आँकड़ों का प्रबन्धन और शिक्षा विभाग द्वारा सूचनाओं के लिए किए जाने वाले बार-बार के तक़ाज़ों का जवाब देने जैसे प्रशासनिक कामों में समन्वयकों की अतिशय भागीदारी लगातार चुनौतियाँ पेश करती रही। फ़ाउण्डेशन की संगठनात्मक रणनीति में 2011-12 तक महत्त्वपूर्ण बदलाव आया। इस दौरान, विभिन्न जगहों पर मैदानी संस्थाएँ (Field Institutes) बनाई गईं, जिनका मुख्य ज़ोर शिक्षक-शिक्षिकाओं के क्षमता निर्माण पर था। सीआरसी समन्वयक एक प्रशासक की तरह काम कर रहे थे जो शिक्षक-शिक्षिकाओं से सीधे सम्पर्क में थे, जबकि संकुल-स्तरीय मासिक बैठकें ज़िला शिक्षा व्यवस्था के नोडल बिन्दु थे जहाँ शिक्षक-शिक्षिकाओं के बड़े समूहों से सीधे संवाद हो सकता था। इसे देखते हुए, अपने अन्य प्रयासों के साथ-साथ फ़ाउण्डेशन की टीमों ने इन मौक़ों का भी उपयोग करके बने-बनाए मंचों को शिक्षक-शिक्षिकाओं के सतत पेशेवर विकास की ज़रूरतें पूरी करने के लिए इस्तेमाल किया। रणनीति में हुए इस बदलाव से सीआरसी समन्वयकों के साथ होने वाले परस्पर क्रियाकलापों में बढ़ोतरी हुई। संकुल बैठकों में भाग लेने के साथ-साथ, फ़ाउण्डेशन ने विभिन्न प्रकार की गतिविधियों के ज़रिए सीआरसी समन्वयकों के क्षमता संवर्धन के लिए भी गहन काम किया।

4.2 विकास

सीआरसी समन्वयकों और फ़ाउण्डेशन की विभिन्न मिलीजुली कोशिशों के चलते, इन बैठकों की दिशा, लहज़े और गुणवत्ता में धीरे-धीरे बदलाव आया। इनमें होने वाली चर्चाएँ धीरे-धीरे अकादमिक विषयों की तरफ मुड़ने लगीं, जैसे कि स्कूल के दौरे के अनुभवों को साझा करना, पुस्तकालय निर्माण व सुधार, शिक्षार्थियों का मूल्यांकन, और विशिष्ट विषयों व कक्षा से जुड़े सरोकार। फ़ाउण्डेशन के एक सदस्य याद करते हुए कहते हैं, "एक सत्र में 'भिन्न' पर चर्चा हो रही थी; इसमें पहली बार यह दिखा कि प्रतिभागी उसमें रुचि दिखा रहे थे और वे कुछ देर ज़्यादा बैठने को भी तैयार थे। यह वो मील का पत्थर था जो उस गुणवत्ता में तब्दील हुआ जो आज देखने को मिलती है।" इसकी पुष्टि जोशियाड़ा के सीआरसी समन्वयक करते हैं, "शुरुआत में टीचर उपस्थिति तो दर्ज कराते थे, मगर वहाँ बैठते नहीं थे। धीरे-धीरे, जब बैठकों में कक्षा की चुनौतियों पर बात होने लगी तो वे बैठकों के प्रति ज़्यादा आकर्षित हुए और उनमें नियमित भाग लेने लगे। लेकिन यह सब एक झटके में नहीं हुआ। इसमें समय लगा और सबकी मिलीजुली कोशिशें लगीं।" इन परिचर्चाओं का स्वरूप भी बदला और यह मुख्यतः एकतरफ़ा लैक्चर की बजाय सहभागितापूर्ण गतिविधियों में बदल गईं, जहाँ शिक्षक-शिक्षिकाएँ अपने-अपने अनुभव साझा करते थे और यहाँ तक कि पेशेवर मसलों पर एक-दूसरे से असहमतियाँ भी ज़ाहिर करते थे। यह मंच ऐसे लोकतान्त्रिक मंचों में बदलने लगे जहाँ विभिन्न नज़रिए को पर्याप्त जगह और सम्मान दिया जाता था।

7. शिक्षाकर्मियों, शिक्षक-शिक्षिकाओं, बच्चों और समुदाय को एक साथ लाने के लिए फ़ाउण्डेशन ने 'बाल शोध मेला' का विचार विकसित किया है। इससे जुड़े हुए सभी पक्ष स्वैच्छिक व सहभागी प्रक्रिया के माध्यम से 'शोध' के लिए कोई विषय या क्षेत्र चुनते हैं। बच्चों के पास योजना बनाने व तैयारी के लिए लगभग एक महीने का समय होता है। इसकी तैयारी में प्रश्नावली बनाना, स्थानीय इलाक़े का सर्वेक्षण करना, समुदाय के सदस्यों से बातचीत करना, नतीजों को दर्ज करना, आँकड़ों का विश्लेषण व वर्गीकरण करना और अन्त में उनको मेले में प्रस्तुतिकरण के लिए तैयार करना शामिल है।

इन चर्चाओं को ज़्यादा प्रभावशाली बनाने और शिक्षक-शिक्षिकाओं की ज़रूरतों से बेहतर जोड़ने के लिए वार्षिक अकादमिक योजना के विकास की ज़रूरत महसूस हुई। फ़ाउण्डेशन के सहयोग से, 2013-14 से, सीआरसी समन्वयकों द्वारा संकुल-स्तरीय अकादमिक योजनाओं का विकास किया गया। अकादमिक योजना के विकास की इस प्रक्रिया ने अकादमिक सरोकारों को सम्बोधित करने, सभी हित धारकों के बीच आपसी विश्वास विकसित करने और निर्णय लेने की सहभागितापूर्ण प्रक्रिया बनाने की समन्वयकों की क्षमता के निर्माण में भी मदद किया।

नीचे दी गई तालिका से यह पता चलता है कि व्यापक वार्षिक अकादमिक योजना के आधार पर संकुल-स्तरीय बैठकों में किस तरह की चर्चाएँ होने लगीं उनका

तालिका 2 : रियूनी में 2016 में आयोजित संकुल बैठकों की चर्चा के विषय

तारीख़	विषय	अवधि (घण्टे)	ग्रेड	उपस्थित शिक्षक-शिक्षिकाएँ
03/05/2016	EVS का नज़रिया	4	1-5	14
11/06/2016	पैटर्न; गणित से भय लगता है का पाठ	3	1-5	11
15/07/2016	नक़्शे पढ़ना	2.5	1-5	15
30/08/2016	लेखन व पठन	2.5	1-2	9
24/09/2016	सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण मॉड्यूल को साझा करना; गिनती	2.5	1-2	19
22/10/2016	क्षेत्रफल और परिधि	3	3-5	7
21/10/2016	किट के ज़रिए गिनती, कोण और समय का शिक्षण	2.5	1-2	7
26/11/2016	संविधान और लोकतन्त्र; गिनती; पठन की समझ	4.5	3-5	14
20/12/2016	शुरुआती साक्षरता– पठन व लेखन	4	3-5	17
21/12/2016	शुरुआती साक्षरता– पठन व लेखन	4	1-2	15

हालाँकि इन बैठकों के लिए सरकार की तरफ से अलिखित मंज़ूरी थी, लेकिन इनके आयोजन और उनमें शिक्षक-शिक्षिकाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए ब्लॉक समन्वयक या उप शिक्षाधिकारी की तरफ से स्पष्ट आदेश जारी करने पड़ते थे। लेकिन, धीरे-धीरे शिक्षक-शिक्षिकाओं के बीच आपसी सहमति से ही बैठकें आयोजित होने लगीं।

2015 तक आते-आते, जो चीज़ शुरु में मुख्य रूप से फ़ाउण्डेशन की टीम की ज़िम्मेदारी थी, वह एक ऐसी व्यवस्था में बदल गई जिसमें सभी पक्षों की मिलीजुली भागीदारी थी। शिक्षक-शिक्षिकाएँ पूरी तैयारी के साथ आते थे और चर्चा को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी लेते थे। लाटा के एक शिक्षक का कहना है, "मैं मीटिंग में पूरी तैयारी से जाता हूँ और उसमें खुलकर भाग

लेता हूँ। गणित की क्लास में मैं क्या करता हूँ, इसके अनुभव भी मैं सबके साथ साझा करता हूँ। चर्चा में जो सुझाव मिलते हैं, उनको मैं क्लास में लागू करके बेहतर ढंग से पढ़ाने की कोशिश करता हूँ।" बातचीत और चर्चाओं की गुणवत्ता में सुधार के अलावा, जैसा कि ऊपर ज़िक्र हुआ है, चर्चाओं के लिए नियत किया गया समय भी बढ़ गया। इन चर्चाओं की अवधि धीरे-धीरे बढ़ती ही चली गई, यहाँ तक कि कुछ बैठकें तो 4-4 घण्टे तक चली जाती थीं।

जैसे-जैसे शिक्षकों और समन्वयकों को इन संवादों के लाभ और कक्षा में उनके प्रत्यक्ष प्रभाव का अन्दाज़ा होने लगा, वैसे-वैसे सीआरसी समन्वयकों ने ज़्यादा ज़िम्मेदारी लेना शुरू किया। अब फ़ाउण्डेशन सीआरसी समन्वयकों के साथ काम कर रहा है और इन बैठकों में अकादमिक चर्चाओं और अनुभवों को साझा करने की गुंजाइश विकसित करने के लिए समन्वयकों का सहयोग कर रहा है।

4.3 वर्तमान परिदृश्य

वर्तमान समय में, इस अध्ययन में शामिल संकुलों में होने वाली संकुल-स्तरीय बैठकों में एक स्तर की परिपक्वता आ गई है। इनकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

- बैठकें ज़्यादा नियमित और व्यवस्थित होती हैं; परीक्षाओं, छुट्टियों और प्राकृतिक आपदा जैसी दूसरी वजहों को छोड़कर इनका आयोजन हर माह तय होता है।
- बैठकों का एजेण्डा चर्चा करने के बाद आपसी सहमति से तय होता है और इसे बैठक से पहले ही साझा भी कर दिया जाता है।
- बैठकों में औसतन 10-15 शिक्षक-शिक्षिकाएँ भाग लेते हैं।
- बैठकों का एक स्पष्ट अकादमिक उद्देश्य होता है और इनमें शिक्षक-शिक्षिकाओं को उनके शैक्षणिक व्यवहार को बेहतर करने के लिए इनपुट दिए जाते हैं।
- यह चर्चाएँ कक्षा की प्रक्रियाओं के पहले व बाद के क्रियाकलापों से जुड़ी होती हैं।

बैठकों में प्रतिभागियों को आमन्त्रित करने की ज़िम्मेदारी सीआरसी समन्वयक की होती है और वह इसके लिए फ़ोन या 'वॉट्सएप' जैसी किसी संचार सेवा का इस्तेमाल कर सकते हैं। शिक्षक-शिक्षिकाएँ अपनी इच्छा से इसमें भाग लेते हैं। आमतौर पर, संकुल-स्तरीय बैठकों की सालभर की तारीख़ें ब्लॉक संसाधन केन्द्र में पहले ही तय कर ली जाती हैं और ब्लॉक के हरेक संकुल के लिए यह एक समान ही होती हैं। शिक्षक-शिक्षिकाओं की उपलब्धता या विभाग की तरफ से आए किसी ज़रूरी काम के आधार पर इन तारीख़ों में बदलाव किया जा सकता है। कभी-कभार, कई संकुलों के समूह के लिए किसी सुविधाजनक स्थान पर संयुक्त बैठकें आयोजित की जाती हैं। ऐसा तब किया जाता है जब किसी ऐसे विषय पर चर्चा की जाने वाली हो जो सबके बीच समान हो, मसलन, सीसीई या शिक्षक डायरी। इन बैठकों में भी सामूहिक रूप से तय किए गए नियमों का पालन किया जाता है, जैसे कि पूर्व-निर्धारित योजना व एजेण्डा, बैठक की पूरी अवधि में हरेक शिक्षक-शिक्षिका की सक्रिय भागीदारी, और सीखने-सिखाने से जुड़े विषयों पर ध्यान केन्द्रित करना।

आमतौर पर अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक स्कूल से एक शिक्षक या शिक्षिका बैठक में भाग लेंगे। चूँकि ऐसे स्कूलों की संख्या काफ़ी है जिनमें सिर्फ़ एक या दो शिक्षक-शिक्षिकाएँ ही हैं, इसलिए इन बैठकों में शिक्षक-शिक्षिकाओं की 100% उपस्थिति– यानी हर स्कूल से एक शिक्षक या शिक्षिका की उपस्थिति– कम ही देखने को मिलती है। लेकिन जब इन बैठकों में शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए प्रासंगिक अकादमिक विषयों पर ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा तो उपस्थिति में भी सुधार आया।

नीचे दी गई तालिका से 2013-14 और 2015-16 के बीच इन संकुलों में आयोजित ऐसी बैठकों की संख्या और उनमें शिक्षक-शिक्षिकाओं की औसत उपस्थिति की जानकारी दी गई है।

तालिका 3 : बैठकों की संख्या और शिक्षक-शिक्षिकाओं की औसत उपस्थिति संकुल अकादमिक बैठकों की संख्या उपस्थिति (शिक्षक-शिक्षिकाओं की औसत संख्या)

वर्ष	2013-14	2014-15	2015-16	2013-14	2014-15	2015-16
रियूनी (अल्मोड़ा)	-	4	8	-	10	12
नगला (उधम सिंह नगर)	7	8	3	13	13	13
जोशियाड़ा (उत्तरकाशी)	4	7	4	17	20	18
लाटा (उत्तरकाशी)	2	5	5	13	12	14

किसी भी संकुल में मासिक बैठकों की अधिकतम संख्या 8 से 10 के बीच हो सकती है। छुट्टियों और परीक्षाओं के दौरान इनमें बाधा पहुँचती है। उत्तर काशी के जोशियाड़ा और लाटा जैसे दुर्गम इलाक़ों में, जहाँ मौसम भी अक्सर ख़राब रहता है, नियमित बैठकें कर पाना एक बड़ी चुनौती होती है। इन जगहों पर बैठकों की संख्या कम होती है और उनकी संख्या साल दर साल घटती-बढ़ती भी रहती है। शिक्षक-शिक्षिकाओं या समन्वयकों के स्थानान्तरण से भी बैठकों की नियमितता पर प्रभाव पड़ता है। मिसाल के लिए, जैसा कि ऊपर की तालिका में देखा जा सकता है, नगला में 2015-16 में मात्र तीन बैठकें ही आयोजित हो सकीं क्योंकि वहाँ के सीआरसी समन्वयक का स्थानान्तरण हो गया और नए समन्वयक की नियुक्ति कुछ महीनों बाद ही हो पाई।

5.0 सबक़

संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों में कामकाज के अनुभव से हमें शिक्षक-शिक्षिकाओं के पेशेवर विकास के लिए इस मंच का टिकाऊ उपयोग करने के बारे में कुछ सबक़ मिले हैं। इस भाग में उन प्रक्रियाओं और क्रियाकलापों का ब्यौरा दिया गया है जिनसे इसमें मदद मिली।

5.1 हितधारकों के बीच विश्वास, सौहार्द और व्यक्तिगत जुड़ाव बनाना

यह ज़रूरी है कि सभी हितधारकों (यानी इस मामले में सीआरसी समन्वयकों, शिक्षक-शिक्षिकाओं और फ़ाउण्डेशन) के बीच आपसी विश्वास, सम्मान और समावेशन का सम्बन्ध स्थापित किया जाए। इसके लिए औपचारिक व अनौपचारिक परस्पर क्रियाकलापों की दीर्घकालिक व सतत प्रक्रियाओं की ज़रूरत होगी।

शिक्षा व्यवस्था में, जहाँ आमतौर पर परस्पर क्रियाकलाप की औपचारिक जगहें पदसोपानबद्ध (hierarchical) होती हैं, वहाँ सहभागी तरीक़े से सीखने-सिखाने के लिए इस तरह का सम्बन्ध काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। एक बार आपसी विश्वास बन जाए और शिक्षक-शिक्षिकाएँ इसके फ़ायदों को समझने लगें तो वे अपने पेशेवर व्यवहार को सुधारने के लिए ख़ुद आगे आते हैं और मेहनत भी करते हैं। वे फ़ीडबैक भी सहजतापूर्वक स्वीकार करते हैं और किसी तरह का आधिकारिक दबाव न होने के बावजूद अपनी क्षमता का विकास करने के लिए काम करते हैं।

5.2 कार्यकर्ताओं में क्षमता व आत्मविश्वास का निर्माण

यह सुनिश्चित करने में कि संकुल-स्तरीय मासिक बैठकें शिक्षक-शिक्षिकाओं के पेशेवर विकास के मंच के रूप में काम कर सकें, सीआरसी समन्वयक की अहम भूमिका होती है। यह तथ्य नगला के एक शिक्षक के इस वक्तव्य में भी झलकता है, "इन बैठकों की शुरुआत 2008-09 से हुई, जब हमारे बीच के एक

लोकप्रिय टीचर, जो अपनी अकादमिक श्रेष्ठता के लिए मशहूर थे, यहाँ के समन्वयक बनाए गए।" सीआरसी समन्वयकों की क्षमताएँ और उनकी अभिप्रेरणा इस मंच की प्रभावशीलता की कुंजियाँ हैं। समन्वयकों की व्यापक ज़िम्मेदारियों के मद्देनज़र उनके सशक्तिकरण, समर्थन और क्षमता निर्माण की ज़रूरत है ताकि यह केन्द्र अपनी अकादमिक ज़िम्मेदारियाँ पूरी कर सके। जैसा कि हमारे इस अनुभव से पता चला, क्षमता-निर्माण में समय लगता है और इसके लिए विविध तौर-तरीक़ों से लगातार काम करने की ज़रूरत होती है। रियूनी के सीआरसी समन्वयक बताती हैं, "शुरुआत में टीचरों के कड़े विरोध को देखते हुए मैं अकादमिक चर्चा शुरू करने में हिचक रही थी। जब फ़ाउण्डेशन के सदस्यों ने कुछेक उत्साही शिक्षक-शिक्षिकाओं के साथ चर्चा शुरू करने की बात की, तब मुझमें कुछ आत्मविश्वास आया। लेकिन यह काम करेगा, इसका मुझे विश्वास नहीं था।"

सीआरसी समन्वयकों की क्षमता, अभिप्रेरणा और आत्मविश्वास को बढ़ाने के लिए फ़ाउण्डेशन एक लम्बे समय से (2005 से अब तक) उनके साथ सघनता से काम कर रहा है। फ़ाउण्डेशन द्वारा सीआरसी समन्वयकों की भूमिका और उनकी ज़िम्मेदारियों के स्वरूप पर कार्यशालाओं की शृंखला आयोजित की गई, जिससे इस काम की व्यापक समझ बनाने में काफ़ी मदद मिली। इसके अलावा, दृष्टिकोण (शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा और समाज, बच्चे कैसे सीखते हैं, ज्ञान आदि), विषयवस्तु (भाषा, विज्ञान, गणित जैसे विषयों की विषयवस्तु) और शिक्षापद्धति से सम्बन्धित मसलों पर भी कार्यशालाएँ आयोजित की गईं। इन कार्य शालाओं ने शिक्षक-शिक्षिकाओं की सहायता करने के लिए समन्वयकों की अकादमिक क्षमता के विकास में मदद की। मासिक बैठकों में अकादमिक चर्चाओं के शुरू हो जाने के बाद फ़ाउण्डेशन ने इन सत्रों की योजना और संचालन के लिए नियमित समर्थन दिया, जो आज भी जारी है। यह समर्थन उन सदस्यों के ज़रिए दिया गया जो एजेण्डा बनाने, बैठक-पूर्व तैयारियाँ करने, शिक्षक-शिक्षिकाओं से सम्पर्क करने आदि में मदद करते हैं। शुरुआती दौर में फ़ाउण्डेशन के सदस्य सीआरसी समन्वयकों के साथ सत्रों का सह-संचालन भी करते थे। धीरे-धीरे, समन्वयकों ने इसकी पूरी ज़िम्मेदारी सम्भाल ली। इस तरह, सीआरसी समन्वयक की भूमिका के विभिन्न आयामों को समझने में एक समर्थक व्यवस्था की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।

उत्साही सीआरसी समन्वयकों की मेहनत को 'अकादमिक संसाधन समूह'[8] जैसे सार्वजनिक मंचों से मान्यता देने और सराहने से भी उनका मनोबल बढ़ा। शिक्षक-शिक्षिकाओं के बीच इस मंच की कुछ पकड़ बनने से इसकी 'सफलता' की चर्चा भी फैलने लगी। जल्द ही, समन्वयकों की ज़िला-स्तर पर भी पहचान बनने लगी और उनको दूसरे संकुलों में सत्रों के संचालन व अपने अनुभव साझा करने के लिए आमन्त्रित किया जाने लगा। इस तरह, सम-सामूहिक मान्यता से समन्वयकों के आत्मविश्वास में इज़ाफ़ा हुआ और इन क्रियाकलापों को आगे ले जाने की प्रेरणा भी मिली।

5.3 प्रक्रियाओं को व्यवस्थित करना

संकुल-स्तरीय बैठकों के आयोजन व संचालन के लिए कुछ प्रक्रियाओं को स्थापित करना ज़रूरी है ताकि यह मंच सार्थक और उपयोगी ढंग से काम करे। संकुल-स्तरीय बैठकों का आयोजन पूर्व-निर्धारित तारीख़ों में किया जाता है, लेकिन किसी आकस्मिक घटना

8. अकादमिक संसाधन समूहों (Academic Resource Groups) का गठन इस उद्देश्य से हुआ था कि अकादमिक चर्चाओं, योजना व समस्या समाधान के लिए बने एक मंच के ज़रिए सरकारी शिक्षा व्यवस्था के विभिन्न प्रतिनिधियों के बीच एक साँझी समझ बन सके। इन समूहों की बैठक साल में दो या तीन बार होती हैं और इनमें शिक्षक-शिक्षिकाएँ, संकुल व ब्लॉक समन्वयक, ब्लॉक व ज़िला स्तर पर शिक्षा विभाग के अधिकारी और डाइट के प्रधानाध्यापक भाग लेते हैं।

की स्थिति में इसमें बदलाव भी होता है। बैठक के एक या दो दिन पहले शिक्षक-शिक्षिकाओं को उसकी तारीख़ व चर्चा में शामिल विषयों की याद दिलाने की ज़िम्मेदारी समन्वयक उठाते हैं और इसके लिए वे 'वॉट्सएप' या फ़ोन का इस्तेमाल करते हैं।

अल्मोड़ा और उत्तरकाशी के तीन संकुलों में हर महीने एक ही बैठक आयोजित की जाती है जिसमें अकादमिक व प्रशासनिक, दोनों विषयों पर बातचीत होती है। बैठक का पहला हिस्सा विभागीय कामों के लिए होता है और दूसरा हिस्सा अकादमिक चर्चाओं के लिए। लेकिन, उधम सिंह नगर में महीने में दो बैठकें होती हैं। एक बैठक होती है सूचनाओं के आदान-प्रदान व प्रशासनिक कामों के लिए और दूसरी बैठक होती है अकादमिक चर्चाओं के लिए।

बैठकों का अकादमिक एजेण्डा भी पहले ही तैयार कर लिया जाता है। एजेण्डा का विकास इससे जुड़े सभी पक्षों की सहभागिता के आधार पर किया जाता है। अकादमिक वर्ष की शुरुआत में शिक्षक-शिक्षिकाएँ, समन्वयक और फ़ाउण्डेशन के सदस्य साथ मिलकर उस साल के पेशेवर विकास के लक्ष्यों को लेकर एक साझा नज़रिया विकसित करते हैं। यह एक सामान्य ख़ाका होता है, जिसमें इसका ज़िक्र होता है कि किस महीने कौन से विषय पर चर्चा होगी और उसके सत्रों के संचालन की ज़िम्मेदारी किनकी होगी। इस कैलेण्डर को बनाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि बैठकों के बीच विषयवस्तु की एक निरन्तरता बनी रहे और साथ ही विभिन्न विषयों व मुद्दों पर बराबर समय व ध्यान दिया जा सके।

किसी सत्र का ख़ास एजेण्डा बैठक के एक-दो दिन पहले सबके साथ साझा किया जाता है। वर्तमान परिदृश्य में, सीआरसी समन्वयक, शिक्षक-शिक्षिकाएँ व फ़ाउण्डेशन के सदस्य बातचीत करके आपसी सहमति से एजेण्डा तय करते हैं। एजेण्डा को पहले से ही तय करने की प्रक्रिया से शिक्षक-शिक्षिकाओं को कक्षा में रोज़मर्रा की स्थितियों से उभरी अपनी ज़रूरतों को अभिव्यक्त करने का मौक़ा मिला है। नगला के एक शिक्षक के शब्दों में, "मैंने दो महीने पहले, पहली कक्षा के विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाने के मुद्दे पर केन्द्रित बैठक के लिए अनुरोध किया था। दूसरे टीचर भी ऐसे विषय बताते हैं जिनपर चर्चा होनी चाहिए। इससे हमको यह अहसास होता है कि हमारी चिन्ताओं का समूह में निराकरण हो रहा है और हमारे विचारों को महत्त्व दिया जा रहा है।" एजेण्डा को पहले ही बता देने से शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए अपने विषयों से जुड़े सत्र में उपस्थित होना आसान हो जाता है। नगला से ही एक अन्य शिक्षक बताते हैं, "मैं इन बैठकों में बिल्कुल शुरुआत से ही भाग ले रहा हूँ। पिछले दो-तीन सालों में मैंने इनमें होने वाले परस्पर क्रियाकलापों की गुणवत्ता में बदलाव होते देखा है। मैं गणित और विज्ञान पर केन्द्रित बैठकों में भाग लेता हूँ क्योंकि क्लास में मैं इन्हीं विषयों को पढ़ाता हूँ।"

बैठकों की कार्यवाही की एक विस्तृत व औपचारिक रपट बनाई जाती है और उसे ब्लॉक व ज़िला स्तर के अधिकारियों से साझा किया जाता है। समन्वयक इन रपटों का इस्तेमाल पिछली चर्चाओं को संक्षेप में दोहराने के लिए एक सन्दर्भ की तरह कर सकते हैं और साथ ही, शिक्षक-शिक्षिकाओं से पिछली बैठक में सीखी बातों को कक्षा में लागू करने के अनुभवों पर फ़ीडबैक भी लेते हैं। दस्तावेज़ीकरण से इन क्रियाकलापों से मिले सबक़ और समझ को एक लिखित व व्यवस्थित स्वरूप देने में मदद मिलती है, जिसे दूसरों के साथ आसानी से साझा किया जा सकता है।

5.4 चर्चाओं की गुणवत्ता सुनिश्चित करना

शिक्षक-शिक्षिकाओं के मिलजुलकर सीखने के मंच कितने प्रभावशाली होंगे, यह अन्ततः वहाँ होने वाले संवादों की गुणवत्ता व गम्भीरता और कक्षा के क्रियाकलापों के लिए उनकी प्रासंगिकता पर निर्भर करता है। बैठक में होने

वाली चर्चाएँ रचनात्मक हों, यह सुनिश्चित करने के लिए ज़रूरी है कि विषयवस्तु प्रासंगिक हो, सन्दर्भ व्यक्तियों में अकादमिक विशेषज्ञता हो और चर्चाएँ परस्पर क्रियाकलाप पर आधारित हों, जिनमें शिक्षक-शिक्षिकाएँ ज्ञान के सामूहिक निर्माण में भाग लेने के लिए प्रेरित किए जाएँ।

आमतौर पर बैठकें दो से चार घण्टे तक चलती हैं। सत्र अक्सर विभिन्न विषयों के अलग-अलग मुद्दों पर केन्द्रित होते हैं, मिसाल के लिए, अंग्रेजी व्याकरण कैसे सिखाएँ, कक्षा में ग्लोब का इस्तेमाल किस तरह करें, या फिर विशिष्ट टीएलएम (शिक्षण-अधिगम सामग्री) जैसे कि गणित की किट का उपयोग कैसे करें। इसके अलावा, सत्रों में व्यापक मुद्दों या नीतियों पर भी बातचीत सम्भव है, जैसे सीसीई या 'बाल शोध मेला' का आयोजन। कुछ सत्रों में उन मॉड्यूलों का फ़ॉलोअप भी किया जाता है जो शिक्षा विभाग द्वारा साल में एक बार आयोजित शिक्षक-शिक्षिकाओं के विषयवार प्रशिक्षण में पढ़ाए जाते हैं। सत्रों की योजना इस तरह बनाई जाती है कि हर बैठक अपने आप में पूर्ण हो ताकि एक भी बैठक में उपस्थित होने वाले शिक्षक-शिक्षिकाएँ भी उससे लाभ उठा सकें, कुछ मूल्यवान सीख हासिल कर सकें और आगे की बैठकों में भाग लेने के लिए प्रेरित हो सकें।

संकुल बैठकों का संचालन समन्वयक, शिक्षक-शिक्षिकाएँ अथवा फ़ाउण्डेशन के सदस्य करते हैं। हर सत्र की ज़िम्मेदारी अलग-अलग व्यक्तियों को पहले से ही दे दी जाती है। सन्दर्भ व्यक्ति सत्र के लिए गहन तैयारी करते हैं– इसमें बैठक की विषयवस्तु की योजना बनाना, उसके लिए ज़रूरी तैयारी करना और बैठक में चर्चाओं को दिशा देना शामिल है। विषय सम्बन्धी शोध और उसके प्रस्तुतीकरण में डाइट के फ़ैकल्टी सदस्य, ब्लॉक समन्वयक व फ़ाउण्डेशन की टीमें फ़ैसिलिटेटरों की अक्सर मदद करती हैं। इसके अलावा, संकुल समन्वयकों द्वारा संकलित की गई सन्दर्भ सामग्री की मदद भी ली जाती है। कोशिश की जाती है कि सत्र में विभिन्न क़िस्म की तकनीकों का इस्तेमाल किया जाए, जैसे कि वीडियो, सामूहिक प्रस्तुतियाँ, और अन्य गतिविधियाँ जो सत्रों को जीवन्त व सहभागितापूर्ण बना सकें और प्रतिभागियों की रुचि को भी बनाए रखें। बाहरी सन्दर्भ व्यक्तियों, ख़ासतौर से इण्टरमीडिएट कॉलेज के लैक्चररों को विभिन्न विषयों पर बोलने के लिए आमन्त्रित किया जाता है ताकि वे अपनी विशिष्ट विशेषज्ञता को साझा कर सकें। इन उपायों से बैठकों को आम चर्चा का विषय बनाने में मदद मिलती है। इसके अलावा, दूसरे संकुलों के समन्वयकों को भी सत्रों के संचालन के लिए आमन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार अनुभवों को आपस में साझा करने से और एक-दूसरे की चुनौतियों व विशेषज्ञताओं को स्वीकार करने से सभी पक्षों में आत्मविश्वास और भरोसे का निर्माण होता है। ऐसी ही एक बैठक में भाग लेने वाले शिक्षक के शब्दों में, "बैठकों में सत्रों का संचालन करने के बाद हमें आत्मविश्वास का अनुभव होता है। इससे हम सबमें आपसी विश्वास और एक ख़ास तरह का जुड़ाव भी बनता है।"

सत्र अधिकाधिक शिक्षक-केन्द्रित होते हैं और सन्दर्भ व्यक्ति शिक्षक-शिक्षिकाओं को सवाल उठाने, अपने अनुभव साझा करने और ज्ञान के निर्माण में सक्रिय भागीदारी के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इन मंचों में यह ध्यान दिया जाता है कि शिक्षक-शिक्षिकाओं के अनुभवों व अवलोकनों को आगे रखा जाए और उनमें यह क्षमता विकसित की जाए कि वे सीखने-सिखाने के अपने तौर-तरीक़े विकसित कर सकें और उनको बेहतर भी बना सकें।

5.5 कक्षा से सम्बन्ध बनाना

दूसरे वयस्क शिक्षार्थियों की ही तरह शिक्षक-शिक्षिकाएँ भी उन विषयों में ज़्यादा रुचि रखते हैं जो उनके जीवन से सीधे-सीधे जुड़े होते हैं। इसे देखते हुए पेशेवर विकास के अवसरों का प्रासंगिक होना ज़रूरी हो जाता है। इनकी प्रासंगिकता को स्थापित करने व उसे बनाए रखने के लिए स्कूलों का दौरा करना ज़रूरी होता है क्योंकि इससे शिक्षक-शिक्षिकाओं

के अनुभव और सीखने-सिखाने की चुनौतियाँ सामने आती हैं। इसलिए, शिक्षक-शिक्षिकाओं की चिन्ताओं को समझने और उनसे व्यक्तिगत जुड़ाव बनाने के लिए स्कूलों के दौरे करना समन्वयक के लिए ज़रूरी है। यह दौरे शिक्षक-शिक्षिकाओं से आमने-सामने बातचीत करके उनको संकुल स्तरीय बैठकों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करने का मौक़ा देते हैं। रियूनी की सीआरसी समन्वयक ने ख़ुद को 'सपनों की उड़ान' और 'स्कूल चलो अभियान' जैसे स्कूल-स्तरीय कार्यक्रमों में पूरी तरह शामिल कर लिया, जिससे उनको शिक्षक-शिक्षिकाओं के साथ आपसी विश्वास, सम्मान व सहयोग का सम्बन्ध विकसित करने में मदद मिली।[9]

स्कूल के दौरों से सीआरसी समन्वयकों को उन जटिल परिस्थितियों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है जिनमें शिक्षक-शिक्षिकाएँ काम करते हैं। यह अनुभव संकुल-स्तरीय बैठकों में उनके अकादमिक एजेण्डा और संवादों पर असर डालते हैं। इसके अलावा, स्कूल दौरों के दौरान जो मुद्दे सामने आते हैं उन पर मासिक बैठकों में चर्चा होती है। वहाँ दूसरे प्रतिभागी उनके बारे में अपनी राय ज़ाहिर करते हैं और इससे जो समझ बनती है उसे कक्षा में लागू किया जाता है। नगला संकुल के सीआरसी समन्वयक कहते हैं, "हमारी कोशिश हमेशा यह होती है कि चर्चा के विषय कक्षा से जुड़े हुए हों ताकि शिक्षक इन चर्चाओं से कुछ उपयोगी चीज़ें सीख सकें। एक बार जब इस बात पर चर्चा हो रही थी कि बच्चे विज्ञान किस तरह बेहतर सीख सकते हैं, तब हमने सूक्ष्मदर्शी के इस्तेमाल के महत्त्व पर भी नज़र डाली। इससे अपर प्राइमरी के शिक्षक-शिक्षिकाओं को अपनी कक्षाओं के सूक्ष्मदर्शी का इस्तेमाल करने के तरीक़े के प्रदर्शन में मदद मिली।" शिक्षक-शिक्षिकाएँ भी कई बार यह बताते हैं कि उन्होंने किस तरह इन बैठकों में सीखी गई बातों का कक्षा में इस्तेमाल किया। इससे कक्षा की प्रक्रियाओं से पहले व बाद के क्रियाकलापों से गठजोड़ बनते हैं, जिससे शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए इस मंच की प्रासंगिकता में भी इज़ाफ़ा होता है।

5.6 साझा अधिकार और मुक्त संवाद की गुंजाइश का निर्माण

शिक्षक-शिक्षिकाओं को अपने पेशेवर विकास पर अधिकार दिए जाने की ज़रूरत है। सीखने की योजना के निर्माण और उसके क्रियान्वयन में शामिल किए जाने पर शिक्षक-शिक्षिकाएँ न सिर्फ़ अपने पेशेवर विकास की ज़िम्मेदारी लेने की क्षमता रखते हैं बल्कि ऐसा करके भी दिखाते हैं।

फ़ैसले लेने की साझी प्रक्रियाएँ और मिलाजुला नेतृत्व, यह संकुल-स्तरीय बैठकों के ढाँचे की पहचान है। शिक्षक-शिक्षिकाओं को दोनों स्तरों पर शामिल किया जाता है— विषयवस्तु (एजेण्डा तय करने) के स्तर पर भी, और प्रक्रियाओं (योजना-पूर्व तैयारी, संचालन) के स्तर पर भी। इससे न सिर्फ़ शिक्षक-शिक्षिकाओं की भागीदारी बढ़ी है बल्कि उन्होंने इन बैठकों से जुड़े विभिन्न कार्यों की ज़्यादा ज़िम्मेदारियाँ भी ली हैं, मसलन, सालाना अकादमिक योजना बनाना, एजेण्डा तय करना, सत्रों का संचालन करना, चर्चाओं में खुलकर भाग लेना आदि। यह पहले की बैठकों की पदसोपानबद्धता और आदेश जारी करने की व्यवस्था से बिल्कुल अलग है, जहाँ शिक्षक-शिक्षिकाएँ उदासीन व तटस्थ बने रहते थे और अकादमिक हस्तक्षेपों का विरोध करते थे। बैठकों में भाग लेने वाले नगला के एक शिक्षक ने इस बदलाव के पीछे इन्हीं कारणों की भूमिका को स्वीकार किया, "प्रतिभागियों के प्रति खुलेपन का माहौल और कक्षा से जुड़े विषयों व क्रियाकलापों पर चर्चा जैसे कारणों से बैठकें नियमित होने लगीं।"

5.7 पेशेवर विकास के लिए सुसंगत अनुभवों की एक शृंखला प्रस्तुत करना

शिक्षक-शिक्षिकाओं के साथ विविध पद्धतियों के ज़रिए समग्र रूप से लम्बे समय तक काम

9. *सपनों की उड़ान* और *स्कूल चलो अभियान* स्कूल से बाहर के बच्चों के नामांकन के समुदाय-आधारित कार्यक्रम हैं।

करने से फ़ायदे दिखते हैं। शिक्षक-शिक्षिकाओं के पेशेवर विकास के लिए उनके साथ परस्पर क्रियाकलाप का कोई भी तरीक़ा, अनुभव या मंच तभी असरदार होता है जब वह विभिन्न क्रियाकलापों की सुसंगत शृंखला का एक हिस्सा हो। यह बात संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों पर भी लागू होती है।

संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों की जो मूल अवधारणा थी, उसमें इसे संकुल सुधार की एक व्यापक रणनीति के अभिन्न हिस्से की तरह देखा गया था। इस अवधारणा के अन्य तत्त्व हैं स्कूल में समर्थन की व्यवस्था और संसाधनों से भरपूर सक्रिय संकुल संसाधन केन्द्र। फ़ाउण्डेशन के सदस्य और साथ ही सीआरसी समन्वयक शिक्षक-शिक्षिकाओं के साथ विभिन्न तरीक़ों से काम करते हैं, जैसे कि सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण और स्कूल के दौरे करना। स्कूल का दौरा अगर संक्षिप्त भी हो, तब भी उससे शिक्षक-शिक्षिकाओं के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध बनते हैं और उनके सामने खड़ी चुनौतियों की बेहतर समझ भी बनती है। इनके अलावा, फ़ाउण्डेशन पेशेवर विकास के लिए और भी कई प्रकार के कार्यक्रम आयोजित करता है, जैसे कि कार्यशालाएँ और 'स्वैच्छिक शिक्षक फोरम', जिसमें कई शिक्षक-शिक्षिकाएँ भाग ले सकते हैं।[10] इस तरह, यह सुनिश्चित करना सम्भव हो पाया है कि संकुल-स्तरीय मासिक बैठकें पेशेवर विकास के अनुभवों की एक सुसंगत व निरन्तर शृंखला का हिस्सा बनें, जहाँ शिक्षक-शिक्षिकाओं की पहुँच हो। इससे इन बैठकों की प्रभावकारिता व उपयोगिता में भी सुधार आया है।

5.8 बेहतर माहौल बनाना

इन संकुल बैठकों के व्यापक कामकाज को देखते हुए अनुकूल भौतिक वातावरण का मुद्दा छोटा लग सकता है। लेकिन, यह बेहद ज़रूरी कारक है क्योंकि सुविधाजनक जगह का चयन और वहाँ बैठक के लिए साफ़-सुथरा व आरामदायक माहौल बनाने से शिक्षक-शिक्षिकाएँ इस मंच की तरफ आकर्षित होते हैं। दरअसल, इससे यह दिखता है कि उनकी ज़रूरतों को समझा जाता है और उनकी इज़्ज़त की जाती है। जैसा कि पहले ज़िक्र किया गया है, उत्तराखण्ड में किए गए बिल्कुल शुरुआती कामों में से एक था संकुल संसाधन केन्द्रों का कायाकल्प करना ताकि वे ऐसी जगह बन सकें जहाँ शिक्षक-शिक्षिकाएँ जाने के इच्छुक हों। जब फ़ाउण्डेशन संकुल-स्तरीय बैठकों में शामिल होने लगा, तब सीआरसी समन्वयकों के साथ काम कर रहे सदस्यों ने वातावरण को बेहतर बनाने की कोशिशें कीं। उन्होंने शिक्षक-शिक्षिकाओं के आराम का भी ध्यान रखना शुरु किया और यह सुनिश्चित किया कि उनके बैठने के लिए आरामदायक व्यवस्था हो। इन कोशिशों से वह जगह शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए ज़्यादा आकर्षक बन गई।

इसी प्रकार, बैठक के लिए एक ऐसा कक्ष तय किया गया जहाँ बिना किसी रुकावट के गम्भीर अकादमिक बातचीत सम्भव हो, जैसे कि संकुल संसाधन केन्द्र या कोई स्कूल। इन चारों संकुलों में देखा गया कि अब बैठकें ज़्यादातर स्कूलों में ही आयोजित होती हैं, जिससे शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए उनमें भाग लेना आसान होता है और इससे इस मंच के प्रति उनकी प्रतिबद्धता भी बढ़ती है। जब कई संकुलों की संयुक्त बैठकों का आयोजन होता है तब ऐसी जगह को चुनने की कोशिश की जाती है जो केन्द्र में हो और जहाँ पहुँचना सबके लिए सहज हो। ध्यान रहे कि उत्तराखण्ड जैसे पहाड़ी इलाक़े में यह काम

10. *'स्वैच्छिक शिक्षक फोरम' (Voluntary Teacher Forum) फ़ाउण्डेशन द्वारा संचालित स्वैच्छिक बैठकें हैं। यह आमतौर पर विभिन्न विषयों के शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए आयोजित की जाती हैं, जहाँ वे कक्षा सम्बन्धी अनुभवों को साझा कर सकते हैं, उनपर चर्चा कर सकते हैं और मिलकर समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। इनका आयोजन स्कूल के समय के बाद या छुट्टियों के दिन होता है। इन मंचों पर विस्तृत जानकारी के लिए देखें "स्टार्टिंग एण्ड सस्टेनिंग वॉलण्टरी टीचर फ़ोरम्स : एक्सपीरिएंस फ्रॉम टोंक, राजस्थान, अक्तूबर 2016"— azimpremjiuniversity.edu.in/SitePages/pdf/Field-Studies-In-Education-Starting-and-sustaning-VTFs-Oct-2016.pdf।*

बेहद चुनौतीपूर्ण हो सकता है।

6.0 उपसंहार

संकुल संसाधन केन्द्र व ब्लॉक संसाधन केन्द्रों की अवधारणा ऐसे स्थानीय संस्थागत ढाँचों के रूप में की गई है, जो शिक्षक-शिक्षिकाओं को सतत पेशेवर समर्थन मुहैया कराते हों। लेकिन, विभिन्न कारणों से, यह केन्द्र स्कूलों व ज़िला शिक्षा विभाग के बीच विकेन्द्रीकरण की महज़ एक और परत बनकर अपने मूल उद्देश्यों को हासिल करने से चूक गए हैं।

उत्तराखण्ड में काम कर रहे फ़ाउण्डेशन के सदस्यों ने संकुल संसाधन केन्द्रों व संकुल-स्तरीय बैठकों में उस संकुल के शिक्षक-शिक्षिकाओं को एक-दूसरे से जोड़कर अकादमिक संवाद के एक ऐसे मंच के निर्माण की सम्भावना को देखा, जो शिक्षक-शिक्षिकाओं की विशिष्ट चिन्ताओं का समाधान करने और सीखने-सिखाने के क्रियाकलापों को बेहतर करने का काम कर सकते हैं। एक लम्बे समय में और इससे जुड़े सभी पक्षों के विविध प्रयासों के बाद, यह संकुल बैठकें पेशेवर विकास के जीवन्त मंच के रूप में विकसित हो रही हैं जिनका स्पष्ट अकादमिक उद्देश्य है और जो कक्षा के क्रियाकलापों से सीधे जुड़ी हुई हैं। लेकिन कई तरह की चुनौतियाँ अब भी बनी हुई हैं, मिसाल के लिए अलग-अलग समूह के शिक्षक-शिक्षिकाओं को एक साथ लाना (जैसे कि अपर व लोअर प्राइमरी के शिक्षक-शिक्षिकाओं की संयुक्त बैठक का आयोजन), एक शिक्षक वाले स्कूलों के शिक्षक या शिक्षिकाओं का बैठकों में भाग न ले पाना, और कुछ इलाक़ों का बेहद दुर्गम होना, आदि।

संकुल बैठकों को शिक्षक-शिक्षिकाओं के विकास के पेशेवर मंच के रूप में विकसित कर पाना एक सतत प्रक्रिया है। इसके लिए समय, धैर्य और टिकाऊ व विविध प्रकार के ज़मीनी प्रयासों की ज़रूरत होती है। इन बैठकों का अन्तिम लक्ष्य यह है कि शिक्षक-शिक्षिकाएँ इन मंचों की सारी ज़िम्मेदारी अपने हाथ में लेकर ख़ुद ही इसके प्रतिभागी, संचालक व अधिकारी बन जाएँ। इन चुने हुए संकुलों में भी इस लक्ष्य को पूरी तरह हासिल करने के लिए एक लम्बा फ़ासला तय करना है।

लेकिन, एक व्यापक स्तर पर इस प्रयास ने यह साबित कर दिया है कि इस तरह के बने-बनाए ढाँचों के नवीकरण व सशक्तीकरण के प्रयासों में तमाम सीमाओं के बावजूद सफलता की सम्भावनाएँ मौजूद हैं। इस समय देश में आठ लाख से भी ज़्यादा प्रारम्भिक सरकारी स्कूलों के लिए एक लाख से भी ज़्यादा संकुल संसाधन केन्द्र हैं।[11] चूँकि लोगों व संसाधनों से लैस यह संस्थाएँ पहले से ही मौजूद हैं, इसलिए शिक्षक-शिक्षिकाओं के क्षमता निर्माण के लिए इनका इस्तेमाल किया जाना चाहिए। संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों के फ़ाउण्डेशन के अनुभवों ने सिद्ध कर दिया है कि इन संस्थाओं के तयशुदा लक्ष्य को हासिल करने के लिए मौजूदा ढाँचों को भी सन्दर्भ के अनुसार और शिक्षक-शिक्षिकाओं की स्वायत्तता का सम्मान करते हुए किए गए सहभागितापूर्ण प्रयासों से पुनर्जीवित किया जा सकता है।

11.. *डाइस, 2015-16*

भाषा सीखने और सिखाने के आयाम

पत्रिका के संवाद स्तम्भ की दूसरी कड़ी आपके सामने है। इस संवाद का विषय था "कक्षा में भाषा सीखने-सिखाने के पहलू"। इस संवाद में दक्षिण दिल्ली के तिलंगपुर कोटला के प्राथमिक स्कूल के शिक्षक डॉ अमित प्रकाश, एस.डी.एम.सी विकासचारी स्कूल की शिक्षिका नीतू पांचाल निधि, दक्षिण दिल्ली नगर निगम प्राथमिक विद्यालय नजफगढ़ ज़ोन की शिक्षिका अंशु कुमारी ने भागीदारी की। इस प्रक्रिया में रजनी द्विवेदी ने सहजकर्ता और हृदयकान्त दीवान ने विशेषज्ञ की भूमिका निभाई। दिल्ली विश्वविद्यालय, सामाजिक कार्य विभाग के छात्र आदित्य प्रताप सिंह ने तकनीकी कार्य में सहयोग दिया। संवाद का समन्वय रंजना सिंह ने किया। सं.

रजनी द्विवेदी : हमने आपसे कुछ सवाल साझा किए थे। हम एक-एक करके उन सवालों पर अब विस्तार से बात करना चाहेंगे। इस बातचीत में आप जिन स्कूल के अनुभवों को चाहें, उन्हें साझा कर सकते हैं। सीखने-सिखाने के सन्दर्भ में इस पर बहुत बात होती है कि शिक्षण बच्चों की मातृभाषा में होना चाहिए, इससे बच्चों को सीखने में मदद मिलती है। लेकिन किस भाषा को बच्चों की मातृभाषा मानें? दिल्ली में पढ़ने वाले बच्चे हिन्दी भी जानते होंगे, कुछ पंजाबी/हरियाणवी भी और कुछ और अन्य भाषाएँ भी। हर कक्षा में अलग-अलग पृष्ठभूमि के बच्चे आते हैं। अतः मूल सवाल यह है कि किस भाषा को मातृभाषा कहेंगे? यानी मातृभाषा के विचार को आप कैसे समझते हैं?

अंशु कुमारी : जैसा कि नाम से ही पता चलता है, मातृभाषा मतलब माता-पिता से मिलने वाली भाषा है, अर्थात, जन्म के बाद बच्चा अपने आस-पास के परिवेश, परिवार, वातावरण से जो भाषा प्राप्त करता है, जो भी सीखता है, उसे हम मातृभाषा कहते हैं। मातृभाषा से ही बच्चे का सामाजिक और भाषाई विकास होता है या उसकी पहचान बनती है और मेरा मानना यह है कि मातृभाषा से हिन्दी भाषा सीखने में बहुत ज़्यादा मदद मिलती है। एक तरह से मातृभाषा हिन्दी भाषा के शिक्षण के लिए एक नींव प्रदान करती है। हम यहाँ प्रारम्भिक कक्षाओं में शिक्षण की बात कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में एक ख़ास बात यह है कि हर एक बच्चा जो विद्यालय में प्रवेश करता है वह ख़ाली नहीं आता है, वह अपने साथ बहुत सारे शब्दों को लेकर आता है। चाहे वह शब्द मानक शब्द न हों, लेकिन वह उसकी मातृभाषा, उसके आस-पास के वातावरण से, उसके समाज से, उसके परिवार से, उसके परिवेश से जुड़े होते हैं। जैसे ही वह विद्यालय में प्रवेश करता है उसे कुछ नया-सा महसूस होता है, उसमें झिझक आ जाती है, उसमें भाषा के सम्बन्ध में आत्मविश्वास की कमी हो जाती है। एक शिक्षक का यही कार्य है कि बच्चा जो शब्द भण्डार अपने साथ लेकर आता है, उसको स्कूल में और विकसित करे। उसकी झिझक को, और उसके आत्मविश्वास की कमी को दूर करे और उसके पास उपलब्ध ज्ञान के साथ-साथ नए ज्ञान का समावेश करे। उसके लिए शिक्षक विभिन्न तकनीकें, विधियाँ उपयोग में लाता है। एक शिक्षक द्वारा यह विधियाँ उस बच्चे के स्तर के अनुसार ही उपयोग में लाई

जानी चाहिए। उदाहरण के लिए आमतौर पर हम सीधा ही उसे वर्ण सिखाने से शुरू करते हैं। सीधे ही वर्ण न सिखाकर हमें पहले बच्चे से आपसी सम्बन्ध व तालमेल स्थापित करना चाहिए। अगर क्लास में घुसते ही हम सीधे उसे 'अ से अनार' बताएँगे तो उसको निखारने के लिए एक मंच या नींव जो हम तैयार कर रहे हैं वह पूरी तरह विकसित नहीं हो पाएगी। इसके लिए हमें बच्चों को ऐसे अवसर प्रदान करने चाहिए जिससे उसके अन्दर की सारी प्रतिभा व शब्द भण्डार को वह बहुत ही अच्छी तरह से सबके सामने बिना किसी झिझक के प्रस्तुत कर सके। बच्चे की जिज्ञासा भी अच्छी तरह से विकसित हो पाए।

हमें क्लास में कुछ ऐसा करना चाहिए जिससे उसे अपने बारे में बोलने का अवसर मिले। जैसे बच्चे से कहें कि आपके घर में कौन-कौन है? वह बताएगा, मम्मी-पापा, बहन-भाई हैं। स्कूल आते समय आपने रास्ते में आस-पास क्या-क्या देखा? बच्चा उन चीज़ों के नाम बताएगा तो इस तरह से उसका शब्द भण्डार हमें मिलेगा। हम उसको ब्लैकबोर्ड पर लिख दें या कॉपी में लिखें। ब्लैकबोर्ड पर लिखेंगे तो ज़्यादा अच्छा रहेगा। उसके बाद इन शब्दों के चित्र भी बनाए जा सकते हैं।

ऐसे बहुत से अभ्यासों के बाद शब्दों से बच्चों को हम वर्ण पर ले जाएँगे तो वह उन वर्णों को अच्छी तरह पहचानकर समझ पाएगा और आने वाले समय में उनको उपयोग में ला पाएगा। ऐसे ही जैसे अगर हमें बच्चे को सजीव-निर्जीव चीज़ों का ज्ञान देना है, तो हम बच्चे को ही कक्षा में खड़ा करके, एक बच्चे को बोलेंगे चलकर दिखाओ, साँस लेकर दिखाओ, हँसकर दिखाओ। उस बच्चे के साथ-साथ पूरी कक्षा में मुक्त चर्चा का माहौल बनेगा, बच्चे सक्रियता से भाग लेंगे और आनन्दपूर्वक उस चीज़ को सीखेंगे और कभी भी नहीं भूलेंगे। उसका सजीव-निर्जीव के सम्बन्ध में अधिगम एक तरह से स्थाई अधिगम का रूप ले लेगा। जैसे साँस लेकर दिखाओ– सभी बच्चे साँस लेंगे।

मैंने एक प्रथम नाम के बच्चे को कहा अब जो मैं बोलूँगी वैसा ही करना। प्रथम, किताब को बोलो कि वह चले। तो फिर बच्चों से प्रश्न पूछेंगे, बातचीत करेंगे, चर्चा करेंगे कि क्या किताब चली? नहीं चली, अच्छा तो किताब ने प्रथम की बात नहीं मानी। दूसरे बच्चे को खड़ा करेंगे, आप बताओ यह क्या है? यह बोतल है, बोतल को चलने के लिए बोलो। क्या बोतल चली? तो इस तरह से हम बच्चे के साथ एक चर्चा विकसित करेंगे, क्लास में एक स्वस्थ माहौल बनाएँगे ताकि बच्चों का ज्ञान विकसित हो पाए।

मेरा ख़ुद का एक अनुभव है। क्लास में एक छोटा-सा बच्चा है, उसको क्लास में कुछ कराओ तो वह बहुत चुप-सा रहता है। इतनी आसानी से हिन्दी भाषा को नहीं सीख पाता, लेकिन मैंने जब यह गतिविधि कराई तो उसमें उसने बहुत अच्छी भागीदारी की। जो बिन्दु मुझसे छूट गए थे वह उसके बारे में मुझे व्यक्तिगत तौर पर बता रहा था। जैसे, जब यह क्रिया मैंने कराई तो मैंने कहा, अच्छा बताओ इनमें क्या अन्तर है? यह चल सकता है और यह नहीं चल सकता है। एक बच्चे ने बहुत ही सुन्दर जवाब दिया कि इसमें जान है और इसमें जान नहीं है। बच्चों का मेरे विषय से परिचय हो गया कि जिन वस्तुओ में जान पाई जाती है वह सजीव हैं, जिनमें नहीं पाई जाती वह निर्जीव हैं। अब वह कौन-कौन से हैं? वह इनको विभेद भी करना सीख जाएँगे।

इसी तरह से मैंने ब्लैकबोर्ड पर एक पौधे का चित्र बनाया, साथ ही खिड़की से बाहर भी पौधे थे, मैंने कहा कि खिड़की से बाहर देखो, यहाँ पर पौधा लगा है, यह पौधा सजीव है या निर्जीव है? तो बच्चों ने जवाब दिया निर्जीव है। क्यों निर्जीव है? क्योंकि यह साँस नहीं ले सकता, यह चल नहीं सकता, एक बच्चे ने जवाब दिया। मैंने कहा कि जैसे तुम भोजन खाते हो वैसे ही क्या पौधा भोजन लेता है? हाँ मैडम, वह पानी पीता है। मैंने कहा, पानी तुम भी पीते हो। यह भोजन क्या खाता है, कुछ बता सकते हो? बच्चे ने बताया कि मिट्टी इसका भोजन है।

फिर मैंने और आगे बताया कि इसे क्लास में ले आएँ तो क्या क्लास में यह जीवित रह पाएगा? क्या इसमें जान रहेगी क्लास में? नहीं मैडम, इसको हवा नहीं मिलेगी। मैंने कहा, हवा तो हम इसको पंखे से भी दे देंगे, खिड़की पर भी रख देंगे तो भी हवा आ जाएगी। एक ने कहा इसको मिट्टी नहीं मिलेगी, क्लास में फर्श है। मैंने कहा कि गमले में लगाएँगे तो मिट्टी भी ले आएँगे हम। फिर मैंने कहा, और क्या हो सकता है? तो एक बच्चे ने अपनी प्रादेशिक भाषा, अपनी मातृभाषा में जवाब दिया कि मैडम 'घाम' ले आएँगे। अब घाम सब बच्चों को नहीं पता, चूँकि मैं भी थोड़ा उस वातावरण से परिचित हूँ, तो मुझे मालूम था घाम। पहले मुझे भी कठिनाई हुई समझने में कि एकदम उसने क्या बोल दिया क्योंकि मेरे दिमाग़ में यह नहीं था कि वह बच्चा इस शब्द का उपयोग कर लेगा। दूसरी बार मैंने कहा कि बच्चे और क्या उपयोग कर सकते हैं तो फिर से उसने दोहराया घाम।

घाम स्थानीय भाषा में धूप को बोलते हैं। फिर मैंने उन्हें यह बताया कि क्या पौधे धूप नहीं खाते हैं, धूप नहीं लेते। छोटे बच्चे हैं तो उनको खाने से सम्बन्धित करके बताया क्योंकि जितनी हमारी भाषा उनके साथ सहज रहेगी वह उतना ही सरलता से सीखेंगे। तो उसने बोला कि हाँ धूप खाते हैं। तो मैंने बोला हाँ इस तरह से उनमें भी जान हुई या नहीं? तो एक छोटा बच्चा जो क्लास में बहुत ज़्यादा सक्रिय नहीं रहता, आमतौर पर जवाब भी नहीं देता उसने बताया कि यह बड़ा होता जाता है। यह बिन्दु मुझसे भी छूट गया था। तो मैंने भी कुछ चीज़ें जोड़ीं कि जैसे तुम छोटे से बड़े होते हो, हर वर्ष तुम्हारा जन्मदिन आता है, एक वर्ष बाद तुम्हारी आयु बढ़ती है उसी तरह से पौधा भी बढ़ता है तो सजीव चीज़ें भी बढ़ती हैं। तो इसमें बहुभाषिता भी आई, इसमें मातृभाषा का भी प्रयोग हुआ और मानक भाषा भी हम इसमें डाल सकते हैं। यह विषय समाप्त करने के बाद मैंने ब्लैकबोर्ड पर चित्र बना दिया। चित्र बनाने के बाद हमने उनसे इन चीज़ों के नाम पूछे, उन्होंने नाम बताए। उनको भले ही लिखना न आए। टीचर नाम लिखेगा तो इसमें मात्रा वाले शब्द भी आएँगे, बिना मात्रा के शब्द भी आएँगे। तो यहाँ से हम उनको मात्राओं का ज्ञान दे सकते हैं। यहाँ से हम उनका शब्द भण्डार विकसित कर सकते हैं। वर्ण की पुनरावृत्ति करनी है। तो वर्ण की पुनरावृत्ति भी होगी जैसे इसका नाम इस वर्ण से शुरू हो रहा है, यह भी करा सकते हैं तो अभ्यास भी इसी के अन्तर्गत आ गया। तो इस तरह से हम मातृभाषा का उपयोग मानक भाषा को कक्षा में सिखाने में कर सकते हैं और इसमें बहुभाषा भी बेहद सहायता प्रदान करती है।

डॉ अमित प्रकाश : मेरे अनुसार मातृभाषा वह भाषा है जो बच्चा अपने घर, अपने परिवार, अपने परिवेश से प्राप्त करता है। कहा जाता है कि परिवार ही उसका सबसे पहला विद्यालय है। विद्यालय आने से पूर्व वह बहुत सारी चीज़ें संचित करता है। वह इस संचय को लोगों के सम्पर्क में आने से, अपने परिवार के सम्पर्क में आने से और बढ़ाता रहता है। अगर पूछा जाए कि वह संचय मानक है या नहीं, तो मैं कहूँगा कि मानक नहीं है, बँधा-बँधाया नहीं है, किसी नियमों का पालन नहीं करता है। लेकिन यह भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अगर उसकी भाषा के सम्बन्ध में मैं बात करूँ एक मानक प्रारूप की, तो उसका प्रारूप मानक नहीं होगा। मातृभाषा का प्रारूप मानक नहीं होगा। उदाहरण स्वरूप मैं बताना चाहूँगा कि प्राथमिक कक्षा में जो बच्चे मेरे पास आते हैं एक विशेष पृष्ठभूमि के होने के कारण वह कुछ शब्दों का उच्चारण करते हैं जैसे 'छोरी' जो कि लड़की के लिए बोला जाता है। अब अगर मुझे उन्हें 'लड़की' समझाना है तो उनकी मातृभाषा से ही मुझे मानक भाषा की तरफ़ चलना पड़ेगा। उन दोनों शब्दों में एक जुड़ाव, एक सेतु मुझे बनाना पड़ेगा। अगर मैं सीधा ही उन्हें मानक भाषा के प्रारूप की तरफ़ लेकर जाता हूँ तो मैं भाषा शिक्षण में सफल नहीं हो पाऊँगा। दूसरी बात मैं कहना चाहूँगा कि मातृभाषा में उन्हें एक अनुकूल वातावरण मिलता है, जैसा पिता

बोल रहे हैं, जैसा माँ बोल रही हैं वैसे ही वह बोलना सीखता है। लेकिन जब वह विद्यालय में आता है तो हर चीज़ के बँधे-बँधाए नाम होते हैं, उसमें विविधता स्वीकार नहीं होती। इससे उन्हें अपने अनुकूल वातावरण नहीं मिल पाता है, जिसके कारण उनमें झिझक उत्पन्न होती है। और यह झिझक धीरे-धीरे उन्हें पीछे ले जाती है, अगर शिक्षक इस बात को समझ नहीं पाता है। मैं मातृभाषा में यही एक छोटी-सी चीज़ जोड़ना चाहूँगा कि बच्चा जो संचय करके आता है, अपनी पूर्व पृष्ठभूमि से जो लेकर आता है, हमें उसी चीज़ को आगे बढ़ाना है न कि उसे समाप्त करना है।

नीतू पांचाल : मातृभाषा क्या है, इस सन्दर्भ में मैं कहना चाहूँगी कि बच्चे के जन्म लेने के बाद बच्चा जो प्रथम भाषा सीखता है अपने परिवार से, अपने परिवेश से और जिस प्रथम भाषा का प्रयोग करता है, उसे ही हम मातृभाषा कहेंगे। मातृभाषा विद्यार्थी के जीवन का आधार है, उसके जीवन की नींव है, क्योंकि शुरुआती जीवन के अनुभव किसी भी व्यक्ति के जीवन में एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करते हैं। शुरुआती जीवन के अनुभव बच्चे की अपनी मातृभाषा में होते हैं, उनको ग्रहण करने का माध्यम भी मातृभाषा होती है और उसी के माध्यम से वह उन अनुभवों की अभिव्यक्ति भी करता है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि मातृभाषा सहज अभिव्यक्ति का आधार है। मानक भाषा में विद्यार्थी अपने आपको उतना सहज अनुभव नहीं करता इसलिए प्राथमिक कक्षाओं में मातृभाषा पर काफी ज़ोर दिया जाना चाहिए।

रजनी द्विवेदी : नीतू जी और अमित प्रकाश जी ने जो बात कही कि माँ से, माता-पिता से और आस-पास के परिवेश से बच्चे जो भाषा सीखते हैं वही उनकी मातृभाषा है। बहुत सारी ऐसी जगह हैं और दिल्ली तो ऐसी जगह है ही जहाँ विभिन्न भाषा भाषी परिवार साथ, आस-पास रहते हैं और इन परिवारों के बच्चे एक-दूसरे से सम्पर्क में आते ही हैं, मतलब उनके परिवेश में भी बहुत सारी भाषाएँ हैं। यहाँ क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि एक बच्चे की एक से अधिक मातृभाषाएँ हो सकती हैं?

अंशु कुमारी : जहाँ उसका जन्म हुआ है वही उसकी मातृभाषा कहलाती है।

रजनी द्विवेदी : अगर मैं फिर से कहूँ तो सवाल यह है कि मान लीजिए बहुत सारे दिल्ली के इलाक़े हैं जहाँ पर अलग-अलग भाषा बोलने वाले परिवार रहते हैं। दिल्ली में रह रहे बच्चे का हिन्दी से वास्ता तो पड़ेगा ही, उसके अलावा कुछ-कुछ इलाक़ों में हरियाणवी भी हो सकती है, क्योंकि वह सीमा से लगा हुआ है। कहीं-कहीं उत्तर प्रदेश की सीमा भी पास में है तो वहाँ की हिन्दी और दिल्ली की हिन्दी में अन्तर हो सकता है। जो बच्चा इस तरह के माहौल में रह रहा है उसके लिए क्या एक से अधिक मातृभाषाएँ होंगी? और भी भाषाएँ हैं जैसे तमिल है, मलयालम है, भोजपुरी है, मैथिली है, पंजाबी है, इन भाषाओं को बोलने वाले भी बहुत सारे परिवार दिल्ली में हैं। उनके बच्चे भी यहीं हैं। इनके परिवार की भाषा जैसे अवधी है या मैथिली है, या फिर कोई दक्षिण भारतीय भाषा है और हिन्दी भी बच्चे साथ में सीख रहे हैं तो क्या हम कह सकते हैं कि एक बच्चे की एक से अधिक मातृभाषाएँ हो सकती हैं?

अमित प्रकाश : बिल्कुल यह सम्भव है कि मातृभाषा एक से अधिक भी हो सकती हैं। इसका उदाहरण मैं आपको देना चाहूँगा। मेरा विद्यालय जिस गाँव में स्थित है वहाँ पास ही खेत में एक समुदाय बसता है। यह मज़दूरों का एक वर्ग है और उनमें काफ़ी सामाजिक विभिन्नताएँ हैं, एक मराठी परिवार है वहाँ पर, कुछ बिहार से आए हुए लोग हैं, कुछ हरियाणा से आए हुए लोग हैं। उनके बच्चे जब मेरे विद्यालय में आए तो उनकी मातृभाषा के जो शब्द थे वह तीनों-चारों परिवेश से जुड़े हुए थे। एक बच्चा महाराष्ट्र के परिवार से था, मराठी उसकी मातृभाषा थी लेकिन वह बच्चा एक हरियाणा से आए परिवार के साथ मिलता-जुलता था। मैंने पाया कि वही लड़का

'छोरी' भी बोल रहा था और अपनी मातृभाषा में 'लड़की' का उच्चारण भी कर रहा था। मैंने पाया कि ऐसे बच्चों का शब्दकोश अपनी एक मातृभाषा की बजाय, तीन-चार भाषाओं के होने के कारण अधिक समृद्ध था। अतः मेरा मानना है कि मातृभाषाएँ एक से अधिक भी हो सकती हैं। यह पूर्णतः इस चीज़ पर निर्भर करता है कि बच्चा किस परिवेश में पल-बढ़ रहा है।

नीतू पांचाल : मैं भी इस बात से सहमत हूँ। बहुत सारे ऐसे परिवारों का उदाहरण भी हम ले सकते हैं जहाँ पर बच्चे की माता अलग भाषाई परिवेश से हैं और पिता अलग भाषाई परिवेश से हैं। अन्तर्प्रान्तीय और अन्तरधर्म के विवाह का भी प्रचलन बढ़ा है। अगर बच्चा इस तरह के परिवार से है, और यह बच्चा जब विद्यालय आता है तो मैं यह नहीं कहूँगी कि वह दो मातृभाषाएँ लेकर आया है। मेरा मानना है कि उसके पास एक मिली-जुली मातृभाषा या एक मिश्रित भाषा होगी, जिसे हम एक नई मातृभाषा का नाम भी दे सकते हैं। ज़ाहिर है कि उसमें दो भाषाओं के शब्द अवश्य होंगे। लेकिन उसको हम यह नहीं कह सकते हैं कि उसके पास दो मातृभाषाएँ होंगी। मातृभाषा एक ही होती है, लेकिन उसमें जो शब्द भण्डार है वह मिश्रित शब्द भण्डार होगा, ऐसा मुझे लगता है।

अंशु कुमारी : मैं दोनों बिन्दुओं से सहमत हूँ। मातृभाषा तो बच्चे की एक होती है, जो कि जन्म के पश्चात वह अपनी माँ से, अपने घर-परिवार से सीखता है। लेकिन जब बच्चे का परिवेश बदलता है या जब वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवास करता है, उदाहरण के लिए अगर उसका जन्म बिहार में हुआ है और वह दिल्ली में आकर रह रहा है, तो उसकी जो मातृभाषा है उसमें दिल्ली का प्रभाव भी देखने को मिलेगा। मातृभाषा एक ही होगी लेकिन मातृभाषा का जो शब्द भण्डार है उसमें मिश्रित शब्द भण्डार या भाषा का मिश्रित रूप हमें देखने को मिलेगा।

रजनी द्विवेदी : अमित प्रकाश जी ने कहा कि एक से अधिक मातृभाषाएँ हो सकती हैं और वह इससे पूरी तरह सहमत है। हम आगे बढ़ते हैं। एनसीएफ का दस्तावेज़ कहता है, और इस बात की पैरवी भी करता है कि प्राथमिक कक्षाओं में मातृभाषा में शिक्षण होना चाहिए। इस बारे में आप लोगों का क्या मत है और मातृभाषा में शिक्षण होना चाहिए या नहीं?

नीतू पांचाल : हम सभी जानते हैं कि भारत, अनेक भाषाओं वाला देश है। 22 भाषाओं को तो हमारे संविधान में भी मान्यता मिली हुई है। हमारे पास प्राथमिक स्तर पर जो विद्यार्थी आते हैं उनका अलग-अलग भाषाई परिवेशों से होना स्वाभाविक है। मैं कहूँगी कि मातृभाषा को हमें एक 'साधन' बनाकर चलना चाहिए और मातृभाषा के सहयोग से हमें बच्चे को मानक भाषा की ओर ले जाना चाहिए। हमारा 'साध्य' मानक भाषा है लेकिन मातृभाषा साधन के रूप में प्रयोग की जानी चाहिए। विद्यालय में बच्चे की मातृभाषा को सम्मान देना चाहिए। जैसा कि पहले भी कहा था कि जो शिक्षक का कार्य है वह मानक भाषा और मातृभाषा के बीच में एक सेतु बनाने का है। सबसे पहला क़दम होना चाहिए मातृभाषा को आधार बनाते हुए, मातृभाषा को सम्मान देते हुए बच्चों को मानक भाषा की तरफ़ ले जाना। मातृभाषा या मानक भाषा दोनों में से किसी एक को चुनने की बजाय दोनों के समन्वय के द्वारा हमें अधिगम को अंजाम देना चाहिए क्योंकि हमारा अन्तिम उद्देश्य केवल भाषा सीखना-सिखाना नहीं है। विद्यार्थियों को पढ़ाने का अन्तिम उद्देश्य उनको बेहतर व्यक्तित्व के रूप में उभारकर सामने लाना और उनके भावी जीवन को सरल और सहज बनाना है। मातृभाषा को साधन बनाकर मानक भाषा को साधा जाए। प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा महत्त्वपूर्ण इस कारण से भी है कि मातृभाषा विद्यार्थी के अस्तित्व से जुड़ी है। अगर हम उसकी मातृभाषा को नकारते हैं तो इसका मतलब उसके अस्तित्व को नकारने वाली बात है। इसलिए हमें मातृभाषा को निस्सन्देह सम्मान देना चाहिए और विद्यार्थियों को मातृभाषा के

प्रयोग की और अपने सहपाठियों के साथ मातृभाषा में बात करने की पूर्ण, खुली अनुमति देनी चाहिए। एक शिक्षक के रूप में भी हमारे अन्दर उनकी मातृभाषाओं को सीखने की ललक होनी चाहिए ताकि विद्यार्थियों को लगे कि, हाँ मेरी मैडम मेरी मातृभाषा को बढ़ावा देती हैं। इससे विद्यार्थी एक शिक्षक के साथ भी ख़ुद को बहुत अच्छी तरह से समन्वित कर पाएगा। और एक अच्छा शिक्षक और शिक्षार्थी सम्बन्ध यदि कक्षा में बन पाता है तो केवल भाषा शिक्षण ही नहीं बाकी विषयों का शिक्षण भी बेहद सरल हो जाएगा।

डॉ अमित प्रकाश : मातृभाषा बच्चा अपने साथ लेकर ही आता है, उसका संचय उसके पास पहले से ही होता है और सीधा ही उसे किसी मानक भाषा के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। बँधे-बँधाए नियमों में उसे नहीं डाला जा सकता। अगर आप उसके अस्तित्व को ही नकारेंगे तो उस बच्चे में झिझक उत्पन्न होगी और कहीं न कहीं वह अपनी कक्षा में पिछड़ जाएगा। जैसा कि मैडम ने कहा कि जहाँ से, जो भी वह लेकर आया है, जैसा भी उसका संचय है, भण्डार है, उसके अस्तित्व को कहीं न कहीं हमें एक पहचान देनी चाहिए, उसको नकारना नहीं चाहिए। जैसा कि बार-बार कहा गया है उस अस्तित्व के साथ ही शिक्षक की भूमिका एक सेतु बनाने वाले की होनी चाहिए। शिक्षक मातृभाषा को धीरे-धीरे मानक भाषा के नियमों से जोड़ सके तो वह सीखने में मदद कर पाएगा। तो यहाँ पर मैं कहना चाहूँगा कि प्राथमिक कक्षाओं में जब आप शिक्षण की बात करते हैं तो सीधे-सीधे मानक भाषा पर नहीं आना चाहिए। बच्चे को पूर्णतः स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह अपने आप को अपनी मातृभाषा में अभिव्यक्त कर पाए और इस अभिव्यक्ति को नकारना नहीं चाहिए बल्कि उसकी सराहना भी होनी चाहिए।

अंशु कुमारी : प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षण मातृभाषा में होना चाहिए। बच्चा अपने परिवेश से, परिवार से बहुत कुछ सीखकर विद्यालय आता है। हम सभी को यह भली-भाँति ज्ञात है कि शिक्षण बच्चे की मानसिक आयु, व्यक्तिगत भिन्नताओं, शिक्षण के सूत्रों अर्थात मनोवैज्ञानिक सूत्रों को ध्यान में रखकर देना चाहिए। इस क्रिया में मातृभाषा एक संसाधन व उपकरण का कार्य करती है। हम शिक्षण में अक्सर ज्ञात से अज्ञात और सरल से कठिन की ओर जाने की बात करते हैं। मुझे लगता है मातृभाषा इसमें मदद करती है। मातृभाषा के द्वारा तथ्यों/प्रश्नों को समझना सरल हो जाता है। मेरा यह भी मानना है कि मातृभाषा बच्चे को उच्च शिक्षा को प्राप्त करने में भी सहायता प्रदान करती है। आरम्भिक वर्षों में मातृभाषा या भाषा का जो शिक्षण है वह बच्चे के आगामी वर्षों के लिए नींव प्रदान करता है। इन शुरुआती वर्षों में बच्चों को अपने भावों की अभिव्यक्ति करने, अपनी बात कहने के लिए जगह देना, जो मातृभाषा में ही अधिक सम्भव होता है, आगामी वर्षो में भाषा का सहज प्रयोग करने के लिए उसे आत्मविश्वास देता है जो उसके भावों की अभिव्यक्ति को और अधिक सहज व स्वाभाविक बनाता है।

मातृभाषा का उपयोग अगर बच्चा कक्षा में कर रहा है तो हमें उसे नकारना नहीं चाहिए। एक अनुभव साझा करना चाहूँगी– मेरी क्लास में एक बच्चा उत्तर प्रदेश के किसी ज़िले से आया था। वह हमेशा कहता कि मैडम कच्ची पेंसिल से काम करूँ या पक्की पेंसिल से काम करूँ? मुझे समझने में दिक़्क़त हुई कि कच्ची पेंसिल क्या है और पक्की पेंसिल क्या है? उसने फिर दोहराया, मैडम काम किससे करूँ, कच्ची पेंसिल से करूँ या पक्की पेंसिल से करूँ? जब उसको लगा कि मुझे समझ में नहीं आया तो मेरे हाथ में जो पैन था उसे दिखाकर उसने कहा कि मैडम इससे करूँ या दूसरे बच्चे के हाथ की पेंसिल दिखाकर कहा कि इससे करूँ? मैंने कहा कि बच्चे इससे (पेंसिल से) करो। उसने कहा, कच्ची पेंसिल से करूँ। मुझे भी एक नया शब्द सीखने को मिला कि किसी क्षेत्रीय भाषा में लकड़ी की पेंसिल को कच्ची पेंसिल कहते हैं

और पैन को पक्की पेंसिल कहते हैं।

नीतू पांचाल : हम यहाँ प्राथमिक कक्षाओं के सन्दर्भ में बात कर रहे हैं। प्राथमिक कक्षा के बच्चे का 'विचार पक्ष' की तुलना में 'भाव पक्ष' ज़्यादा प्रधान होता है, ऐसा मेरा मानना है और अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त और बेहतर साधन मातृभाषा है। कक्षा कक्ष को रोचक व मज़ेदार बनाने के लिए और ज़्यादा प्रभावशाली बनाने के लिए बच्चे के भाव पक्ष से जुड़ना शिक्षा अधिगम प्रक्रिया की पहली शर्त है। अतः कक्षा में मातृभाषा के प्रयोग की अनुमति छात्रों को देनी चाहिए क्योंकि इससे बच्चा भावनात्मक रूप से अपनी कक्षा में जुड़ता है और उसके सर्वांगीण विकास पर इसका प्रभाव कहीं ना कहीं हमें अवश्य देखने को मिलेगा। मैं भी यहाँ पर अपना एक अनुभव साझा करना चाहूँगी। एक दिन मैं कक्षा में बच्चों को पर्यायवाची शब्द पढ़ा रही थी। मैंने भाषाओं को कक्षा में प्रोत्साहित करने के लिए बच्चों को कहा कि आप 'आम' को अपनी-अपनी भाषा में क्या कहते हैं, बताइए। सभी बच्चों ने अपनी-अपनी भाषा में आम के नाम बताए। बच्चों को बहुत अच्छा भी लगा। बच्चों की रुचि को देखते हुए मैंने कहा कि हम हर दिन कोई शब्द लेंगे और उससे अपनी-अपनी भाषा में वाक्य बनाएँगे, ताकि दूसरे बच्चे भी उससे सीखें।

जब मैंने शिक्षकों के साथ काम किया वहाँ भी मैंने एक गतिविधि करवाई। शिक्षकों के साथ एक गेम खेला— 'पासिंग द बॉल'। एक गेंद सब एक-दूसरे को पास करेंगे, जिसके पास वह गेंद आएगी वह अपनी मातृभाषा में एक वाक्य अपने दूसरे साथी को सिखाएगा या कोई गीत या ग़ज़ल, जिसका उनको सहज व सरल अनुभव है, साथियों को सुनाएगा। मैंने पाया कि गतिविधि में शिक्षकों ने भी बहुत आनन्दअ लिया। छात्र तो निस्संदेह ही इस तरह की गतिविधि में भाग लेंगे तो कक्षा कक्ष का वातावरण और भी रोचक हो जाएगा।

रजनी द्विवेदी : आप सभी ने कहा कि मानक भाषा और मातृभाषा में समन्वय होना चाहिए। समन्वय माने क्या? दूसरा किस तरह से यह समन्वय आप कक्षा में करते हैं, और अधिकतम क्या-क्या हो सकता है? यह भी ध्यान रखना होगा कि मातृभाषाएँ एक से अधिक हैं। एक बच्चे की एक से अधिक मातृभाषाएँ तो हैं ही और फिर कक्षा में भी बहुत-सी मातृभाषाएँ हैं, मतलब अलग-अलग बच्चे अलग-अलग भाषा बोलते हैं।

दूसरा यह कि एक साधन के रूप में मातृभाषा और एक व्यापक परिपेक्ष्य में, जिसमें पहचान, अस्मिता, व्यक्तित्व, विचार करना, उसके एहसास, अभिव्यक्ति की बात हम करते हैं, हम मातृभाषा को कैसे समझेंगे?

नीतू पांचाल : समन्वय इसलिए ज़रूरी है क्योंकि हमें पता है कि हमारे विद्यालय का पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकें मानक भाषा का अनुसरण करती हैं। लेकिन व्यावहारिक पक्ष यह है कि हमारे पास बहुत सारी भाषाओं को बोलने वाले बच्चे भी हैं, वह अपनी-अपनी मातृभाषा का पूर्व अनुभव लेकर हमारे पास आ रहे हैं। शिक्षण अधिगम का एक उद्देश्य यह भी है कि हम निर्धारित पाठ्यक्रम विद्यार्थियों के समक्ष रखें और उसके सन्दर्भ में विद्यार्थियों को जानकारी दें। एक शिक्षक की यह भूमिका है कि वह मातृभाषा को आधार बनाते हुए उस पाठ्यक्रम के शिक्षण अधिगम के लिए विद्यार्थियों के साथ कार्य करे। मैं एक उदाहरण दूँगी। अभी हाल ही में मैंने विद्यार्थियों को एक अपठित गद्यांश दिया और उसमें मैंने एक छोटी-सी कहानी लिखी और मैंने उस सन्दर्भ को बच्चों के साथ साझा किया कि एक बार एक लकड़हारे की कुल्हाड़ी नदी में गिर गई और कुछ ही देर में जल देवता सोने की कुल्हाड़ी लेकर प्रकट हुए। अब यहाँ पर हम मानक भाषा का रूप इस्तेमाल कर रहे हैं। तो यहाँ पर पहले मैं यह करती कि बच्चों को सीधे-सीधे बता देती कि 'प्रकट' का क्या मतलब होता है। मैंने उस अपठित गद्यांश में से कुछ बोध प्रश्न दिए, तो बच्चों ने पूछा, मैडम 'प्रकट' का क्या मतलब है? मैंने इसका सीधे-सीधे उत्तर नहीं दिया। मैंने कहा

कि आप इस वाक्य को दो-तीन बार पढ़ो और फिर मुझे बताओ कि इस वाक्य से आपको क्या समझ में आ रहा है कि जल देवता सोने की कुल्हाड़ी लेकर प्रकट हुए। तो, बच्चों ने अपने आप ही थोड़ी देर में बोल दिया कि कुल्हाड़ी लेकर सामने आए। तो, यहाँ पर प्रकट शब्द जो एक मानक रूप था उससे एक सरल शब्दावली सामने आई। बच्चों ने ख़ुद ही समझ के आधार पर उस शब्द का अर्थ निकाला। यह समन्वय स्थापित करना है। मानक भाषा से मातृभाषा को जोड़ करके और बच्चों के पूर्व अनुभवों को आधार बनाकर हम भाषा का समन्वय कर रहे हैं। मेरा ऐसा विचार है।

अमित प्रकाश : मातृभाषा और मानक भाषा इन दोनों में जब तक समन्वय नहीं होगा तब तक हम मानक भाषा के उचित प्रारूप को प्राप्त ही नहीं कर सकते हैं, क्योंकि मातृभाषा जो बच्चे ने अपने परिवार से, परिवेश से प्राप्त की उसमें उसके पास बन्दिशें नहीं थीं। उस भाषा को आधार मानकर, हम मानक भाषा की तरफ़ आ सकते हैं। मैं एक उदाहरण देना चाहूँगा अपनी कक्षा का, जैसे ही बच्चे मेरी कक्षा में आते हैं तो मैं उन्हें बोलता हूँ कि पिछले हफ़्ते आपने जो कुछ भी किया वह मुझे लिखकर दिखाइए। उसमें से एक शब्द पर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहूँगा कि एक बच्चे ने लिखा कि मेरे पिता 'डिलेवर' हैं। कहीं ना कहीं वह जानता था कि ड्राइवर कोई एक व्यवसाय है। लेकिन वह अपनी मातृभाषा में इसे प्रयोग कर रहा था, जो उसके घर में बोला जाता था। इसको नकारकर मैं उसे सीधा-सीधा ड्राइवर पर लेकर जाऊँ ऐसा हो तो सकता है लेकिन तब वह शब्द, वह बिम्ब जो उसके दिमाग़ में अंकित है अपने पिता का, उनके डिलेवर होने का, वह नहीं होगा। उसे बिल्कुल नया कुछ सीखना होगा। लेकिन जब वह डिलेवर को जानता है तो मैं उसे बड़ी आसानी से ड्राइवर तक लेकर आ सकता हूँ। यहाँ पर मैं कहना चाहूँगा कि सेतु स्थापित करना बहुत ज़रूरी है। दूसरा प्रश्न था कि इसे एक साधन (tool) की तरह देखा जाए या व्यापक रूप में देखा जाए? जब एक व्यक्तित्व की बात होती है तो वह भाषा जो उसकी मातृभाषा होती है वह अहम भूमिका निभाती है। यदि हम भाषा को साधन मानकर चलेंगे तो मानक भाषा तक पहुँचने के पहले ही हमारी यात्रा रुक चुकी होगी। मातृभाषा किसी भी भाषा की यात्रा में ले जाने में आपको 'न्यूट्रीशन' प्रदान करेगा। मैं नहीं मानता कि यह कोई साधन है। मैं इसको व्यापक रूप में देखता हूँ क्योंकि यह व्यक्तित्व का एक हिस्सा है। आगे चलकर भी जब व्यक्ति एक तरह से परिपूर्ण हो जाता है, मानक भाषा के नियमों को अच्छी तरह से जान लेता है, इसका मतलब यह नहीं है कि वह अपनी मातृभाषा को भूल जाता है। जब कभी भी उसे मौक़ा मिलता है, वैसा परिवेश मिलता है, वह मानक भाषा बोलने की बजाय अपनी मातृभाषा में बातचीत करना ज़्यादा पसन्द करता है।

अंशु कुमारी : हिन्दी शिक्षा में मातृभाषा और मानक भाषा दोनों में समन्वय होना बहुत ही आवश्यक है। जैसा कि हमें पता है कि मातृभाषा, मानक भाषा सीखने में एक आधारशिला प्रदान करती है। हमारी आजकल की जो पाठ्यपुस्तकें हैं उनमें भी समेकित उपागम का उपयोग किया गया है यानी मातृभाषा को लेते हुए मानक भाषा तक पहुँचना। पाठ्यपुस्तक में जो कविताएँ हैं, जो लोककथाएँ, लोकगीत, कहानियाँ, चित्र शैलियाँ हैं उनमें बच्चों के परिवेश की झलक मिलती है। जैसे कि उनमें महाराष्ट्र की वर्ली शैली ली गई है, बिहार की मधुबनी शैली पेंटिंग का चित्रण किया गया है। एक मध्य प्रदेश की गोंडी शैली है। यह सब मातृभाषाओं के परिवेश से ली गई विषयवस्तु है, तथ्य हैं, जिनको हमने पाठ्यपुस्तक में प्रस्तुत या संग्रहित किया है। पाठों में, कहानियों में, सांस्कृतिक विधाओं में मातृभाषा के बहुत सारे शब्द अपने आप में समाए हुए हैं, जैसे 'टेसू राजा बीच बाज़ार' यह एक लोकगीत है। बाज़ार के लिए अँग्रेज़ी शब्द मार्केट है स्थानीय भाषा में देखें तो हम उसको मण्डीक भी कहते हैं, कहीं उसको हाट भी कहते हैं, कहीं उसको सोम बाज़ार या साप्ताहिक बाज़ार

के नाम से बोला जाता है। अलग-अलग जगहों पर बाज़ार के भी अलग-अलग नाम हैं और टेसू राजा एक स्थानीय भाषा का शब्द है। शीर्षक से संस्कृति के बारे में तो पता चलता ही है क्योंकि किसी जगह यह खेल भी है और कहीं यह उत्सव भी और यह उस पूरी संस्कृति का द्योतक है। फिर बच्चों को यह लोकगीत सुनने में भी बहुत आनन्द आता है। यह मनोरंजनात्मक है। उनके मन में इसके बारे में जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह टेसू क्या है? और दूसरे बच्चे भी इस भाषा को जानते हैं और इससे परिचित होते हैं। कक्षा 2 की पाठ्यपुस्तक में ही एक कविता है– तितली और कली। एक पाठ कराने के बाद ही हमें पता चल जाता है कि बच्चों के पास विभिन्न शब्दों के लिए क्या-क्या शब्द और हैं। यह कविता 'तितली और कली' कराने के बाद शिक्षिका या अध्यापक बच्चों को बोल सकते हैं कि अपनी-अपनी भाषा में फूलों के विभिन्न नाम लिखो। तितली को और क्या कहते हैं, वह लिखो। इस तरह से उन्हें शब्दों का ज्ञान मिलेगा और जिनको नहीं पता उनको भी इस चीज़ का ज्ञान मिलेगा, वह भी इस चीज़ से परिचित होंगे और दूसरा बच्चा जिसने अपनी भाषा में यह लिखा उसको भी अपने ऊपर गर्व महसूस होगा कि मेरी मातृभाषा को भी यहाँ पर सम्मान दिया जा रहा है। इस तरह से शिक्षक बच्चों को मातृभाषा से मानक भाषा तक ले जा सकते हैं। शिक्षिका इसमें प्रोत्साहक और प्रेरणात्मक की भूमिका अदा करती है।

नीतू पांचाल : मातृभाषा कहीं न कहीं हम सबके अस्तित्व से जुड़ी हुई है। दूसरी तरफ़ हम कह रहे हैं कि उसको हम एक साधन या एक माध्यम की तरह प्रयोग करें। मैं कहना चाहूँगी कि जीवन के जो विविध आयु वर्ग हैं उनमें हमारी प्राथमिकताएँ बदल जाती हैं। मैंने शुरुआत में कहा था कि जब एक बच्चा प्राथमिक स्तर पर विद्यालय आता है तो बच्चा विचारशील होने की तुलना में भावशील ज़्यादा होता है। लेकिन पूरा जीवन भावनाओं में नहीं बीतता। शुरुआती समय में बच्चे की भावनाओं से सम्पर्क स्थापित करना अध्यापक के लिए बहुत ज़रूरी होता है। इसलिए मैंने कहा था कि मातृभाषा को आधार बनाकर, साधन बनाकर मानक भाषा तक हमें जाना चाहिए। उदाहरण के लिए सर्विस लेन लेने के बाद हम हमेशा उसपर ही नहीं रहते। यह एक ज़रिया है हमें मुख्य सड़क तक लाने का। कभी न कभी हमें मुख्य सड़क पर आना होता है। इसी तरह से मातृभाषा एक ज़रिया है मानक भाषा तक लाने का। मानक भाषा का दायरा बहुत बड़ा या व्यापक है और मानक भाषा ही हमें हमारे मानव समाज के इतिहास से, हमारे समृद्ध अतीत से जोड़ती है। इस समय भी अगर हम किसी गूढ़ विषय पर बात कर रहे हैं तो हम में से कोई भी अपने विचारों के आदान-प्रदान के लिए अपनी मातृभाषा का प्रयोग नहीं कर रहा है और यह सम्भव भी नहीं है। यह ज़रूरी नहीं कि मेरी मातृभाषा से आप अवगत हों या आपकी मातृभाषा से मैं। हम यहाँ पर मानक भाषा का प्रयोग करके एक मुख्य विषय पर, एक ख़ास विषय पर विचार कर रहे हैं।

व्यापक दायरे वाली मानक भाषा ही हमें जीवन के उद्देश्यों और जीवन के उद्देश्यों की संप्राप्ति में सहायता करती है। यही हमें, हमारे समृद्ध इतिहास से जोड़ती है, हमारे समाज से जोड़ती है, जबकि मातृभाषा का दायरा एक छोटा दायरा है। मैं अगर अपने घर से बाहर निकलूँ तो मुझे ऐसे कम ही लोग मिलेंगे जो कि मेरी मातृभाषा से अवगत होंगे। परन्तु मानक भाषा के जानकार बहुत लोग मिल जाएँगे। मैंने एक पंक्ति पढ़ी थी कि शुरुआती वर्षों में बच्चा पढ़ने के लिए सीखता है, मतलब पढ़ना सीखता है और बाद में वह सीखने के लिए पढ़ता है। उच्च माध्यमिक कक्षाओं में वह सीखने के लिए पढ़ता है। पढ़ना सीखना विद्यार्थी के लिए महत्त्वपूर्ण है और उस समय उसकी मातृभाषा उसको मदद करेगी और बच्चा क्या पढ़ना सीख रहा है– मानक भाषा। मानक भाषा ही सभी विषयों की सफलता का एक साधन है।

बाद में जब विद्यार्थी अपने कुछ संप्रत्यय निर्धारित कर चुका होता है, कुछ सामान्यीकरण

(generalization) कर चुका होता है, बहुत चीज़ें सीख चुका होता है तब वह खुद को एक बड़े व्यापक समाज के समक्ष रखता है, अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है और तब निस्सन्देह उसको मानक भाषा का ही मार्ग चुनना पड़ेगा। इसलिए मैंने मानक भाषा को साध्य कहा है। एक व्यक्ति अगर अपने देश को छोड़कर विदेश भी जाता है तो वहाँ पर उसकी मातृभाषा की कोई कीमत नहीं है। वहाँ जाकर भी उसको मानक भाषा ही उस देश की अन्य भाषा को सीखने में भी मदद करेगी। अगर मैं बच्चे को हिन्दी से अँग्रेज़ी भाषा सिखाना चाहूँ तो अँग्रेज़ी के शब्दकोश में उसके अर्थ, मानक हिन्दी में लिखे हुए हैं। अगर हम मातृभाषा में शब्दों के अर्थ डालना चाहें तो वह सम्भव ही नहीं क्योंकि मातृभाषाएँ इतनी ज़ूयादा हैं और सारी भाषाओं को शब्दकोश से जोड़ना सम्भव नहीं है। तो, मानक भाषा से जुड़कर ही बच्चा मुख्यधारा में आता है।

रजनी द्विवेदी : मैं चाहती हूँ कि आप भाषा शिक्षण के समन्वय करते हुए अपने कुछ ठोस उदाहरण भी रख सकें तो बेहतर होगा।

एक तरफ़ पाठ्यपुस्तक है जिसमें मानक भाषा है, दूसरी तरफ़ बच्चे का भाषा का जो सहज भण्डार है उसमें मातृभाषा अधिक होती है। आपने पहली कक्षा में भाषा सीखने-सिखाने का काम बच्चे के साथ शुरू किया, बच्चे के पास अभी उसकी मातृभाषा है। किस तरीक़े से आप उसको मानक भाषा सीखने में लेकर आते हैं? जैसे मातृभाषा मदद करती है, मातृभाषा एक साधन बनती है, तो कैसे बन जाती है? और फिर बच्चे भी बहुत सारे होते हैं, उन सबको कैसे मौक़ा देते हैं आप?

नीतू पांचाल : हमने जो शुरुआत में सेतु बनाने वाली बात कही थी तो उसमें सेतु इस तरह से बन रहा है कि बच्चा हमें अप्रोच कर रहा है। बच्चे को पाठ्यचर्या से कोई मतलब नहीं है, बच्चे को पाठ्यपुस्तक से कोई मतलब नहीं है, बच्चा टीचर को अप्रोच कर रहा है और टीचर एक तरह से यहाँ पर दुभाषिये (Interpreter) का काम कर रही है। टीचर उस पाठ्यक्रम को बच्चे की मातृभाषा को ध्यान में रखते हुए, समझाते हुए, कोशिश करती है कि बच्चे की सहज भाषा में उस विषय को बच्चे तक सम्पातदित कर सके। तो इस तरह से समन्वय स्थापित करने का मतलब सिर्फ़ दो भाषाओं में समन्वय स्थापित करना नहीं, समन्वय का मतलब यह भी है कि बच्चे की अनुभूतियों को समझना और फिर उन अनुभूतियों को ध्यान में रखते हुए हमें आगे उनको पाठ्यक्रम के बारे में जानकारी देनी चाहिए।

रजनी द्विवेदी : व्याख्या (Interpret) करने का मतलब क्या यही है कि, आपने कहा उसको लिखने के लिए तो उसने 'डिलेवर' लिख दिया। आपने कहा, हाँ यह ठीक है। अगली बार जब वह लिखेगा तो आपकी कोशिश रहेगी धीरे-धीरे उसको 'ड्राइवर' के तरफ़ लेकर जाना। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि एक ही शब्द है, हर बच्चे के पास में अपने-अपने शब्द हो सकते हैं। क्या आप उसको यह आज़ादी देंगे कि वह अपने-अपने शब्द लिखे?

अमित प्रकाश : हाँ, मैं उसको यह आज़ादी देना चाहूँगा क्योंकि अगर मेरा लक्ष्य है बच्चे को चलना सिखाना, तो यह करना होगा। अगर मैं पहले ही नियम तय कर दूँ कि आपको इस दिशा में और ऐसे चलना है जबकि बच्चा अभी घुटनों के बल ही रेंग रहा है, तो क्या यह हो पाएगा? मेरा उद्देश्य है उसको अपने पैरों के बल चलना सिखाना लेकिन अगर पहले से ही नियमबद्ध तरीके से मैं कहूँ कि आपको बाईं तरफ़ चलना है या सीधे चलना है तो बच्चे के लिए बड़ा मुश्किल होगा। पहले मैं उसे खड़ा होना सिखाऊँगा, फिर मैं उसे एक-दो क़दम रखना सिखाऊँगा और जब वह चलने लायक हो जाएगा तब मैं उसे नियमों की जानकारी दूँगा।

अंशु कुमारी : यहाँ एक कविता भी मैं बताना चाहूँगी— चन्दा के गाँव में,
पीपल की छाँव में,

हम सैर करने जाएँगे,
हम सैर करके आएँगे।

यह कविता कक्षा एक और दो के बच्चों के लिए है। जैसे आपने अभी बोला कि उसको नया शब्द सीखना है तो आप इसे कैसे करेंगे। यह कविता पाठ्यपुस्तक में है। इस कविता में उसकी मातृभाषा से सम्बन्धित शब्द आएँगे तो उसमें से हम बच्चों से पूछ सकते हैं। जैसे चन्दा के गाँव में, तो 'चन्दा क्या है' बच्चों से पूछेंगे, बच्चों से इस बारे में बातचीत करेंगे तो कोई बताएगा 'चाँद' होता है। अगर नहीं पता है तो वह हम उसे इस सम्बन्ध में बता देंगे। वह शब्द उसकी मातृभाषा से मानक भाषा तक जाएँगे कि इनको चन्द्रमा भी बोलते हैं, चन्दा भी कहते हैं, कहीं पर चाँद भी बोलते हैं। तो कविता, कहानियाँ बच्चों के स्तर के अनुसार होती हैं और वह इसमें बहुत रुचि लेते हैं और बहुत जल्दी इसको सीखते हैं। फिर इस चीज़ से हम उनको मानक भाषा पर ला सकते हैं। मैंने कक्षा में यह गतिविधि करवाई है।

नीतू पांचाल : एनसीएफ 2005 में भी यह ज़िक्र किया गया है कि यदि बच्चा अपने कक्षा कक्ष के वातावरण में मौखिक या लिखित किसी भी रूप में अपनी मातृभाषा के शब्दों का उपयोग करता है तो वह ठीक है लेकिन कुछ शिक्षक यह मानते हैं कि मानक भाषा के लिहाज़ से यह अशुद्ध है। और वे उसके नम्बर भी काट देते हैं या बच्चे को बोल देते हैं ऐसे नहीं, ऐसे बोलो। यह ग़लत है। अगर बच्चा मौखिक या लिखित किसी भी रूप में अपनी मातृभाषा के शब्दों का प्रयोग कर रहा है, तो एक शिक्षक के रूप में हम उसको सही मानें और उसके अंक भी ना काटें, बल्कि उसको बढ़ावा दें। पहली जो मुख्य शर्त है वह है– प्राथमिक स्तर पर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता। बच्चा ख़ुद को अभिव्यक्त करना तो सीखे। अगर हम उसको पहले ही क़दम पर व्याकरणिक दृष्टि से, सही या ग़लत की दृष्टि से रोक देंगे या टोंक देंगे, तो बच्चा अभिव्यक्ति के लिए अगली बार आगे नहीं आएगा। तो हमारा पहला क़दम है अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, वह चाहे ग़लत हो या सही। बच्चा बोलना सीखे, अभिव्यक्त करना सीखे और अपने विचारों को रखना सीखे। उसको यह भी पता होना चाहिए कि मेरे विचारों का मेरी कक्षा में और मेरे शिक्षकों द्वारा सम्मान किया जा रहा है। यहाँ पर भी टीचर इस तरह से समन्वय स्थापित कर रहा है। बच्चे को एक स्वतन्त्रता प्रदान कर रहा है, उसको शुद्धता और अशुद्धता के दायरे में न बाँधकर, मानक भाषा के व्याकरणिक नियमों में न बाँधकर, उसको अभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहित कर रहा है।

हृदयकान्त दीवान : यह जो 'समन्वय' शब्द है यह मुझे समझ नहीं आता है और यह भी नहीं समझ में आया कि मातृभाषा का कक्षा में उपयोग कैसे होगा? मान लीजिए कि किसी स्कूल में विस्थापित बच्चे हैं, कोई उड़ीसा से है, कोई बंगाल से है, कोई बिहार से है, बिहार में भी कई ज़िले हैं तो फिर आप बच्चे की मातृभाषाओं से समन्वय कैसे करेंगे? इतनी सारी भाषाओं के लिए आप कक्षा में कैसे जगह बना पाएँगे? कौन-सी कक्षा तक आपको लगता है कि यह जगह होनी चाहिए?

नीतू पांचाल : इतनी सारी मातृभाषाएँ हैं तो यहाँ पर एक शिक्षक का पहला कर्त्तव्य है कि वह अपनी मानसिकता खुली रखे। बच्चे भी जब कक्षा कक्ष के वातावरण में आते हैं तो बहुत सारे शब्द ऐसे नहीं होते हैं जो शिक्षक नहीं समझ पाता। मातृभाषा के भी काफ़ी शब्द ऐसे होते हैं जो हम भी प्रयोग के आधार पर समझ लेते हैं। पर ऐसे भी हो सकते हैं जिनके बारे में शिक्षक को पता नहीं होता। जैसे मेरी कक्षा में एक बच्चा था, उसने मुझे आकर बोला कि मेरे टे विच पीड़ हो रही है। अब मुझे समझ नहीं आया। मैंने कक्षा के ही एक दूसरे बच्चे की मदद से इसे समझा। यहाँ मैंने भी कुछ नया सीखा तो एक शिक्षक के रूप में हमें भी एक अधिगमकर्ता बने रहना चाहिए।

हृदयकान्त दीवान : यह बात समझ आ गई कि अगर बच्चा कुछ कहे तो शिक्षक भी उसको

समझ लें। पर कक्षा में तो हमें किताब का पाठ ही पढ़ाना है, वही हमारा उद्देश्य है। लेकिन आपने तो बच्चे की पहचान, अस्तित्व, अस्मिता की बात कही थी, तो क्या ऐसा है कि इनको छोड़ दें और दूसरी भाषा पकड़ लें, क्या आप ऐसा चाहते हैं?

अमित प्रकाश : जैसे भाषा का अर्थ है 'संप्रेषण'। बच्चे ने इशारे से, अपनी भाषा में समझाया कि पेट में दर्द है। तो पहली बात है कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। दूसरी बात कि कक्षा में बहुभाषिता का वातावरण है। मेरी कक्षा में हरियाणवी बच्चे हैं। वे लड़की के लिए 'छोरी' शब्द का प्रयोग करते हैं। मध्य प्रदेश के बच्चे लड़की के लिए 'मोड़ी' शब्द का प्रयोग करते हैं। अन्य भाषा में इसके लिए और शब्द हो सकते हैं। तो मैं ऐसा करूँगा कि इन सभी शब्दों को बोर्ड पर लिखूँगा, तब सभी बच्चे इससे लाभान्वित हो पाएँगे। मेरे अनुसार एक भाषा को छोड़कर दूसरी को पकड़ लिया जाए, यह सम्भव ही नहीं है। मेरे अनुसार मातृभाषा को कभी व्यक्ति छोड़ ही नहीं पाता है। मैं अपने बारे में अगर बात करूँ, मानक भाषा मुझे अच्छे से आ गई है, नियमों का मुझे अच्छे से पता चल गया है, मैं जानता हूँ कि मातृभाषा अशुद्ध है। लेकिन जब कभी मेरे गाँव की चौपाल पर मैं बैठूँगा, जहाँ पर मातृभाषा आज भी बोली जाती है तो मैं मानक भाषा का प्रयोग नहीं करूँगा। आज भी मेरे गाँव में जब मेरे परिवार के बड़े-बूढ़े आएँगे जो मातृभाषा का प्रयोग करते आ रहे हैं तो मैं उनके साथ मातृभाषा में ही अपनी अभिव्यक्ति करके प्रसन्नता महसूस करूँगा। ऐसा नहीं है कि मुझे मानक भाषा का ज्ञान हो गया है तो मैं मातृभाषा को कहीं पीछे छोड़ आया हूँ। यह मेरे लिए सम्भव नहीं है।

हृदयकान्त दीवान : क्या मातृभाषा अशुद्ध है?

नीतू पांचाल : मातृभाषा को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। अगर मानक भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो वह अशुद्ध है।

अमित प्रकाश : क्योंकि यह नियमों में बँधी नहीं है। व्याकरणिक नहीं है।

नीतू पांचाल : मातृभाषा में भाषा भी हो सकती है, बोली भी हो सकती है।

हृदयकान्त दीवान : पंजाबी है, हरियाणवी है वह क्या हैं?

नीतू पांचाल : पंजाबी मानक है, हिन्दी भी मानक भाषा है और हरियाणवी बोली है। बोली लिपिबद्ध नहीं है, वह भाषा का ही एक क्षेत्रीय रूप होता है। राजस्थानी भी हिन्दी की एक बोली है, हरियाणवी भी हिन्दी की एक बोली है, अलग-अलग क्षेत्र के लोग प्रयोग के आधार पर शब्दों को अलग रूप दे देते हैं जिसे खड़ी बोली कहते हैं। जैसे एक शब्द है भीतर, हरियाणवी में उसको बोलेंगे भीत्तर, तो थोड़ा-सा रूप बदल गया। बोली का अलग-से अपना रूप होता है, उसका व्याकरण नहीं होता, भाषा का अपना एक व्याकरण होता है। यह फ़र्क़ है।

हृदयकान्त दीवान : इसका मतलब हिन्दी भोजपुरी से पुरानी है, या फिर हिन्दी पहले थी फिर उससे राजस्थानी, हरियाणवी, भोजपुरी बनीं और मानक भाषा से ही यह सब बोलियाँ बनीं जिसको हम बदल-बदलकर बोल रहे हैं।

नीतू पांचाल : इसको आप पहले या बाद में नहीं कह सकते हैं। भाषा नदी के समान होती है जैसे नदी कंकर-पत्थरों को अपने साथ बहा ले जाती है, तो हिन्दी को भी हम यह नहीं कह सकते कि उसका जो रूप आज है, आज से 50 साल पहले भी हिन्दी का वही रूप था। क्योंकि उसमें भी अन्य भाषाओं के शब्द मिलते-जुलते रहते हैं, जैसे हिन्दी में उर्दू के बहुत से शब्द हैं, अँग्रेज़ी के बहुत सारे शब्द शामिल हो गए हैं। तो हम इसे नई या पुरानी नहीं कह सकते।

हृदयकान्त दीवान : नहीं, मगर हम यह नहीं कहते कि उर्दू, हिन्दी की बोली है। लेकिन जब हम यह कहते हैं कि हरियाणवी हिन्दी की बोली है, भोजपुरी हिन्दी की बोली है, हिमाचली

हिन्दी की बोली है तो कुछ तो तर्क होगा जिनके आधार पर हम यह कह रहे हैं।

नीतू पांचाल : क्योंकि इन बोलियों में हिन्दी भाषा के अधिकतर शब्द देखने को मिलते हैं बजाय पंजाबी के या उर्दू के जो कि मानक भाषाएँ हैं। उनके शब्दों को अगर हम देखें तो उसमें हिन्दी भाषा के ज़्यादा शब्द हैं, इसलिए उनको हिन्दी की बोली कहा जाता है।

अमित प्रकाश : मुझे नहीं लगता कि हिन्दी पहले थी फिर प्रादेशिक भाषाएँ आईं। मुझे लगता है कि प्रादेशिक भाषा पहले थी, उसका संवर्धन होकर हिन्दी बनी होगी। मैं आपको इसका कोई प्रमाण तो नहीं दे सकता। लेकिन मुझे ऐसे लगता है कि पहले प्रादेशिक भाषाएँ थीं उनका संवर्धन होकर फिर एक मौलिक भाषा बनी।

नीतू पांचाल : मैं एक चीज़ और कहना चाहूँगी कि मानक भाषा होती क्या है? किसी भाषा के बहुत सारे प्रचलित रूपों में से किसी एक रूप को सर्वसम्मति के आधार पर सर्वमान्य रूप दे दिया जाता है वह मानक भाषा कहलाती है। यह फिर व्याकरण व शब्दकोश में भी आ जाता है।

हृदयकान्त दीवान : क्या आपको लगता है मैथिली, भोजपुरी, हरियाणवी, राजस्थानी का कोई व्याकरण नहीं है और मैं किसी भी नियम का इस्तेमाल करके हरियाणवी, राजस्थानी बोल सकता हूँ?

नीतू पांचाल : मैथिली भाषा के बारे में तो मैं ज़्यादा नहीं जानती लेकिन हरियाणवी का कोई व्याकरण नहीं है। बोलियाँ व्याकरण आधारित नहीं, प्रयोग आधारित होती हैं। बोलियाँ प्रयोग से ही प्रचलन में आती हैं। लेकिन नियम तो हमारी समझ में होते ही हैं तो हरियाणवी के लिए आपको हरियाणवी के नियम तो समझने होंगे ही।

हृदयकान्त दीवान : पहले प्रश्न का उत्तर तो पूरी तरह समझ में नहीं आया। अब दो बातें और बताएँ, कि अगर एक बच्चे के पास कई भाषाएँ हैं उसमें हम उसकी मातृभाषा को क्या समझेंगे? कक्षा के सन्दर्भ में एक टीचर के रूप में हम बात करें तो किसको उसकी मातृभाषा समझेंगे?

अमित प्रकाश : जिन शब्दों का वह अधिकतर प्रयोग करता है और जिन शब्दों के प्रयोग में उसे सहजता महसूस होती है उसको मैं उसकी मातृभाषा मानूँगा।

नीतू पांचाल : इसके लिए एक कहावत है कि किसी को जब चोट मारी गई और क्रोध में या भावावेश में उसके मुँह से जो भाषा निकलती है वही उसकी मातृभाषा होगी।

हृदयकान्त दीवान : यह बात की थी कि अगर एक ही भाषा में हम बात करेंगे तो अच्छा है, उससे ज्ञान का संवर्धन होता है। इस बात को अगर थोड़ा आगे बढ़ाएँ तो फिर पूरे विश्व के लिए एक ही भाषा होनी चाहिए।

नीतू पांचाल : मानक भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है, उसको जानने-समझने वाले लोग ज़्यादा है। इसलिए ही अँग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।

हृदयकान्त दीवान : इसका मतलब यह है कि हमें हिन्दी छोड़कर अँग्रेज़ी बोलना चाहिए?

नीतू पांचाल : यह प्रयोग पर आधारित होता है। यहाँ मैं अपने देश में अगर अँग्रेज़ी बोलने लग जाऊँ तो बहुत लोगों के लिए सहज नहीं है। जैसे कि मैंने कहा था कि उम्र के हिसाब से प्राथमिकताएँ बदलती हैं उसी प्रकार से क्षेत्र के हिसाब से भी प्राथमिकताएँ बदलती हैं। अगर मैं हरियाणा जाऊँगी और मानक हिन्दी वहाँ पर बोलूँगी तो किसी को नहीं समझ में आएगी। और तब भी मैं हिन्दी का प्रयोग करूँगी तो मैं मूर्ख कहलाऊँगी, अतः यह चीज़ें प्रयोग आधारित होती हैं। व्यवहार समय, स्थान, स्थिति, परिवेश देखकर हमें यह चीज़ें करनी चाहिए।

हृदयकान्त दीवान— इस हिसाब से तो हरियाणा में हरियाणवी पढ़ाई जानी चाहिए।

हिन्दी क्यों पढ़ाएँ?

अमित प्रकाश : मेरा मानना है कि हरियाणा में आप हरियाणवी पढ़ा सकते हैं क्योंकि वह क्षेत्रीय भाषा है, संप्रेषण का साधन है। मुझे आपसे मतलब है, आपको मुझसे मतलब है जब हम एक ही परिवेश में रहते हैं। समस्या तब आती है जब मैं उनके पास चला जाता हूँ जो कि बंगाली बोलते हैं। अब ना वह मेरी भाषा से परिचित हैं न मैं उनकी भाषा से परिचित हूँ। तो तब कहीं बीच में समन्वय की बात आती है कि कुछ ऐसा ढूँढ़ा जाए जो दोनों ही समझ पाएँ। यह समन्वय है।

हृदयकान्त दीवान : बहुत सारे बंगाली दिल्ली में रहते हैं और उनके आस-पास के लोग कुछ बंगाली सीख जाते हैं। अगर एक हरियाणवी हो, एक बंगाली हो तो क्यूँ एक नई भाषा चाहिए? हरियाणवी और बंगाली का मिश्रण बनाकर भी तो बात कर सकते हैं। इसमें क्या समस्या है?

नीतू पांचाल : ऐसा सिर्फ़ तब होगा जब दो ही भाषाओं के लोग हैं। मैं एक कवि सम्मेलन में गई वहाँ पर सभी भाषाओं के लोग हैं तो मैं कौन-सी भाषा का प्रयोग करके उनको कविता सुनाऊँ। तो अगर सिर्फ़ बंगाली या हरियाणवी है तो मिला करके काम हो जाएगा। लेकिन एक व्यापक क्षेत्र या बड़े समूह के लिए मानक भाषा की मदद लेनी पड़ती है।

रजनी द्विवेदी— संविधान में 22 मानक भाषाएँ हैं। पहले 14 थीं, फिर 17-18 हुईं, बाद में 22 हुईं। यह कैसे हो गया कि पहले कम भाषाएँ थीं, अब बढ़ गईं? तो ऐसा नहीं हो सकता कि 50 भाषाएँ मानक हो जाएँ, या ऐसा होना चाहिए कि एक ही भाषा मानक हो? यह मानक माने जाने के क्या आधार हैं?

नीतू पांचाल : किसी भी चीज़ के लिए कोई एक कारण ज़िम्मेदार नहीं होता, बहुत से कारण होते हैं। हमारे देश में मानक/अमानक निर्धारित करने का एक सबसे बड़ा कारण राजनीतिक रहा है। अभी पाठ्यपुस्तक में बहुत बड़े बदलावों के बारे में बातचीत हो रही है, क्यों? क्योंकि राजनीति बदल गई। यही चीज़ कहीं न कहीं भाषाओं पर भी असर डालती है। राज्य, राजनीतिक रूप से या हम कहें कि जिसकी चल रही है वह अपनी भाषा को मान्यता दिलाने की कोशिश करते हैं। इसके अलावा भाषा का क्षेत्र भी शायद बड़ा होगा इसलिए मातृभाषाओं की संख्या भी ज़्यादा बढ़ गई है। लेकिन राजनीतिक कारणों को मैं ज़्यादा ज़िम्मेदार मानना चाहूँगी।

अमित प्रकाश : धीरे-धीरे संविधान में मानक भाषाओं की संख्या बढ़ रही है। इसका कारण यही होगा कि कहीं न कहीं उन भाषाओं का प्रचलन अधिक होगा। वह ज़्यादा बड़े भू-भाग पर, ज़्यादा लोगों द्वारा बोली जाती होंगी। नीतू द्वारा कही बात से भी मैं ताल्लुक रखता हूँ कि अपने आप को श्रेष्ठ साबित करने के लिए मैं कुछ भी करूँगा। अब क्योंकि अगर मैं सत्ता में हूँ या मेरे पास ऐसे तरीक़े हैं कि मैं उस चीज़ को मानक भाषा के दायरे में ला सकता हूँ तो मैं ज़रूर कोशिश करूँगा। हरियाणवी मैं नहीं ला पाया क्योंकि मुझमें उतनी श्रेष्ठता नहीं है या मैं उस पद पर नहीं हूँ कि मैं उस भाषा को भी मानक भाषा के दायरे मैं ला पाऊँ। अन्यथा मैं ज़रूर कोशिश करूँगा।

अंशु कुमारी : भाषा हमें सामाजिक, सांस्कृतिक पहचान दिलाती है। उसके आधार पर भी हमें यह तय करना चाहिए।

हृदयकान्त दीवान : आप कह रहे थे कि हरियाणवी में व्याकरण नहीं है तो फिर कैसे आप उसको मानक बना देंगे?

अमित प्रकाश : पहले किसी भी भाषा का व्याकरण नहीं था। जैसे-जैसे समर्थन करते गए वैसे-वैसे व्याकरण के नियम-क़ानून तय किए, तो व्याकरण बनाने वाले भी हम लोग ही हैं। ऐसा नहीं होता है कि व्याकरण नहीं होती, व्याकरण बनाई जा सकती है।

हृदयकान्त दीवान : बहुत बार कहा गया कि बच्चे को अपनी मातृभाषा का इस्तेमाल करना

चाहिए। अगर बच्चा चौथी कक्षा में आ गया है और उसको आपने कहा कि एक विवरण लिखो। उस विवरण में उसने अपनी मातृभाषा के शब्द भी डाल दिए। आपको क्या लगता है कि वह शब्द डालने चाहिए या नहीं डालने चाहिए या आप कब तक उसको इन शब्दों के प्रयोग की मंज़ूरी देंगे? क्या वह जो विवरण लिख रहा है उससे उसकी भाषा समृद्ध हो रही है या वह ग़लती है?

अमित प्रकाश : प्राथमिक स्तर की पहली कक्षा में आने वाले बच्चे के पास पहले से ही अपनी मातृभाषा के शब्दों का भण्डार होता है। मैंने उसे अभिव्यक्ति की आज़ादी दी। वह दूसरी कक्षा में आ गया, कुछ नए शब्दों से परिचित हुआ। कुछ उसने परिवर्तित कर लिए और कुछ शब्दी वह ऐसे ही लिखता रहा। उसके बाद तीसरी। लेकिन मैं पाँचवी तक आते-आते उसको इनके प्रयोग की मंज़ूरी नहीं दूँगा। उसको यह समझा दूँगा कि उसकी मातृभाषा और मानक रूप में यह अन्तर है और बताऊँगा कि मानक रूप में इस तरह से प्रयोग किया जाता है, लिखा जाता है। पाँचवीं तक आते-आते मैं उसको मानक भाषा के शुद्ध रूप से परिचित करा दूँगा। ताकि छठवीं से वह मानक भाषा को ज़्यादा उपयोग में ला सके।

नीतू पांचाल : मेरा मानना है कि चौथी या पाँचवीं में आने के बाद भी अगर बच्चा प्रादेशिक भाषा का ज़्यादा उपयोग करता है तो वह ग़लत नहीं है क्योंकि कहीं न कहीं वह भाषा को समृद्ध कर रहा है। मैंने पहले भी कहा था कि हिन्दी बहुत सारी भाषाओँ का मिला-जुला रूप है और हिन्दी ख़ुद में ही उर्दू का शब्द है अतः हम यह नहीं कह सकते कि यह हिन्दी नहीं है। हमें व्याकरण के नियमों पर और हिन्दी के लिए जो वाक्य निर्माण के नियम निर्धारित किए गए हैं उस पर ध्यान देना है। अगर बच्चा हिन्दी में अपने विचारों को अभिव्यक्त कर रहा है तो कम से कम उन नियमों का ध्यान रखे। वह अन्य भाषाओं के शब्द भी ले सकता है लेकिन उनकी वर्तनी शुद्ध होनी चाहिए, उसका लिखित रूप शुद्ध होना चाहिए और व्याकरण के नियमों का पालन करना चाहिए। इस समय हमारी जो पाठ्यपुस्तकें हैं उसमें भी प्रादेशिक भाषा के बहुत सारे शब्दों को समावेशित किया गया है, ताकि उनको भी बढ़ावा मिले।

अंशु कुमारी : अगर चौथी का बच्चा भी अपनी मातृभाषा में लिख रहा है तो हम उसे नकार नहीं सकते। यह नहीं कह सकते कि मानक या शुद्ध रूप करके उसको लिखो। हमने लिखने के लिए बोला उसने हमें लिखकर दे दिया। उसने अपने विचार अभिव्यक्त कर दिए और हमें यह करने देना चाहिए। लेकिन टीचर के रूप में हमारा रोल फिर से वही आता है कि उसको बताना, उसका मार्गदर्शन करना, उसको प्रेरित करना कि इसके स्थान पर आप इस तरह से इसका उपयोग कर सकते हैं। इस तरह से हमें बच्चे को मातृभाषा से मानक भाषा की ओर ले जाना चाहिए।

हृदयकान्त दीवान : कक्षा पाँचवीं का बच्चा पढ़ने के लिए तैयार है या वह अभी पढ़ना सीख रहा है। आपको क्या लगता है कि पढ़ना क्या है और समझकर पढ़ना क्या है? और क्या पाँचवीं का बच्चा पढ़ने लग जाता है?

नीतू पांचाल : पढ़कर समझना, हम नहीं कह सकते हैं कि हमारे बच्चे उतने सक्षम हैं। मैंने बच्चे को एक अपठित गद्यांश पढ़ने के लिए दिया और कहा कि इस गद्यांश का सार लिखिए या इसको अपने शब्दों में बताइए या इसके किसी वाक्य को आप अपनी मातृभाषा में बदलिए। अगर बच्चा यह कर पा रहा है तो हम कह सकते हैं कि हाँ बच्चा उस भाषा से बहुत अच्छे-से परिचित हो गया है और उसका ज्ञान बच्चे को हो गया है। इस स्तर पर हमारे बच्चे अभी पीछे हैं।

अमित प्रकाश : मेरी कक्षा के बच्चे पढ़ रहे हैं। केवल शब्द पढ़ने से ही ज्ञान नहीं आता। कोई बच्चा किसी चीज़ को पढ़कर उसपर

आपसे सवाल पूछ रहा है, तो इसका मतलब है कि वह पढ़ रहा है। उन्होंने मुझसे पूछा, कौतूहल क्या होता है? या इस तरह के दूसरे शब्दों को पकड़कर जब वह आपके पास लेकर आते हैं, तो वह पढ़ने में सक्षम हैं। जब वह किसी चीज़ के बारे में सवाल कर रहे हैं तो इसका मतलब है कि वह पढ़ रहे हैं तो मेरी कक्षा के 90% बच्चे पढ़ रहे हैं।

हृदयकान्त दीवान : कक्षा छठवीं, सातवीं और आठवीं में फिर भाषा में क्या सिखाना चाहिए? पढ़ना तो सीख गए वह। क्या इन कक्षाओं में बच्चे को और आगे ज़्यादा पढ़ना सीखने का प्रशिक्षण देने की ज़रूरत होगी? अब उन्हें भाषा का ज्ञान क्यों देना चाहिए?

नीतू पांचाल : इन कक्षाओं में पढ़ना सीखने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए, अगर उसकी बुनियाद अच्छी है तो। पर भाषा का दायरा भी बहुत बड़ा है, इसमें बहुत सारी विधाएँ हैं। हम यह नहीं कह सकते कि वह पढ़ना सीख गया तो काफ़ी है। भाषा की समझ विकसित हो गई तो बच्चे के अन्दर सृजनात्मक प्रवृत्ति का विकास करना है, कल्पनाशीलता का विकास करना है कि बच्चा ख़ुद भी अपने आप नाटक लिख सके, कविताएँ लिख सके, उसको अभिव्यक्ति का बोध हम उस समय देंगे।

हृदयकान्त दीवान : मतलब यह कि पाँचवीं तक वह पढ़ना सीख जाए, उसके बाद लिखने में इस्तेमाल करने का अभ्यास उसको ज़्यादा मिलना चाहिए।

नीतू पांचाल : हाँ इस्तेमाल करने का भी और अगली कक्षा में जाने के बाद भाषा अन्य विषयों को भी पढ़ने में सहायता देती है।

रजनी द्विवेदी : यह बच्चे जो पढ़ना सीख गए हैं, क्या वह गणित की किताब, विज्ञान की किताब भी पढ़कर समझ लेंगे?

नीतू पांचाल : अलग-अलग क्लास में पढ़ना सीख चुके बच्चों का अनुपात अलग-अलग हो सकता है। जैसे मेरी क्लास में ऐसे बच्चे बहुत कम हैं। मुझे पिछले साल ही यह कक्षा मिली है और उसके बहुत सारे कारण हैं, उस पर मैं अभी चर्चा नहीं करना चाहूँगी। हो सकता है सर शुरुआत से ही एक ही कक्षा के साथ काम कर रहे हों। यह एक बहुत बड़ा कारण है।

हृदयकान्त दीवान : आपके कारण क्या हैं? जैसे बाक़ी साथियों ने पढ़ाया ही नहीं, यह कारण है या कोई और कारण हैं?

नीतू पांचाल : यह कारण भी होते हैं और एक और कारण है; नीतिगत कारण। जैसे आजकल 10 साल का बच्चा अगर यह आकर कहे कि मुझे कक्षा पाँच में प्रवेश लेना है तो हम उसको मना नहीं कर सकते। बच्चा अगर प्रथम पीढ़ी का शिक्षार्थी है, उसके परिवार में भी कोई अगर स्कूल नहीं गया है और वह 10 साल की उम्र में आता है, तो उसे मना नहीं किया जा सकता है। तो, यह भी एक बड़ा कारण है। दूसरा कारण जैसे हमारे स्कूल में मान लीजिए कि कोई बच्चा 6 महीने अनुपस्थित हो गया या मान लीजिए कि शिक्षक ने रुचि से नहीं पढ़ाया तो क्लास की जो नियमितता है उसपर सीधे असर पड़ता है। अगर 10 बच्चे भी ऐसे हैं जो नियमित रूप से अनुपस्थिंत रहने शुरू हो गए हैं या जो लम्बे। अर्से से नहीं आ रहे हैं तो वह उस स्त र तक पहुँच ही नहीं पाएँगे। तो, सभी कारण एक-दूसरे से जुड़े हैं, किसी एक कारण को ज़िम्मेदार नहीं ठहरा सकते।

हृदयकान्त दीवान : आप लोग कितने साल से पढ़ा रहे हैं और क्या-क्या विषय पढ़ाते हैं?

अमित प्रकाश : नीतू जी का 15 साल का अनुभव है, अंशु जी का 6 साल का और मेरा (अमित प्रकाश) 10 साल का अनुभव है। और हम सभी विषयों को पढ़ाते हैं।

हृदयकान्त दीवान : क्या आप विज्ञान की कक्षा में भी भाषा के बारे में कुछ बात करते हैं या नहीं। सवाल यह है कि संज्ञान देते हुए अगर आप इस बारे में कुछ करती हैं तो क्या

करती हैं?

अमित प्रकाश : मेरा वर्ग अँग्रेज़ी माध्य म का है। लेकिन बच्चे अभिव्यक्त करने में इतने सक्षम नहीं है, तो पढ़ाना मुझे हिन्दी में ही पड़ता है। हिन्दी में समझाते हुए अनुवाद करना पड़ता है।

हृदयकान्त दीवान : विज्ञान की कक्षा में क्या भाषा का कुछ अभ्यास रहता है?

नीतू पांचाल— भाषा को किसी भी चीज़ से अलग कर ही नहीं सकते। जैसा कि पहले कहा था कि विषयों को एकीकृत करके पढ़ाते हैं, सीखने-सिखाने की समेकित अप्रोच के तहत। मैं सिर्फ़ विज्ञान ही नहीं पढ़ा रही हूँ, उस समय गणित से सम्बन्धित कोई चीज़ आती है या गणित का कोई प्रकरण जुड़ सकता है या भाषा का प्रकरण जुड़ सकता है तो वह भी पढ़ाऊँगी। जैसे मैंने प्रकाश संश्लेषण बताया तो उसका इंग्लिश अर्थ मैं बच्चे को बता सकती हूँ। प्राथमिक स्तर पर यह बहुत अच्छी बात है कि चीज़ों को बाँधा नहीं गया है। जो नीतिगत विषय हम बात कर रहे थे उसमें यह एक छूट भी है कि हम बच्चे को अपने तरीक़े से पढ़ा सकते हैं। अपने ढंग से उसे पाठ्यक्रम की तरफ़ ले जा सकते हैं।

अंशु कुमारी : कक्षा तीसरी, चौथी, पाँचवीं की वर्तमान पाठ्यपुस्तकें भी इस तरह की हैं जैसे, पर्यावरण की पुस्तक के अध्याय में जानकारी ही नहीं बल्कि कविताएँ भी दी गई हैं– 'आलू, मिर्ची, चायजी, कौन कहाँ से आएजी', इसी तरह सब्ज़ियों के नाम कहाँ से आए, देशों के नाम, देशों का भूगोल आदि है। और माध्यम की भी कोई बन्दिश नहीं है, न शिक्षक पर न ही विद्यार्थी पर। सब्ज़ियों के नाम हिन्दी में आए और आप हिन्दी में लिखकर आ गए, आप उन्हें अँग्रेज़ी में लिख दो। तो आप हिन्दी-अँग्रेज़ी दोनों भाषाओं का साथ भी प्रयोग कर सकते हो। मेरा मानना है कि इससे बच्चे को भी सीखने में सहजता रहती है। बच्चे की मातृभाषा के बाद हिन्दी उसकी दूसरी भाषा है तो उससे उसको अँग्रेज़ी सीखने में, और बहुभाषिता प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

नीतू पांचाल : मैं एक बिन्दु और जोड़ना चाहूँगी। सीखने-सिखाने में एक और कारण है– अध्यापकों की ख़ुद की रुचि और ख़ुद के विषय। यह भी एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करते हैं। मेरे विज्ञान की तुलना में सर का विज्ञान बहुत अच्छा है, तो शिक्षक की रुचियाँ बच्चों पर बहुत प्रभाव डालती हैं। मैंने देखा है कि सर के बच्चे विज्ञान में बहुत अच्छे हैं। इसी प्रकार जिस शिक्षक की अँग्रेज़ी बहुत अच्छी होगी उनके बच्चे अँग्रेज़ी में बहुत अच्छे होंगे, जिस टीचर का गणित बहुत अच्छा होगा उनके बच्चे गणित में बहुत अच्छे होंगे, जिसकी हिन्दी बहुत अच्छी होगी उनके बच्चे हिन्दी व्याकरणिक रूप से बहुत अच्छे से लिखेंगे। शिक्षक की रुचि का प्रभाव बच्चों पर पड़ेगा ही।

हृदयकान्त दीवान : आपने कहा था भाषा और विज्ञान में सम्बन्ध है तो आप समझाएँगे कि भाषा और विज्ञान का क्या सम्बन्ध है? एक बात समझ में आनी चाहिए कि किसी भाषा में अगर व्याकरण नहीं है, तो आप जो बोल रहे हैं वह कोई नहीं समझ सकता। हरियाणवी में भी वह सारे नियम हैं जो हिन्दी में हैं। और जिस समय हिन्दी को मैथिली या भोजपुरी के ऊपर प्राथमिकता दी गई, उस समय भोजपुरी और मैथिली बोलने वाले हिन्दी से ज़्यादा थे, उनका साहित्य भी शायद हिन्दी से ज़्यादा समृद्ध था। मैं दो चीज़ें कह रहा हूँ। हिन्दी का व्याकरण लिखा गया और लिपिबद्ध हुआ। व्याकरण तो किसी भी भाषा का बनाया जा सकता है और व्याकरण तो कभी भी बन सकता है, व्याकरण बनाने वाले तो हम ही लोग हैं। बोलते-बोलते नए वाक्य बना लेते हैं और यह सारे वाक्य जो हम बनाते हैं या बना सकते हैं नियमबद्ध हैं। हरियाणवी का व्याकरण तो कब से बन चुका है, लेकिन मैं उन नियमों का उपयोग करना नहीं जानता। अगर मैं हरियाणा में जाकर हरियाणवी बोलने लगूँगा तो लोग मेरा मज़ाक उड़ाने लग जाएँगे। सबको पता

चल जाएगा कि मेरी हरियाणवी का व्याकरण सही नहीं है।

नीतू पांचाल : कुछ चीज़ें समझ पर आधारित भी होती हैं। हमारे देश का संविधान सबसे बड़ा लिखित संविधान है। लेकिन ब्रिटेन का जो संविधान है वह लिखित नहीं है, वह लचीला संविधान है। वहाँ लिखित में नहीं है लेकिन नियम तो वहाँ भी चल रहे हैं। हमारे देश का लिखित संविधान है। लिखित को बदलना आसान नहीं होता है परन्तु लिखित का अनुसरण (follow) करना ज़्यादा आसान होता है। अलिखित की हर कोई अपने तरीक़े से व्या ख्यास कर लेता है। इसलिए व्याकरण बनाने से सुविधा हो जाती है।

हृदयकान्त दीवान : हर भाषा का मौखिक व्याकरण होता है। किसी भी भाषा में परिवर्तन जितना लिखित में मुश्किल है कई पहलुओं में लगभग उतना ही मौखिक में भी मुश्किल है। हरियाणा के अलग-अलग क्षेत्रों में अगर आप जाएँगे जैसे कैथल, करनाल, महेंद्रगढ़, रेबाड़ी तो इन सब जगह की हरियाणवी में भी बहुत फ़र्क़ है।

आदित्य : मैं एक बात और जोड़ना चाहूँगा हिन्दी का प्रभुत्व पिछले 100-150 सालों में ही बढ़ा है। अगर आप ब्रज भाषा को देखेंगे या ब्रजभाषी क्षेत्रों में जाएँगे वहाँ तुलसीदास के ज़माने से यानी सन 1500 से ब्रजभाषा बोली जा रही है, हिन्दी बोलने वाले थे ही नहीं। उर्दू ही दफ़्तरी भाषा हुआ करती थी। हिन्दी तब प्रचलन में आई जब एक ख़ास तरह के राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

नीतू पांचाल : परिवर्तन समाज का नियम है। आज हिन्दी का प्रभुत्व है, आने वाले 100 सालों के बाद पता नहीं किस भाषा का प्रभुत्व होगा। आजकल हिन्दी को बचाने के प्रयास कर रहे हैं। हम कई ऐसी संस्थाओं से जुड़े हैं जहाँ हिन्दी को बचाने के प्रयास किए जा रहे हैं कि हिन्दी कहीं प्राकृत की तरह लुप्त न हो जाए।

हृदयकान्त दीवान : मुझे नहीं लगता हिन्दी लुप्त होगी, क्या आपको लगता है कि हिन्दी लुप्त हो सकती है?

नीतू पांचाल : ऐसा नहीं है। आप दूरदर्शन पर, मीडिया चैनल पर देखिए अँग्रेज़ी भाषा का प्रभाव ज़्यादा आ गया है। 'आज तक' जैसे बड़े चैनल में हिन्दी के वाक्यों में किस तरह की ग़लतियाँ होती हैं, अशुद्धियाँ होती हैं।

हृदयकान्त दीवान : वह शायद हिन्दी के वाक्यों में ग़लतियाँ नहीं हैं, यह तो उनमें हरियाणवी का, पंजाबी का, उड़िया का पुट आ रहा है।

नीतू पांचाल : मैं 'वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियाँ होती हैं' यह कह रही हूँ।

हृदयकान्त दीवान : वर्तनी का मतलब क्या है? यदि आप मध्य प्रदेश में जाएँगी तो वहाँ 'शक्कर' को 'सक्कर' बोल सकते हैं, 'चक्कर' भी बोलते हैं, यदि बोलने में यह फ़र्क़ है तो लिखने में भी यह होगा। अब मात्रा की बात करें तो हम कितनी बार मात्राओं को बोलते समय छोटी को बड़ी और बड़ी को छोटी बोलते हैं? बताइए।

नीतू पांचाल : मैं आपको एक उदाहरण देती हूँ। मैंने कहा कि हम बच्चों को 500 मीटर की दौड़ करवा रहे हैं। एक बच्चे को मैं पहले ही 100 मीटर आगे खड़ा कर रही हूँ और बाक़ी बच्चों को 100 मीटर पीछे खड़ा कर रही हूँ और उनको बोलती हूँ कि अब दौड़िए। अगर आगे खड़ा होने वाला बच्चा जीतता है तो उसने नियम को तोड़ा है। वैसे ही मानक रूप का मतलब ही क्या है कि अगर आपने भाषा के नियमों का अनुसरण नहीं किया।

हृदयकान्त दीवान : इसका मतलब है जो बच्चे 200 मीटर आगे हैं, यानी पहले से ही जो मानक भाषा पढ़ते हैं, मानक भाषा बोलते हैं, मानक भाषा की परिस्थिति में रहते हैं। और उनको आप 200 मीटर आगे खड़ा कर रही है और उन बच्चों को जो पीछे से शुरू कर रहे

हैं जिनकी भाषा में हरियाणवी झलकेगी, पंजाबी झलकेगी, या तो ईस्कूल बनेगा या कूल बनेगा उन बच्चों को आप 200 मीटर पीछे करेंगी?

नीतू पांचाल : अगर हमें किसी चीज़ को सर्वमान्य बनाना है, तो करना ही होगा।

हृदयकान्त दीवान : सर्वमान्य क्यों बनाना है, उन दूसरे बच्चों की भाषा को सर्वमान्य क्यों नहीं बनाना है?

नीतू पांचाल : फिर एकरूप कैसे रहेगा? एकरूपता कैसे आएगी?

हृदयकान्त दीवान : हमने शुरू किया था कि भारत देश की बहुत सारी भाषाएँ हैं और हमें इस पर गर्व करना चाहिए। और हम ही यह बात लेकर आ गए कि हमको तो एकरूपता और एक भाषा चाहिए।

नीतू पांचाल : मैं एक और बात रखना चाहती हूँ। 'आजतक' एक हिन्दी चैनल है।

हृदयकान्त दीवान : नहीं। 'आजतक' एक टेलीविज़न चैनल है। हिन्दी चैनल का क्या अर्थ है यह मैं नहीं समझ रहा हूँ।

अंशु कुमारी : मतलब इस चैनल में जो भी सम्प्रेषण, बातचीत होती है वह हिन्दी में होती है।

रजनी द्विवेदी : आपने ही कहा था कि 'हिन्दी' उर्दू का शब्द है, तो अगर उर्दू में हिन्दी मिल सकती है, हिन्दी में उर्दू मिल सकती है, हिन्दी में अँग्रेज़ी आ सकती है तो हिन्दी में हरियाणवी और राजस्थानी क्यों नहीं आ सकतीं?

नीतू पांचाल : मैं वर्तनी की बात कर रही हूँ।

हृदयकान्त दीवान : वर्तनीगत अशुद्धियाँ मतलब क्या?

रजनी द्विवेदी : आपने 'भीतर' का उदाहरण दिया था। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं, जैसे राजस्थान में बहुत सारे इलाक़े ऐसे हैं जहाँ 'चूहा' की जगह 'सूहा' बोलते हैं, 'शक्कर' की जगह 'सक्कर' बोलते हैं। बच्चा वही बोल रहा है और वही लिख रहा है। 'आजतक' के चैनल देखने वाला बच्चा अगर उसको 'सूहा' लिख रहा है तो क्या समस्या है? अगर वह यह लिखता है कि 'टीचर की हड़ताल हुई' तो हम मान लेंगे कि यह ठीक है। तब हम यह नहीं बोलेंगे कि 'शिक्षक की हड़ताल हुई' ऐसा लिखना चाहिए लेकिन जब बच्चे ने चूहा की जगह सूहा लिख दिया तो गड़बड़ है।

नीतू पांचाल : बोर्ड परीक्षाएँ होती हैं तब अध्यापकों को उत्तर पुस्तिका को जाँचने के लिए एक कुंजी दी जाती है।

हृदयकान्त दीवान : हम 'आजतक' चैनल की बात कर रहे हैं। मैं तो कहूँगा कि बोर्ड परीक्षाओं की कुंजी बदलनी चाहिए।

नीतू पांचाल : नहीं, कुंजी तो एक तरह से सही है। नहीं तो, सब अपने-अपने हिसाब से जाँचेंगे।

हृदयकान्त दीवान : आप अपने विवेक से पढ़ाते हैं, आप अपने विवेक से अंक नहीं दे सकते?

नीतू पांचाल : अगर ऐसा करते हैं तो उस पर प्रश्न उठेंगे।

हृदयकान्त दीवान : क्या दिक़्क़त है अगर प्रश्न उठेंगे? क्या दिक़्क़त है इसमें कि हमें शिक्षक के ऊपर विश्वास करना चाहिए? इनमें क्या समस्या है? हम यह क्यों मानते हैं कि शिक्षक या जाँचने वाले पर हम विश्वास नहीं कर सकते? सिर्फ़ इसलिए कि सिर्फ़ 1% या 2% परिस्थितियों में कभी गड़बड़ होती है। हम उस पूरी की पूरी प्रक्रिया को उठाकर बाहर नहीं फेंक सकते। इसलिए मुझे लगता है कि हम इतना मानकीकरण और एकीकरण में जाएँगे तो कहीं न कहीं हम इंसानी प्रवृत्ति से झगड़ पड़ेंगे।

आदित्य : कहीं न कहीं आप भाषा से ही परिवर्तन के दौर में आ पाएँगे। आप 100 साल पहले के अख़बार उठाएँगे तो जैसे अभी मैंने

हिन्दी के 2 अख़बारों पर रिसर्च की– उदय और प्रताप। वह अपने ज़माने के बहुत बढ़िया अख़बार होते थे। तो उस समय भी जो सन्दर्भ (Context) में हिन्दी के शब्द होते थे, वह उन्हें अख़बारों में उपयोग करते थे। (आप मीडिया की जो बात कर रही हैं न) मीडिया भी उन्हीं शब्दों का उपयोग करता है जिससे वह लोगों से जुड़ पाए। मीडिया का काम कनैक्शन बनाना है, अगर वह एकदम शुद्धिकरण में ऊतारू हो जाएँगे या हिन्दी के शुद्धिकरण का उपयोग करेंगे तो आधे लोग उसे समझेंगे ही नहीं।

अमित प्रकाश : मेरा एक प्रश्न था आपसे। जैसे आपने कहा मैथिली और भोजपुरी कभी बहुतायत में बोली जाने वाली भाषाएँ थीं। आपने ब्रजभाषा का उदाहरण दिया। तो यह हिन्दी की शुरुआत कैसे, कब और कहाँ हुई फिर?

आदित्य : हिन्दी राष्ट्रवाद की जब शुरुआत होती है इसके लिए आप एक किताब पढ़िए। लेखिका हैं, Fracesca Orsini, और किताब है *"लैंग्वेज एंड लिटरेचर इन द एज ऑफ़ नेशनलिज़्म।"*

यह आपको लाइब्रेरी में मिल सकती है या ऑनलाईन भी मिल जाएगी। Francesca orsini स्कूल आफ ओरियंटल एण्ड एशियन स्टडीज़, लंदन यूनिवर्सिटी में पढ़ाती हैं। यह हिन्दी की प्रोफ़ेसर है। वह लंदन की है, यहाँ आकर उन्होंने अख़बारों व अन्य स्रोतों पर शोध किया कि हिन्दी राष्ट्रवाद के ज़रिए कैसे मुख्यधारा में आती है। हिन्दी से एक public consciousness बन रही थी, आप भी हिन्दी बोल रहे हैं, मैं भी बोल रहा हूँ तो बाकी भाषाओं को छोड़कर कहीं न कहीं एक 'सामान्य हित' के रूप में हिन्दी को उठाया गया ताकि सबको जोड़ सकें। आप ब्रज बोल रहे हों, कोई हरियाणवी, कोई मध्य प्रदेश की भाषा बोल रहा है, बोलियाँ (अन्य भाषाओं) को पीछे धकेला गया है। बोलियाँ भी भाषा ही हैं जिनको जगह नहीं मिली, मंच नहीं मिला। जब हम उनको बोली कहते हैं तो कहीं न कहीं देशी साहित्य को हाशिए पर डाल रहे होते हैं।

रजनी द्विवेदी : दूसरा यह भी है कि जैसे जनगणना के आँकड़ों को आप देखेंगे, इस बारे में लोग बहुत बात करते हैं कि एक ज़माने में जो सबसे पहले 1961 में किया गया था उसमे 16824 भाषाएँ थीं। हो सकता है इससे अधिक हों। लेकिन मान लीजिए मेरी मातृभाषा मेवाड़ी है, कोई अगर आता है और पूछता है कि आपकी भाषा क्या है, मातृभाषा क्या है तो लोग इतना नहीं सोचते हैं, वह उसको भाषा ही नहीं समझते हैं और बोल देते हैं हिन्दी है। तो, जो यह भाषाएँ है जैसे कोई हिन्दी भी बोलता है, ब्रज भी बोलता है। जैसे अगर आपके पास ही आएँगे तो आप बोल देंगे हिन्दी है, आप हरियाणवी को दर किनार कर देंगे। ऐसे बहुत से लोग है। तो जब वह आँकड़े भी इकट्ठा करते हैं तो हिन्दी का आउटपुट ज़्यादा होगा। लोग सवाल करते हैं कि आपने क्या सवाल पूछा, किस तरीके से सवाल पूछा। तो इसमें भी यह हो जाता है कि जैसे आप बोलें कि राजस्थान में ज़्यादातर लोग हिन्दी भाषी हैं तो यह ठीक नहीं होगा। क्योंकि शेखावटी में शेखावटी बोलते हैं, मारवाड़ क्षेत्र में मारवाड़ी या मेवाड़ी बोलते हैं, बीकानेर, जोधपुर में हाड़ोती बोलते हैं लेकिन वह सब अपने आप को हिन्दी भाषी कहते हैं। जबकि बोलने वाले वह यह भाषाएँ हैं वहाँ इसके अलावा भी भाषाएँ हैं।

आदित्य : वह अपने आप को जोड़ते हैं, नेशनल डिस्कोर्स का हिस्सा बन जाते हैं कि हिन्दी हमारी राष्ट्रीय भाषा है। भले ही वह शेखावटी में कुछ और, उत्तर प्रदेश में कुछ और, हरियाणा में कुछ और बोलेंगे।

रजनी द्विवेदी : अभय कुमार दुबे की भी एक किताब आई है, हिन्दी में। हम इसे भी पढ़ने से पूरे मसले को समझने में मदद मिलेगी।

नीतू पांचाल : मेरी एक जिज्ञासा है। अभी बात चल रही है कि कुछ न कुछ तो नियम निर्धारित करने पड़ेंगे ताकि झगड़े ना हों। मान लीजिए कि आप सड़क पर जा रहे हैं, ट्रैफिक भी है। हमें यह बताया गया कि हमने कुछ नियम

बना लिए, वह भी सर्वसम्मति से, अपने किसी एक की मर्ज़ी से शायद नहीं। अगर लाल बत्ती है तो हमें रुकना है। अगर मैं मान लूँ कि मेरा नियम तो अलग है, मुझे लाल बत्ती पर जाना है। और बाक़ी सबने तो वही नियम का पालन किया। तो अगर इस तरह से हर एक व्यक्ति अपने लिए अलग-अलग नियम बनाएगा तो हम किस तरह से चीज़ों को सम्भा ल पाएँगे। हमें कुछ तो नियम बनाने ही पड़ेंगे। जैसे पेपर चेक करने वाली बात हो रही थी कि वह कुंजी भी शायद इसलिए दी जाती है कि उसके ऊपर विवाद न हो। मान लीजिए कि एक बच्चे ने कह दिया कि मैंने तो यह लिखा था तो हम कैसे निर्धारित करेंगे?

आदित्य : हम रुल्स को भी सर्वव्यापी नहीं बना सकते। जो ट्रैफिक नियम के लिए थी वह अवधारणा भाषा के लिए नहीं प्रयोग हो सकती। वह अलग चीज़ है।

अंशु कुमारी : बोर्ड परीक्षाओं में कुंजी भी जो दी जाती है वह सिर्फ़ आपको आउटलाइन दे दी जाती है कि यह बिन्दु हैं जिन्हें व आपको वरीयता देनी है लेकिन उनके अलावा भी टीचर के रूप में आपको स्वतन्त्रता होती है कि बच्चे ने जो अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु लिखे हैं और वह आपकी जानकारी में है, कुंजी में वह नहीं दिया है, आपको भी अगर पता है उसके बारे में तो आप उसपर विचार कर सकते हैं या आपसे ऊपर विभागाध्यक्ष हैं उनसे पुष्टि कर सकते हैं।

नीतू पांचाल : लेकिन शिक्षक ही भ्रमित होते हैं।

रजनी द्विवेदी : यह जो कुंजी देना है मुझे लगता है कि यह आपके आत्मविश्वास को पूरी तरह से तोड़ते हैं। आपको अपने बच्चों के ऊपर विश्वास है और बच्चे ने क्या जवाब दिया वह आप सबसे बेहतर जान सकते हैं।

अमित प्रकाश : बिल्कुल तोड़ रहे हैं। शिक्षक पर भरोसा नहीं है। एक अध्यापक पूरे साल पढ़ा रहा है उस पर आपको भरोसा नहीं है कि वह पेपर ठीक से जाँच पाएगा या नहीं। उसको बाहर से कुंजी दी जा रही है।

नीतू पांचाल : यह समझना पड़ेगा हम लोगों को कि मुझे अपने बच्चों के ऊपर भरोसा है और उसको पढ़कर अगर मुझे लग रहा है कि उसने कुछ सीखा है तो मैं उसको नम्बर दूँगी। लेकिन हम अपने ही बच्चे का पेपर वहाँ पर चेक नहीं कर रहे होते हैं, और भी बच्चों के पेपर होते हैं।

मान लीजिए कि बच्चे को किसी प्रश्न का उत्तर एक शब्द में देना है और बच्चे ने वहाँ पर कोई वर्तनी सम्बन्धी ग़लती कर दी तो टीचर कैसे तय करेगा कि मुझे इसको यहाँ नम्बर देने हैं या नहीं देने हैं।

हृदयकान्त दीवान : देखिए, पर्चे का प्रकार भी एक समस्या है। वहीं से यह समस्या शुरू होती है क्योंकि किस तरह से जाँचा जाना है और किस प्रक्रिया से जाँचा जाना है यह भी उसी से तय हो जाता है। हम लोग जब पढ़ते थे तो इस तरह के पर्चे नहीं आते थे। हमसे निबन्ध लिखवाए जाते थे और हमने तोड़ भी निकाल लिया कि हम रटकर चले जाते थे। पर, अगर हर बार नए निबन्ध पूछें तो फ़ायदा होगा। जैसे भाषा को इस संवाद में समझा है, कि रचनात्मकता, सृजन, पढ़ना सीखना, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता इन सबको ध्यान में रखते हुए भाषा पढ़ाई थोड़ी जाती है। यदि आप ऐसा करवाते हैं तो बच्चे को इसका फ़ायदा होगा। लेकिन फिर यह सभी जगह होना चाहिए। और हमारे तंत्र का भी हिस्सा बनाना चाहिए।

नीतू पांचाल : कहा तो सभी को जाता है लेकिन कहीं न कहीं व्यक्तिगत चीज़ें हावी हो जाती हैं। अध्यापकों के लिए भी जो नियम होते हैं वह सभी के लिए होते हैं। लेकिन जो ख़ुद के विचार हैं, सही और ग़लत की ख़ुद की परिभाषाएँ हैं वह तो कहीं न कहीं वहाँ पर लागू हो जाती हैं।

आदित्य : वस्तुपरकता आना थोड़ा-सा

मुश्किल है। एक जैसे नियम सभी जगह लागू नहीं हो सकते।

नीतू पांचाल : मैं अभी हिन्दी के कई मंचों से जुड़ी हूँ। वहाँ के जो टीचर्स थे वह पेपर चेक करके आए। इन टीचर्स को यहाँ एक वाक्य दे दिया था और उनसे पूछा गया कि कौन-सा समास है। अब वहाँ पर 2 समास के नियम लागू हो रहे हैं और टीचर्स भी यही कहेंगे कि दोनों में से कोई भी ठीक हो सकता है। वहाँ पर कई बार टीचर्स भी उलझन में आ जाते हैं कि यहाँ पर मैं किसका समर्थन करूँ।

ह्रदयकान्त दीवान : जो टीचर्स को ही नहीं आता तो वह बच्चे से पूछने का मतलब क्या है?

नीतू पांचाल : प्रश्न बनाने वाला कोई और है, उत्तर चेक करने वाला कोई और है।

अंशु कुमारी : उत्तर चेक करने वाले के ऊपर भी विभागाध्यक्ष होते हैं उनसे पुष्टि करो। अगर नहीं हैं तो वह उसका सामान्यीकरण कर देते हैं कि या तो सबको उसके अंक नहीं मिलेंगे या फिर सबको समान मिलेंगे।

नीतू पांचाल : लेकिन यह प्रक्रिया कितनी लम्बी हो जाएगी। मैं इतने सारे लोगों से जाकर पूछूँगी।

अंशु कुमारी : यह व्यवस्थित प्रक्रिया होती है, आप अकेले नहीं होते, कम से कम 20-25 टीचर्स होते है, उनसे ऊपर विभागाध्यक्ष होते हैं, उनसे ऊपर भी होते हैं। और पेपर चेक करने की यह प्रक्रिया एक सप्ताह, 10 दिन तक लगातार चलती है। इस तरह के प्रश्नों पर, जहाँ संशय की स्थिति है, चर्चा कर सकते हैं। और ऐसे प्रश्न फिर समझ से लिखे भी जा सकते हैं और जब आगे भविष्य में पेपर बनाए जाते हैं तब उसमें इन चीज़ों को ध्यान रखा जाए।

नीतू पांचाल : कुछ असन्तुष्ट टीचर ही होते होंगे न जो 20-25 टीचर्स से चर्चा करने के बाद भी ग्रुप में उस चीज़ को डाल रहे हैं कि मैं उलझन में हूँ। कुछ न कुछ तो असन्तुष्टि रही होगी न टीचर की कि पूछने के बाद भी वह आकर साझा कर रहा है कि इसका क्या सही जवाब होना चाहिए।

ह्रदयकान्त दीवान : दिक़्क़त असन्तुष्टि से नहीं है, दिक़्क़त है एक ही सही जवाब होने से। कई परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें एक से अधिक जवाब हो सकते हैं। देखना पड़ेगा कि क्या स्थितियाँ हैं और क्यों? इस जवाब को सही माने और क्यों एक दूसरे जवाब को भी। क्या तर्क दिए गए हैं। मुश्किल यही है कि इंसानी प्रवृत्ति जो एकरूपता की नहीं है उसके बावजूद हम एकरूपता की ओर ही जाना चाहते हैं।

सारांश : संवाद से ज़ाहिर होता है कि भाषा का मसला जो कि आमतौर पर सरल माना जाता है और बाक़ी सब विषयों की तुलना में कम उलझा हुआ समझा जाता है, असल में कितना जटिल है। भाषा और भाषा सीखने-सिखाने के क्या-क्या पहलू हैं जो भाषा की कक्षा को प्रभावित करते हैं। इन मसलों पर केन्द्रित इस बातचीत में मातृभाषा किसे कहें, मातृभाषा और मानक भाषा में कैसे समन्वय हो, भाषा की पाठ्यपुस्तकें कैसी हों, प्राथमिक कक्षाओं में क्या हो, उच्च प्राथमिक कक्षाओं में भाषा शिक्षण में क्या हो, भाषा और बोली की समझ व टकराहट का मामला, भाषा का विकास और भाषा में बदलाव, भाषाओं का मेल, आकलन की प्रक्रिया, शिक्षकों पर विश्वास आदि कई मसले उभरकर सामने आए। इन मसलों में ऐसे कई बिन्दु थे जिनसे हम एक स्तर पर सहमत होते हैं लेकिन उनको व्यवहार में लाने की जब बात होती है या थोड़ी गहराई से उन पर विचार-विमर्श होता है तब एक विरोधाभास लगता है। यह विरोधाभास मातृभाषा में सीखने-सिखाने की बात हो, या भाषाओं के मानकीकरण की, भाषाओं के दर्जे की या कोई और सभी में दिखता है।

मातृभाषा में शिक्षण की बात से सभी सहमत थे, उसे बच्चे की अस्मिता, व्यक्तित्व का हिस्सा भी मानते हैं, लेकिन कक्षा शिक्षण में मातृभाषा

की बात करें तो वह सिर्फ़ एक साधन है, टूल है मानक भाषा की ओर ले जाने का, एक सर्विस लेन है मुख्य सड़क पर आने के लिए... ऐसा भी नहीं है कि इन मुद्दों को व्यक्तिगत तौर पर महसूस नहीं किया जाता। संवादकर्ताओं ने यह भी कई जगहों पर अभिव्यक्त किया कि वह सभी अपनी मातृभाषाओं से प्यार करते हैं, अपने लोगों के बीच उसी भाषा में बात करना चाहते हैं, अपनी भाषा को एक ख़ास दर्जा देते हैं, और चाहते हैं कि वह भी अन्य भाषाओं के समान ही मानी जाए लेकिन वही (हम) नहीं चाहते कि स्कूल में, कक्षा में बच्चे अपनी मातृभाषा का प्रयोग करे।

सवाल यह भी है कि मातृभाषा में शिक्षण का मतलब क्या है? क्योंकि एक स्तर पर जाने के बाद तो उसे मानक भाषा ही पढ़नी है। और उन बहुत से बच्चों के सन्दर्भ में यह कहना जायज़ भी है क्योंकि आज भी ऐसी कई मातृभाषाएँ हैं जिनमे सीखने-सिखाने की सामग्री ही उपलब्ध नहीं है।

यह भी माना गया कि भाषाएँ एक-दूसरे से शब्दों को लेती हैं, और इस तरह समृद्ध भी होती हैं लेकिन फिर वही कि कक्षा में बच्चे ऐसा नहीं कर सकते। बहुत से सवाल भी उभरे; भाषा कैसे विकसित होती है, भाषा कैसे बदलती है, हिन्दी पहले आई या अवधि या ब्रज या भोजपुरी। कुछ सवालों के जवाब हैं कुछ ऐसे हैं जिनके जवाब हमारे पास भी नहीं हैं। लेकिन यह ज़रूर है कि सभी मसले भाषा पर विमर्श और भाषा में विमर्श की माँग करते हैं।

मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन फॉर डेवलपमेंट के लिए अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, प्लॉट नं. 321-322, ई-8, अरेरा कालोनी, पंजाब नेशनल बैंक के पीछे, फॉर्च्यून प्राईड सोसाइटी के पास, त्रिलंगा, भोपाल, मध्यप्रदेश 462039 की ओर से प्रकाशित एवं गणेश ग्राफ़िक्स, 26-बी, देशबंधु परिसर, प्रेस काम्प्लेक्स, एम.पी. नगर, जोन-1 भोपाल द्वारा मुद्रित।
सम्पादक : गुरबचन सिंह

लेखकों से आग्रह

हमने पत्रिका के पहले अंक के लिए आलेख आमन्त्रित करते हुए सभी को पत्र लिखे थे और लेखों की प्रकृति व स्वरूप के लिए कुछ आधार भी दिए थे। इसके अलावा कुछ आधार आपको पहले और इस दूसरे अंक के लेखों को पढ़ने से मिल जाएँगे। आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी भी मसले पर अपने अनुभव, अध्ययन व विश्लेषण के आधार पर लिख सकते हैं। उम्मीद करते हैं कि आप जो भी लेख भेजेंगे वह ठोस आधारों पर होंगे और यदि लेख में दिए गए किसी विवरण, चर्चा अथवा व्याख्या से सम्बन्धित किसी तर्क अथवा प्रमाण के लिए किसी पुस्तक, जरनल या वेब स्रोत से कोई सामग्री ली गई हो तो उसका उल्लेख ज़रूर करेंगे। आप जो भी सामग्री लें उससे लेख को अर्थपूर्ण, तार्किक और गुणवत्तापूर्ण बनाने में मदद मिले।

पत्रिका में लोगों के अनुभव भी लिए जाएँगे। इसमें कक्षा व स्कूल में विषय सीखने–सिखाने के अनुभव, छात्रों द्वारा किसी अवधारणा विशेष को सीखने की प्रक्रिया, उनके साथ की जाने वाली गतिविधियों के अनुभव, पाठ्यपुस्तक पढ़ाने के अनुभव और उनका विश्लेषण, बच्चों के साथ खेलने, चित्रकारी करने, बालसभा, मध्याह्न भोजन इत्यादि के अनुभव भी हो सकते हैं। साथ ही छात्र–अध्यापक सम्बन्ध, कक्षा में बातचीत, अनुशासन व अन्य ऐसे कोई भी विषय हो सकते हैं। आशा करते हैं कि ये अनुभव ठोस एवं यथार्थपरक होंगे। उसमें कुछ ऐसा ज़रूर हो जो पाठक को रुचिपूर्ण व सार्थक लगे।

इसके अलावा आप किसी पुस्तक, फिल्म अथवा अन्य शिक्षण सामग्री के बारे में भी लिख सकते हैं, मसलन उनका परिचय, समीक्षा अथवा विश्लेषण। इसके लिए आप शिक्षा व समाज से सम्बन्धित कोई ऐसी पुस्तक ले सकते हैं जो आपको उल्लेखनीय लगे। आप चाहें तो परिचय अथवा विश्लेषण के लिए एक ही क्षेत्र की दो–तीन पुस्तकों अथवा फिल्म को एक साथ ले सकते हैं।

लेखकों को अपने लेखन के सन्दर्भ में किसी भी तरह के सहयोग की आवश्यकता महसूस होती है तो वे इसके लिए सम्पर्क कर सकते हैं। उन्हें इस सन्दर्भ में सम्पादक मण्डल के सदस्यों द्वारा आवश्यक सहयोग और सुझाव दिए जाएँगे।

हम आशा करते हैं कि **पाठशाला भीतर और बाहर** का यह दूसरा अंक आपको अच्छा लगेगा और आप इसके अगले अंकों के लिए ज़रूर लिखेंगे। पत्रिका के इस अंक पर आपकी टिप्पणियों व सुझावों का हमें इन्तज़ार रहेगा।

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की अन्य पत्रिकाएँ